श्रीमत्कल्याण ग्रन्थावली



श्रीमत्कल्याणरायविरचित-साहित्यसंग्रहः



प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड्, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र. ४१६००८.

संपादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशनवर्ष : श्रीवल्लभाचार्यप्रकटचोत्सव वि.सं.२०८३,
श्रीवल्लभाब्द ५४८

प्रति : ३००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस प्रा.ली.,
गोंडल रोड,
राजकोट.

E-book available on: www.Pushtimarg.net
Also on App: Pushtividya

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

ष. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
     तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
   - खंड ९.राजससाधन-फलप्रकरण
   - खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
   - खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम्[गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवाद :, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रवज्ञप्तयः.

२२. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२३. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२४. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) २५. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)

२६. विवेक (हिन्दी-गुजराती) २७. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)

२८. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) २९. नवरत्नम् (गुजराती)

३०. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)

३१. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती) ३२. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)

३३. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती) ३४. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३५. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी) ३६. चतुःश्लोकी(हिन्दी)

३७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)३८. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)

३९. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)

४०. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय) ४१. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)

४२. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज) ४३. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य

४४. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)

४५. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

४६. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)

४७. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४८. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४९. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५०. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५२. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५३. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५४. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५५. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५६. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५७. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५८. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
५९. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६०. अमृतका आचमन
६१. कृष्णएव तात्पर्यम्
६२. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६३. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६४. षोडशग्रन्थ परिचय
६५. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)
६६. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६७. सिद्धान्तवचनावली
६८. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
६९. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७०. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७१. आत्मकथा:श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी
७२. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा(लघुनाटक)
७३. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७४. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७५. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७६. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७७. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७८. भक्तिरस
७९. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति:राणाव्यास
८०. सुबोधिन्या (प्रथम-द्वितीय-तृतीय स्कन्ध)
८१. ख्यातिवाद
८२. अणुभाष्यसंक्षिप्तानुक्रमणिकाविवेचनम् (हिन्दी,अंग्रेजी)
८३. सैद्धान्तिकतात्पर्यम्
८४. वेदस्तुति
८५. श्रीव्रजराज ग्रंथावली
८६. मेरी कहानियां
८७. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, ८०३, एकमे एजन्सी, सोनी मोनी शोरूमके उपर, एस.वी.रोड, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६. मो.९८२०६ १५४३४ email : paresh.shah363@gmail.com

विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे :
पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती) १० प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी) निःशुल्क पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज) २०
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)१० पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) २० प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ५०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा अप्राप्य साधनाप्रणाली संगोष्ठी अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा दुर्लभ पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी ५० सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी ५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध १०० जघन्याधिकार विचारगोष्ठी ८०
पुष्टिफलमीमांसा १००
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २०० अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २०० प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी) २० पुष्टिपाठावली (गुजराती) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
अमृत वचनावली (गुजराती) नि :शुल्क अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय १००
पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका १५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :**

आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें



पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।



प्राक्कथन

श्रीमत्कल्याणरायविरचित-साहित्यसंग्रहः

हौं व्रज माँगनो जु व्रज तज अनत न जाऊं!

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके द्वितीयात्मज श्रीगोविन्दरायजीके पुत्र श्रीकल्याणरायजी (जन्म वि.सं.१६२५ मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी द्रष्ट.श्रीवल्ल.वं.वृ.द्वितीय/१गृह) प्रस्तुत साहित्यसंग्रहान्तर्गत ग्रन्थोंके कर्ता हैं. ये श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके प्रथम पौत्र हैं. इनके अनुज क्रमशः श्रीगोकुलोत्सवजी श्रीकृष्णरायजी तथा श्रीलक्ष्मीनृसिंहजी नामक हुवे. इन्हीं श्रीकल्याणरायजीके ज्येष्ठात्मज महानुभाव श्रीहरिरायजी श्रीगोपेश्वरजी तथा श्रीविट्ठलेशजी हुवे. इनके दीक्षागुरु प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथजी) माने जाते हैं.

१२० वचनामृतकार कांकरोलीवाले श्रीगिरिधरलालजीने इनका बाल्यकालीन इतिवृत्त अतीव भावपूर्ण आलेखित किया है :

> जो श्रीगुसांईजीके काकाजी केशवपुरी श्रीगोकुल आये. आपसों मिलवेकुं तथा एकाद लालजीकों अपने आश्रममें ले जावेके विचारसों. सो श्रीगोकुलजीमें आये, बाहार डेरा करे. सो गुसांईजी अपने पितृव्य जानिके मिलवेकुं पुत्रपौत्रादिक संग लेके पधारे. सो डेरापें गये सो आश्वासना करी और आपने आज्ञा करी जो आप हमारे बड़े हो तासों आपकुं भिक्षाको निमंत्रण है.

सो आप हमारे घर पधारो. फेरी इनने कही जो आपकुं मिलवेकुं आयो हुं और एक कार्य ओर है सो तुम सिद्ध करो तो भिक्षाकुं आउं. तब आप अंतर्यामी सो पहेलेइ जानि गये हते परन्तु लौकिकके लिये पूछो कहा कार्य है? तब इनने कही जो तुम्हारे पुत्रपौत्रनमेंते एकाद हमको देउ जो मेरो आश्रम अवेरे और मेरी सत्ताकुं चलावे. तुम हमारे भ्रातृव्य हो तासों तुम्हारे ऊपर हमारो जोर है. थोड़ी सी बिरियां तो आप चुप रहे फेरी कही के ठीक है. ए इतने हैं सो सब आपकेइ हैं. सो जाके कछु न होयगो सो आपके संग आवेगो. सो घरमें पूछीके सलाह करीके सवेरे आप भिक्षाकुं आवोगे तब जवाब देउंगो. यों कहेके घर पधारे.

फेरी सब बालकनकुं बुलाये और कही जो काकाजीने आज्ञा करी सो तुम सबनने सुनी. तब सबनने विनंती करी जो जै-जै! जे सुनी तो है. हम सब आपकी आज्ञामें हैं. फेरी श्रीबालकृष्णजी बोले जो जाको कछु न होयगो सो संग जावेगो. सो आपने कृपा करी है हम सातनकुं तो निधि पधराय दीनी है. सो आपकी कानीसों हम सेवा हु करे हैं. और जाके कछु न होयगो सो जाय. तब आप मुसकायके पौढ़े.

ए बात होती बिरियां श्रीगोविन्दरायजीके बड़े

लालजी श्रीकल्याणरायजी छोटी अवस्थामें हते सो पास बेठे हते सो सुनीके के बहोत चिन्तातुर भये. नींद न आई जो मती तातजी मोकुँ न दें-दें. या सोचके मारे आखी रात्री नींद न आई. फेरी जब प्रातःकाल भयो तब श्रीगुसांईजी श्रीनवनीतप्रियाजीकों राजभोग धरी कुटुंब-सहित बिराजे. तब श्रीगिरिधरजीकुं आज्ञा करी जो काकाजीकुँ पधराय लाउ जो राजभोगको दर्शन करेंगे और प्रसाद हु लेइंगे. तब श्रीगिरिधरजी केशवपुरीजीकों बुलायवेकुँ पधारे. ता पीछे श्रीकल्याणरायजी दोउ हस्त जोड़ीके गद्‌गद् कंठ होय विनंती करीवे लगे. सो ढाढ़ीको पद गाये. सो या पदमें आपके अन्तःकरणको हार्द सब निवेदन करी दीनो. सो पद :

(राग धन्याश्री)

हौं व्रज माँगनों जु व्रज तज अनत न जाऊँ।
बड़ड़े भूपति भूतल महियाँ दाता सूर सुजान।
कर न पसारौं सीस न नाऊँ या व्रजके अभिमान॥
सुरपति नरपति नागलोकपति मेरे रंक समान।
भाँति-भाँति मेरी आशा पूरी या व्रजके जिजमान॥
मैं व्रत करि कुलदेव मनाये अपनी घरनी संयूत।
दियो है बिधाता सब सुखदाता गोकुलपतिके पूत॥
हों अपनों मन भायो लेहौं कित बौरावत बात।
ओरनूकौं धन घन ज्यों बरसत मोहि देखि हँसी जात॥
अष्टसिद्धि नवनिधि मेरे मंदिर तुव प्रताप व्रजईश।

कहेत 'कल्याण' मुकुंद तात करकमल धरो मम शीश ॥

...फेरी केशवपुरीजी आये दर्शन करे. फेरी भिक्षा करी. फेरी पूछ्यो जो काल मैंने कही हती ताको कहा उत्तर है? तब आपने कही जो सब हाजर हैं जो आवे ताको ले जाओ. तब सब बोलि उठे जो हम तो कोऊ जायवेवारे नहीं हैं. तब केशवपुरीजी बोहोत रीस होयके... दक्षिण गये सो रामकृष्ण भट्टजीके वंशमें ते बालक लेके चेला करे.

(श्रीगिरि.१२० वचना.१३)

इतना भावव्यञ्जक सरस पदोंके योजनवाला पद इनके प्रतिभावान् भगवदीय बालकवि होनेका प्रमाण है. अतएव यहाँ इस संकलनमें इनकी संस्कृतभाषाकी अन्यान्य कृतियोंके साथ-साथ व्रजभाषाके भी यथोपलब्ध पदोंको संकलित किया गया है.

इनके ही ज्येष्ठ पुत्र महानुभाव श्रीहरिरायजी हुवे. लोकोपभोग्य विपुल ग्रन्थोंके निर्माता अनेकभाषाविद् होनेके साथ दीर्घतम आयुष्यवशात् इनका व्याख्यात्मक उपदेशात्मक भगवद्गुणगानात्मक भक्तिभावात्मक तथा इतिवृत्तात्मक साहित्य इतना विपुल है कि जितना अन्य किसीका भी नहीं.

इनके साहित्यकी विपुलताका दुर्लाभ लेनेवाले स्वमार्गीय प्रामाणिक सिद्धान्त और इतिवृत्त के छद्मद्वेषी जनोंने बहुत कुछ अप्रामाणिक ग्रन्थोंको भी इनके मिथ्यानामके साथ जोड़ कर भरमार प्रकट

किया हुवा मिलता है. इस कारण इनकी प्रामाणिक कृति और अप्रामाणिक कृति का पृथक्करण बहुधा दुर्घट बन जाता है. और भूलेचूके पृथक्करणका कभी प्रयास किये जानेपर कई किंवदन्तीजीवी भ्रान्तिनिरत लोगोंकी भावना आहत भी हो जाती है!

इसका प्रमाण पुष्टिसम्प्रदायके आजसे डेढ़-सौ वर्ष पहले हुवे पञ्चमगृहके श्रीगोविन्द प्रभुके 'उपदेशसुधा' नामक ग्रन्थमें सुस्पष्टतया देखा जा सकता है :

> **''स्वाचार्यैः श्रीविट्ठलेशैः तथा श्रीपुरुषोत्तमैः कृतान् श्रीहरिरायाद्यैः ग्रन्थान् श्रीद्वारकेश्वरैः संस्कृतान् प्राकृतान् पश्येत्... तदनुसारेण विचारेण सुचारुणा... मूलग्रन्था-ऽविरुद्धोंऽश भाषाग्रन्थेषु दृश्यते मान्यो न अन्यो हि ज्ञेयो असौ धूर्तकल्पितः''.**
>
> (उ.सु.१६१-१६४)

इसी तरह वि.सं.१९४१में प्रकाशित 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागर'के आद्य संस्करणमें भी इन्हीं गोविन्दप्रभुके आत्मज श्रीदेवकीनन्दनजी(कामां) का भी ग्रन्थसम्पादक श्रीगोवर्धनदास लक्ष्मीदासद्वारा उद्धृत एक विधान नितान्त अवधेय है :

> **''केवल प्राकृत ग्रन्थन्के ऊपर अवलम्बन न करनो. कारण मैंने प्रथम-प्रथम चौरासी वैष्णव और दोसौ बावन वैष्णवन् की वार्ता छपवायवेको विचार कर गोस्वामिवर्य आचार्यकी सम्मति पूछी. तब उनने आज्ञा करी जो प्रथम तो यह वार्ता ठीक**

हती परंतु पाछेते लेखकनने अपनी लिखाईके लोभसूं मनमें आवे तेसे गपोड़ा लिख-लिख पुस्तक बढ़ाये ग्रन्थ बड़े-बड़े कर केवल द्रव्य उपजायवेके साधन कर दिये हैं. तद्वत् जैसे उन गपोड़ान्को भरोसो राख्यो नहीं जाय... और टीकाकार अपनो ही टट्टु चलावे हैं सो ग्रन्थको रूपान्तर होय एकको दूसरो सिद्धान्त होय जावे. ताते संस्कृत पढ़नो ही ठीक है''.

(बृ.स्तो.स.सा.आद्यसंस्करणकी भूमिका पृ.१९)

इसपर तत्कालीन श्रीदेवकीनन्दनजी(कामां), श्रीजीवनलालजी(-काशी), श्रीजीवनेशाचार्य(पोरबन्दर), श्रीविट्ठलेशजी(पोरबन्दर), श्रीघन-श्यामलालजी(मुंबई), श्रीनन्दकुमारशास्त्री(नाथद्वारा), श्रीगट्टुलालाजी(जु-नागढ़-मुंबई) आदिके सम्मतिद्योतक हस्ताक्षर भी उपलब्ध होते हैं!

सौभाग्यवश यह दुविधा महानुभाव श्रीहरिरायजीके जनक श्रीकल्याणरायजीद्वारा निर्मित साहित्यके बारेमें दृष्टिगोचर नहीं होती. कहीं कुछ समान नामोंके कारण कुछ पदोंके रचयिताओंके निर्धारणमें कठिनाई होती है वह कथा भिन्न है.

वर्तमान कालमें हम पुष्टिमार्गियोंके दुर्दैववशात् व्रजकी सभी लीलास्थली, स्वयं श्रीव्रजाधिप; और, उनकी लीलात्मिका सेवाके अन्तर्गत उत्सव-मनोरथों आदि सभी बातोंके व्यवसायीकरणका भयंकर निर्लज्ज नग्नताण्डव चल रहा है. उस प्रदर्शनके शोखने व्रजभावभावनाको उद्ध्वस्त कर रखा है. इस धर्मसंकटके नाटकमें प्रमुख अभिनेता

केवल स्वयं वल्लभवंशज ही नहीं प्रत्युत वाल्लभ सम्प्रदायकी अनुगामिजनता और हमारेद्वारा दुरनुप्रेरित अन्यान्य अनेक लोग वाल्लभ सम्प्रदायविनाश यज्ञमें पुरोहित-यजमान और दर्शनपुण्या(पापा)र्थी बन कर जुटे हुवे हैं. अतः "हौं व्रज माँगनो जु" पदके गायक श्रीकल्याणरायजीके मनोभावोंके साथ समवेदना भी व्रजयात्राके व्याजसे अपनी संततिके विवाहादिके व्यय ऐंठनेवाले अवश्य दिखायेंगे. श्रीकल्याणरायजी, परन्तु, ऐसे किसी दुराशयसे—

"बड़ड़े भूपति भूतल महियाँ दाता सूर सुजान।
कर न पसारौं सीस न नाऊँ या व्रजके अभिमान॥
सुरपति नरपति नागलोकपति मेरे रंक समान।
भाँति-भाँति मेरी आशा पूरी या व्रजके जिजमान॥
मैं व्रत करि कुलदेव मनाये अपनी घरनी संयूत।
दियो है बिधाता सब सुखदाता गोकुलपतिके पूत॥
हों अपनों मन भायो लेहौं कित बौरावत बात।"

व्रजभावका स्वाभिमान नहीं प्रकट कर रहे हैं. आधुनिक कालकी यह कथा और है कि वह तो आज हम वाल्लभोंके लिये निःसन्देह एक दुःस्वप्नके समान ही प्रतीत होता है!

यही कारण है कि श्रीकल्याणरायजीके साहित्यका संकलन इस ग्रन्थमें प्रकट किया जाये, ऐसा मनोरथ मेरे सहयोगी प्रिय असित ज. शाहके हृदयमें अंकुरित हुवा. सो समुचित परिश्रम ले कर यह संकलन अब प्रकट होने जा रहा है. एतदर्थ संकलनकर्ता भूरिशः अभिनन्दनार्ह है. व्रजभाषापदोंका संकलन तथा ग्रन्थकारका प्राचीन चित्र समादरणीय गोस्वामी श्रीव्रजोत्सवजी(इन्दौर)के अतीव

औदार्यद्वारा श्रीअंशु गोपालदास शाहने प्राप्त किया है.

प्रस्तुत संकलनमें संग्रहीत, प्रायः मुद्रितपूर्व कृतियोंका विवरण :

(क) षोडशग्रन्थटीकाः —

१. सिद्धान्तमुक्तावली

(वर्ष : वि.सं.१९७९, सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया, प्रका.श्रीरामदास रणछोडदास ठाकरसी)

२. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः

(वर्ष : वि.सं.१९८१, सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया प्रका.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया).

३. सिद्धान्तरहस्यम्

(वर्ष : वि.सं.१९८०, सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया प्रका.श्रीभाईलाल पुरुषोत्तमदास).

४. कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

(वर्ष : वि.सं.१९८३, सम्पा.श्रीहरिशंकर शास्त्रीजी प्रका.- श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टिसिद्धान्त कार्यालय).

५. भक्तिवर्धिनी

(वर्ष : वि.सं१९७७, सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया प्रका.गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराज).

६. जलभेदः

(वर्ष : वि.सं.१९७६, सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया प्रका. गो.श्रीजीवनलालजी महाराज पोरबन्दर).

७. सेवाफलम्

(वर्ष : वि.सं.१९७२ सम्पा.श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलिया प्रका.गोस्वामी श्रीजीवनलालजी महाराज पोरबन्दर).

(ख) तत्त्वार्थदीपनिबन्धटिप्पणी —

१. शास्त्रार्थप्रकरणम्

(मुद्रितप्रति प्रका.वर्ष : वि.सं.१९९९, सम्पा.श्रीहरिशंकर ओंकार शास्त्रीजी प्रका.जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट मुंबई. हस्तलिखित प्रति [क]एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता [ख]श्रीगट्टुलालाजी ग्रन्थालय, मुंबई).

२. सर्वनिर्णयप्रकरणम्

(मुद्रितप्रति वर्ष : वि.सं.१९९९, सम्पा.श्रीहरिशंकर ओंकार शास्त्रीजी प्रका.जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट मुंबई हस्तलिखित [क]एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, [ख]श्रीगट्टुलालाजी ग्रन्थालय, मुंबई).

३. भागवतार्थप्रकरणे तृतीयस्कन्धः

(मुद्रितप्रति वर्ष : वि.सं.१९९१, सम्पा.श्रीहरिशंकर ओंकार शास्त्रीजी प्रका.जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट मुंबई. हस्तलिखित [क]श्रीगट्टुलालाजी ग्रन्थालय, मुंबई).

(ग) कतिपयोत्सवतिथिनिर्णयग्रन्थाः

उत्सवनिर्णयग्रन्थसमुच्चयः प्रका.वर्ष वि.सं.२००५, सम्पा.श्रीचिमनलाल शास्त्री, प्रका.श्रीबालकृष्णशुद्धाद्वैत महासभा सुरत).

(घ) कीर्तनसंग्रहः
(संग्रहकार : श्रीकृष्णदास 'बच्चुभाई' झवेरी, प्रका.वर्ष : - वि.सं.२०४६ प्रका.सेठ नारायणदास तथा जेठानंद आसनमल ट्रस्ट मुंबई).

अभी-अभी गोस्वामी श्रीमन्दारबावाके औदार्य एवं सौजन्य वशात् श्रीद्वारकेशजी(घन्नुजी)के आत्मज ३२ वचनामृत तथा द्वारकाके छप्पनभोग के धौलके कर्ता श्रीगोपिकालंकारजी, मट्ठुजी (वि.सं.१८७९ - वल्लभवंशवृक्षः प्रथम/२)के दीनता-आश्रयके पदकी एक प्रकाशित पुस्तिका प्राप्त हुयी. इनके लघुभ्राता १२० वचनामृतवाले श्रीगिरिधरजी इनका ऐतिह्य ''और गोस्वामी श्रीदादा गोपिकालंकारजी उपनाम मट्ठुलालजी सो दादाजीके अष्टोत्तरशतनाम प्रकट किये ताकी टीकाकी आज्ञा हमकुँ भई हे सो यथावकाश होयगी. ओर आप श्रीमदनमोहनजीकी सेवा बोहोत स्नेहपूर्वक करे हें. आभरणसौं तथा सामग्रीसौं अनेक तरहसौं लाड़ लड़ावत हें तथा सांजकु दोउ बिरियाँकी सेवासो पोहोंचीके कथा नित्यनेमपूर्वक करनी तामें अलौकिक आनन्द आवे जाको भाग्य होय सो सुने ओर समजे'' (१२० वचनामृत ३०). यहां हम परिशिष्टमें प्रकाशित कर रहे हैं इन्हें श्रीमनीष बाराई श्रीअनिल भाटिया तथा श्री-श्रीमती पद्मिनी धर्मेन्द्र झाला ने पुनः कंप्युटरमें फीड् कर मुद्रणार्ह बनाया है.

इन सभी पूर्वप्रकाशकों और सम्पादकों महानुभावोंके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं. साथ ही साथ इस प्रस्तुत प्रकाशनमें हमारे सहयोगिजनों श्रीमती-श्री पद्मिनी धर्मेन्द्र झाला, श्रीमती-श्री मनीषा परेश शाह, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ, श्रीअसित शाह तथा श्रीअंशु गोपाल शाह इन सभीका अतीव

अभिनन्दनीय परिश्रम रहा है. इस ग्रन्थके मुद्रणोपयोगी सारा परिश्रम तथा उत्तरदायित्व श्रीप्रवीण डढाणिया तथा श्रीपीयूष गोंधिया ने वहन किया तदर्थ भूरिशः अभिनन्दन!

सम्पादक
गोस्वामी श्याम मनोहर

।। पाठभेदतालिका ।।

(१) शास्त्रार्थप्रकरणम्

पृष्ट-संख्या	श्लोक-संख्या	मुद्रित-पाठः	शोधित-पाठः
११३	११	उभयकोट्चोः	उभयत्र कोट्चो(क)
११५	१५	ज्ञानरूपम्	ज्ञानं प्रमारूपम्(क)
११५	१५	भगवद्भजनतारतम्यं स्यात्	भगवद्भजनतारतम्यात्(क)
११५	१५	जीवनमुक्ताश्च	जीवनमुक्ताः परममुक्ताः च(क)
१२०	३१	मुद्रिते नास्ति	जीवधर्मत्वम्.. अर्थः..(क)
१२३	६१	ब्रह्मणो जीवाभेदमात्रबोधने	जीवस्य ब्रह्माभेद-मात्रबोधने(ख)
१२९	७९	हेतुश्रवणाद्	हेयत्वश्रवणाद्(क)
१३४	८६	मुद्रिते नास्ति	भावोपलम्भात् न तथा(क)
१३५	८७	मुद्रिते नास्ति	उभयपक्षे.. इति अर्थः(क)
१३७	८८	प्रोक्तत्वाभावाद्	आप्तोक्तत्वाभावाद्(क)
१४०	९६	श्लोकद्वये	श्लोकद्वयेन(क)
१४०	९६	तेन तेन रूपेण	तेन रूपेण(क)
१४१	९७	मुद्रिते नास्ति	‘‘वाचम् अग्नौ..ज्ञेयम्(ख)

(२) सर्वनिर्णयप्रकरणम्

पृ.सं.	श्लो.सं.	मु.पा.	शो.पा.
१४७	३	मुद्रिते नास्ति	यद् इति..नित्यकर्मप्रतिपादकत्वम् इति अर्थः(क)
१४७	३	अनधिकारिकृदग्नेः-फलत्वमेव	अनधिकारिकृतत्वाद् निष्फलत्वमेव(क)
१५२	२१	कर्ममार्गवकृतिवान्यमार्ग-वकृतंप्यनुसरति	कर्ममार्गवतानपि अनुसरति(क)

१५२	२१	तत्रैतानि वचनानि	तत्रैव तानि वचनानि सन्ति(क)
१५४	२३	जन्ममरणपरम्परया:	धूमादिमार्गेण जन्ममरण-परम्परया:(क)
१५६	२८	एकमूर्तिप्रतिपादनैकार्थत्वाद्	एकमूर्तिप्रतिपादने-नैकार्थत्वाद्(क)
१५७	३४	वेदवेदाभ्याम्	वेदवेदार्थाभ्याम्(क)
१५९	४७	मुद्रिते नास्ति	औपनिषत्त्वभङ्गाद् इति..-इति अर्थ:(क)
१६०	४७	ब्रह्म	ब्रह्मणो(क)
१६२	५३	तत्कल्पानुसारं यथोक्त	तत्कल्पानुसारियथोक्त(क)
१६४	५५	मुद्रिते नास्ति	अन्यस्यापि(क)
१६४	५५	मुद्रिते नास्ति	मन्निष्ठो...लक्षण:(सम्पा.)
१६५	५६	कल्पपर्यन्तस्थिता:	कल्पान्तपर्यन्तस्थिता:(क)
१६७	६५	स्नेहापत्त्यभावे	स्नेहोत्पत्त्यभावे(क)
१६८	६९	मुद्रिते नास्ति	नित्यत्वाद् इति..इति अर्थ:(क)
१६९	७२-७५	मुद्रिते नास्ति	अन्यथा इति..इति भाव:(क)
१७०	७८	मुद्रिते नास्ति	मूलेतु..नास्ति इति अर्थ:(क)
१७४	८७	जीवस्वरूपात्मकम्	जीवस्वरूपात्मकत्वम्(क)
१७८	९९	मुद्रिते नास्ति	यतो अक्षराद्..प्रवेश: इति अर्थ:(क)
१८०	१०३	पुरुषत्वम्	पुच्छत्वम् (क)
१८३	१११	काव्याद्	कोशाद् (क)
१८३	१११	विधिभावनिषेधाभ्यां	विधिभावनिषेधभावाभ्यां(क)
१८४	११२	मुद्रिते नास्ति	यद्वा सृष्टौ..इति अर्थ:(क)
१८४	११४	मुद्रिते नास्ति	तामस: उदेति..पूर्वस्वभावो-निवर्तते(क)
१८७	१२२	तारतम्यमेव	तारताम्यज्ञानोक्तम् (क)

१८९	१२९	मुद्रिते नास्ति	अश्विनौ..अतिदुरूहः(क)
१९४	१४०	भाति	प्रतिभातिः(क)
१९५	१४०	आधारकत्वेन	आधारकारकत्वेन(क)
१९५	१४०	भगवति तिरोभावात्	भगवत्तिरोभावात् (क)
१९८	१४७	मुद्रिते नास्ति	क्वचिद् भ्रमजनकत्वम् (क)
२००	१५२	वर्ण-वाक्य-पदभेदाः	वर्ण-पद-वाक्यभेदाः(सम्पा)
२०१	१५३	'पद'संज्ञा अस्तीति	'पद'संज्ञा नास्तीति(क)
२०७	१७३	अभिधानपर्यवसानम्	अभिधानापर्यवसानम् (क)
२०९	१७६	शैत्यादिलाभात्	शैत्यादिलाभार्थम् (क)
२११	१७९	तेन	येन(सम्पा.)
२१७	२०३	मुद्रिते नास्ति	यद्वा..गतिमन्तौ इति अर्थः(क)
२४५	२९७	कार्यतावच्छेदजात्योः	कार्यतावच्छेदकजात्योः(क)
२४७	३००	विपक्षाबाधकत्वाद्	विपक्षबाधकत्वाद् (क)
२४७	३००	साक्षात् करिभ्रमे	साक्षात्कारिभ्रमे(क)

भागवतार्थप्रकरणम्

पृ.सं.	श्लो.सं.	मु.पा.	शो.पा.
२५५	२	भिन्नस्य प्रपञ्चस्य	भिन्नप्रपञ्चस्य(क)
२५६	२	ब्रह्मविज्ञानं	ब्रह्मत्वेन विज्ञानं(क)
२५६	२	इति	इति भावः(क)
२६१	५	एककारणत्वसिद्धिः	एककारणकत्वसिद्धिः(क)
२६३	५	पूर्वजन्म	पुनर्जन्म(सम्पा.)
२६३	५	मुद्रिते नास्ति	त्रयो भेदाः..कारणभेदाः-इति अर्थः(क)
२६४	५	सगुणसृष्टिम्	सगुणसृष्टेः विभूतिः(क)
३०२	३५ १/२	स्वानन्दं च	स्वानन्दं भगवदानन्दं च(क)

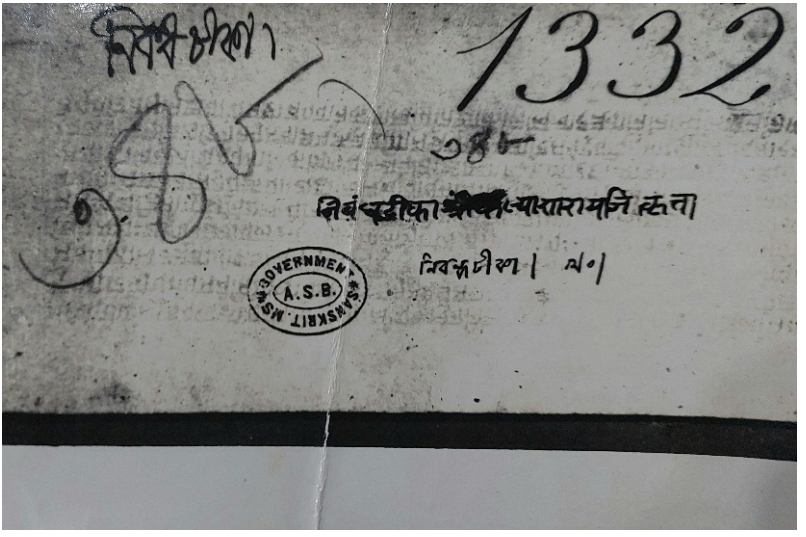
३०५	३७	उभयोपकारकथनम्	उभयोपकारकथने(क)
३०८	४१	अत्रेति	यत्रेति(क)
३१०	४२	करणत्वेन	कारणत्वेन(क)
३१२	४४	नहि सामान्यतोऽपि	नहि सा अन्यतोऽपि(क)
३१३	४४	अप्राप्तत्वात्	प्राप्तत्वात्(क)
३१६	४५ १/२	सर्वमुख्यत्वसिद्धिः	न सर्वमुख्यत्वसिद्धिः(क)
३१७	४५ १/२	विस्तरो	निस्तारो(क)
३१८	४५ १/२	तद्द्वयोः एकार्थस्यैव	तद्दायकस्य अर्थस्यैव(क)
३२३	४८ १/२	मुद्रिते नास्ति	गुणातीत...श्रवणे(क)
३२५	५०	इति अर्थः	इति भावः(सम्पा)
३२६	५०	अग्रे वक्तव्यः	अग्रे न वक्तव्यः(क)
३२६	५०	मुद्रिते नास्ति	करोति...जायन्ते इति(क)



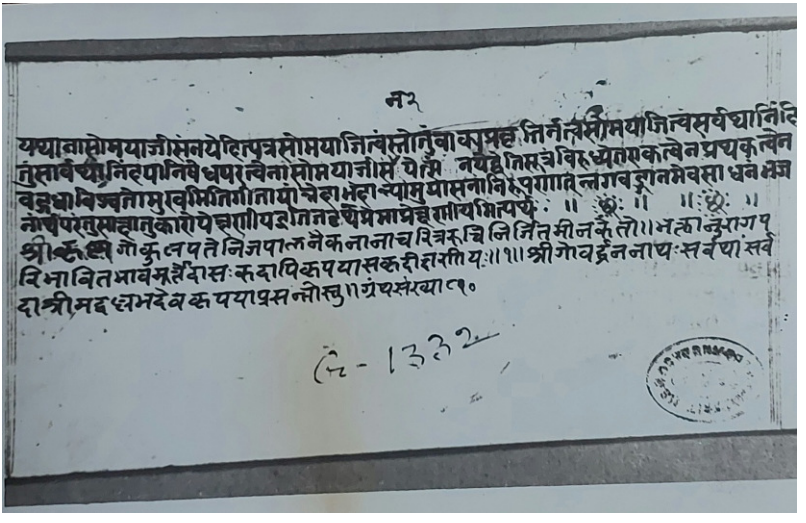
विषयानुक्रमणिका

विषयक्रम	पृष्ठक्रम
(क) षोडशग्रन्थटीका	
१. सिद्धान्तमुक्तावली	१-१४
२. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः	१५-२९
३. सिद्धान्तरहस्यम्	३०-३४
४. कृष्णाश्रयस्तोत्रम्	३५-७४
५. भक्तिवर्धिनी	७५-८१
६. जलभेदः	८२-१०२
७. सेवाफलम्	१०३-१०८
(ख) तत्त्वार्थदीपनिबन्धटिप्पणी	
१. शास्त्रार्थप्रकरणम्	१०९-१४५
२. सर्वनिर्णयप्रकरणम्	१४६-२५२
३. भागवतार्थप्रकरणे तृतीयस्कन्धार्थटिप्पणी	२५३-३३५
(ग) कतिपयोत्सवतिथिनिर्णयग्रन्थाः	३३६-३५६
(घ) कीर्तनसंग्रहः	३५७-३८०
(ङ) परिशिष्टम्	
श्रीगोपिकालंकार मट्टुजीमहाराजकृत दीनता-आश्रयके पदसंग्रह	३८१-४००
स्वतन्त्रलेखः प्रतिष्ठानिर्णयः	४०१-४०२
उद्धरणतालिका	४०३-४३१
उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका	४३२-४३५

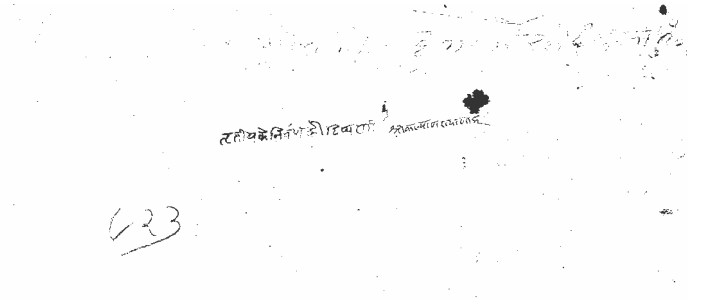




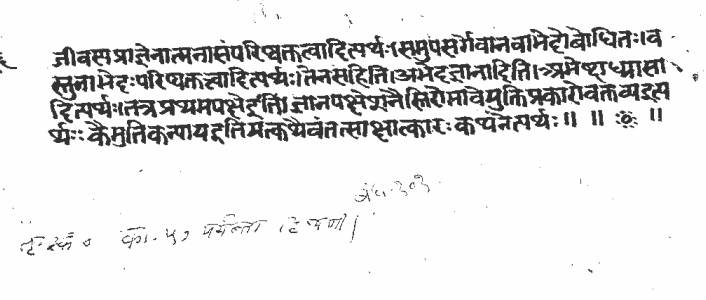
एशियाटिक ग्रन्थालयसंग्रहस्थः क मातृकायाः आद्यपृष्ठम्



एशियाटिक ग्रन्थालयसंग्रहस्थः क मातृकायाः अन्त्यपृष्ठम्



श्रीगट्टुलालजीग्रन्थालयसंग्रहस्थः ख मातृकायाः आद्यपृष्ठम्

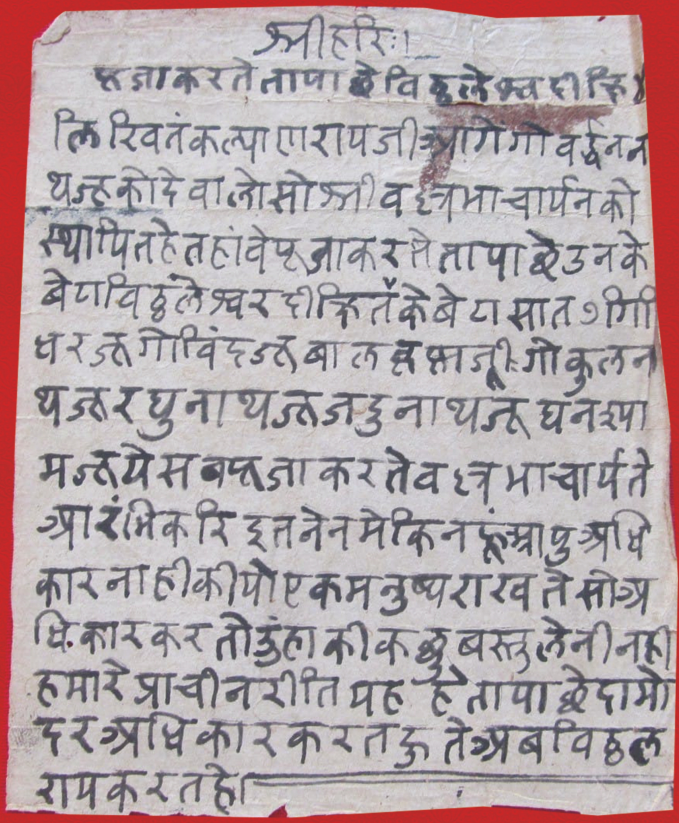


श्रीगट्टुलालजीग्रन्थालयसंग्रहस्थः ख मातृकायाः अन्त्यपृष्ठम्



श्रीकल्याणरायजी

ग्रन्थकृद्–हस्ताक्षर



श्रीहरिः।
पूजा करते तापा के वि ठ्ठलेश्वर की कि
लि खवतं कल्पा एरायजी आगे गो वर्द्धन न
थ्र हकोदे वा लो सो श्री व ल्ल भा चार्य न को
स्थापित हे तहां वे पूजा करते तापा के उन के
बे टा वि ठ्ठलेश्वर की कितँके बे टा सात गिरी
धर जू गोविंद जू बा ल कृ ष्ण जू गो कुल न
थ जू रघु नाथ जू जदु नाथ जू घनश्या
म जू ये स ब पूजा करते व ल्ल भा चार्य ते
आरंभि करि इतनेन मेंकिन हूं श्रा पु अधि
कार नाही की यो ए क मनुष्य रा खते सो अ
धि कार कर तो डुंगा की क छु बस्तु लेनी नहा
हमारे प्राचीन रीति यह हे तापा के दा मो
दर अधि कार कर तहु ते अब वि ठ्ठल
राय कर तहा

।। सिद्धान्तमुक्तावली ।।

(श्रीमत्कल्याणरायकृता विवृतिटिप्पण्युपेता)

(स्वसिद्धान्ते सेवायाः [१]फल-[२]स्वरूप-[३]साधना-[४]ऽवान्तरफल-लक्षणानि)

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।।
कृष्णसेवा सदा कार्या [१]मानसी सा परा मता ।।१।।
[२]चेतस्तत्प्रवणं सेवा [३]तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।।
ततः [४]संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम् ।।२।।

विवृतिः

प्रणम्य पितृ-पादाब्ज-परागम् अनुरागतः ।।
कृपया विशदीकुर्मः तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ।।१।।

'स्वसिद्धान्त...' इति अग्रे वक्ष्यमाणैः बहुभिः मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि इति अर्थः. तमेव आहुः कृष्णसेवा इति फलात्मकनामोक्त्या स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः, तदुक्त्या जीवानाम् अशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीव अत्र कालपरिच्छेदो अस्ति इति आहुः सदा इति. आवश्यकार्थ-'ण्यत्'प्रत्ययान्त'कार्य'पदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति इति भावो ज्ञाप्यते. साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपा इति अर्थः, यथा व्रजसीमन्तिनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं ''ताः न अविदन् मयि अनुषंगबद्धधियः स्वम् आत्मानम् अदः तथा इदम्'' (भाग.पुरा. ११।१२।१२) इत्यादिना.

एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः चेतः इति. उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः तद् इति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका. एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति इति आहुः ततः इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो, नतु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्या अनिष्टनिवृत्तिः उक्ता. इष्टप्राप्तिम् आहुः अग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि अनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद् भवतः इति भावः ॥१-२॥

टिप्पणी

मुक्ताश्रये रत्नविशेषसेव्ये शुकादिवाञ्छ्चे सुमनोऽधिगम्ये॥
क्षणं गवेन्द्रस्य पदाम्बुजाते विश्रम्यतां मानसराजहंसः ॥१॥
माया-तमो-निराकर्त्रे गोभिः सर्वार्थ-दर्शिने॥
स्वान्तःस्थाय हरेर् नित्यं द्विजराजाय ते नमः ॥२॥

स्वसिद्धान्तरूपम् इति स्वसिद्धान्तस्य शास्त्रार्थनिश्चयरूपत्वं, श्रुतिसिद्धत्वाद् इति भावः. **आवश्यकार्थ**...इति, **''कृत्याश्च''** (पाणि.सू.३।३।१७१) इति सूत्रेण आवश्यकाऽधमर्ण्ययोः अर्थयोः 'कृत्य'सञ्ज्ञकानां विधानात्, कृञोऽपि आवश्यकार्थे 'ण्यत्'प्रत्ययः इति भावः. भगवदभजने प्रत्यवायबोधकं महादेववचनं स्कन्दपुराणे श्रूयते **''स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यः तव केशव, स कर्ता सर्वपापानां यो न भक्तः तव अच्युत!''** (स्कन्दपुरा. । ।) इति. **तन्निवृत्त्या** इति अहन्ता-ममतात्मक-संसारसम्बन्धि-दुःखस्य निवृत्त्या; भक्तानां भगवद्भजनोपयोग्यहन्तामममतात्मक-संसारस्य उपादेयत्वाद् इति अर्थः. तथा उक्तं ब्रह्मादिभिः गर्भस्तुतौ **''त्वयि अम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि''** (भाग.पुरा.१०।२।३०) इति श्लोके॥१-२॥

(स्वसेव्यस्य [1]ब्रह्म-[2]परमात्मा-[3]भगवान्-[4]श्रीकृष्णरूपं चातुर्विध्यम्)

परं ब्रह्मतु [4]कृष्णो हि [1]सच्चिदानन्दकं बृहत्।।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्।।३।।
अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा।।४।।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेः मतम्।।
द्विरूपञ्चापि गंगावद् ज्ञेयं सा जलरूपिणी।।५।।
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्।।६।।
तत्रैव देवतामूर्तिः भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।।
गंगायाञ्च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये।।७।।
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले।।
विहितात् च फलात् तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते।।८।।
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।।
यथा [3]देवी तथा कृष्णः तत्राप्येतद् इहोच्यते।।९।।
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास् ततः।।
देवतारूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिः मतः।।१०।।
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो नचान्यथा।।
परमानन्दरूपेतु [2]कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः।।११।।
अतस्तु [1]ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्।।

विवृतिः

इदमेव परं ब्रह्म इति न ज्ञेयम् इति आहुः परं ब्रह्मइति, यशोदोत्संगलालितो नतु अन्यः इति ज्ञापनाय मूलनाम('कृष्णे'ति) उक्तम्. अत्र भेदकं रूपम् आहुः सच्चिद्...इति, एतेहि भगवद्धर्मात्मकाः. प्रकटतत्-त्रितयात्मकम् अक्षरब्रह्म. अतएव प्रपञ्चः तदात्मकःइति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन् उच्यते. एतावान् परं

विशेषो : जडे सदंशः प्रकटः इतरौ आच्छन्नौ, जीवेतु आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशः तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटम् इति. 'क'प्रत्ययेन गणितानन्द(क)त्वमेव नतु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वम् इति ज्ञाप्यते. 'कृष्ण'शब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमिति अक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपम् इति, तद् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्याद् इति, प्रपञ्चरूपेण आविर्भूतम् एकम् इति अर्थः. एकं रूपं तस्माद् प्रपञ्चरूपाद् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिः विलक्षणम् इति अर्थः. नच विरुद्धधर्मैः भेदो अत्र शंकनीयः, उभयोः धर्मयोः एकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्. विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि "तद् एजति तन्न एजति" (ईश.उप.५) इत्यादिश्रुतिभिः निरूप्यमाणत्वात्. लोकएव विरोधः शंकनीयः नतु अलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्र(२।१।२७)भाष्ये निरूपितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते।।३।।

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतानि आहुः अपरम् इति, वेदमताद् अपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेण आविर्भूते तत्र अक्षरे ब्रह्मणि इति अर्थः. मायिकम् इति हि मायावादिनः. सगुणं गुणकार्यम् इति सांख्याः. कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेण ईश्वरकार्यम् इति नैयायिकाः. स्वतन्त्रं न कदाचिद् अनीदृशं जगद् इति मीमांसकाः. चकारेण वेदबाह्यमतानि संगृह्यन्ते।।४।।

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति न अत्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवाद् इति आशयेन स्वसिद्धान्तम् आहुः तदेव इति, "स ह एतावान् आस" (बृह.उप.१।४।३) "सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलान् इति" (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः तथा इति अर्थः. एकस्यैव अक्षरस्य उक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेन उपपादयन्ति द्विरूपम् इति प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद् ब्रह्म गंगावद् ज्ञेयम्. अस्ति गंगायां

त्रिरूपत्वम् : आधिभौतिकं जलरूपम् एकं, यद् वृष्टच्चातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च. अग्रिमा द्वितीया आध्यात्मिकी तीर्थरूपा, या उद्भूतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिः तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमपि एकमेव तद् अक्षरं ब्रह्म इति तथा बुध्यताम् इति अर्थः ॥५-६॥

आधिदैविकं रूपम् आहुः तत्रैव इति, उक्तद्विरूपायां गंगायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्ना अस्ति इति अर्थः. तत्र मानम् आहुः मूर्तिः इति. भक्त्यैव नतु मर्यादामार्गविधिना उपासनया इति अर्थः. तदपि क्वचिद्एव भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा यत्र क्वचिद् गृहादिष्वपि इति अर्थः. भक्तविशेषे विशेषम् आहुः गंगायाम् इति, देवतारूपायां गंगायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहाद् अभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिः तस्मै गंगायां प्रवाहमध्यएव (देवतारूपा गंगा) प्रत्यक्षा भवति इति अर्थः. एतेन प्रपञ्चमध्यएव भगवदाकार-भगवद्भक्तयोः दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवति इति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थाम् आहुः प्राकाम्यम् इति, स्वाभीष्टस्वसर्व-स्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात् तज्जले सर्वत्र अनिषिद्ध-यथेष्ट-व्यवहारः स्याद् इति अर्थः. एवमेव उक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरति इति भावः. विहिता... इति, भक्त्या गंगादर्शनान्तरं प्रवाहरूपायाअपि दर्शनं विहितात् स्वर्गापवर्गरूपात् फलाद् विशिष्यते. तद्हृदि इति अर्थः. यद्वा येषां न प्रत्यक्षा तेषामपि तया देवतारूपया सा तत्र अस्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तद्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविष-यत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वक-स्नानादिव्यवहारो भवति इति अर्थः. किञ्च पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यद् उक्तं तदनुभवेन, महताम् अन्तःकरण प्रतीत्यापि तज्जलम् अन्येभ्यो जलेभ्यः विशिष्यते इति अर्थः. एवं येषां हृदि भगवत्सांनिध्यं ते भक्ताः अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अतएव ''मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्चनम्'' (भाग.पुरा.

११।११।३४) इति भगवता उक्तम्॥७-८॥

एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तम् अर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलम् इत्यादिना. तत्रापिइति, साधर्म्येऽपि. एतद् इति, किञ्चित् तारतम्यम्. इह प्रपञ्चरूपे दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावाद् अतः उच्यते. जगत्तु इति, त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृताः इति अर्थः. ब्रह्म एकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव॥९-१०॥

येतु भगवद्भक्ताः तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके च अर्थे श्रीकृष्णेएव कामचारः इति अर्थः. सर्वत्र नियामकः सएव इति भावः. अथवा भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शंका न भवति इति अर्थः॥११ १/२॥

टिप्पणी

'कृष्ण'शब्देनैव इति, ''**कृषिः भूवाचकः शब्दः**'' (गो.पू.ता.उ-प. १), ''**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इत्यादिवाक्यैः 'कृष्ण'शब्दस्य पुरुषोत्तमवाचकत्वाद् इति भावः. **ज्ञान्युपास्यत्वं तन्मुक्तिस्थानत्वं च ''येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते''** (भग.गीता.१२।३), ''**यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति**'' (भग.गीता.८।११) इत्यादिभिः ज्ञेयम्. **अत्र** इति, अक्षर-प्रपञ्चयोः इति अर्थः. **उभयोः** इति, प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे विरुद्धयोः धर्मयोः अक्षरब्रह्मणि प्रमाणसिद्धत्वेन सहाऽनवस्थानलक्षण-विरोधाभावाद् इति अर्थः॥३॥

विरोधपरिहाराय इति, ब्रह्मात्मकत्वे प्रपञ्चस्य उच्यमाने मायावादादिभिः विरोधः स्यात्, तत्परिहाराय श्रुतिसिद्धं **स्वसिद्धान्तं** वक्तुं पूर्वपक्षत्वेन **परमतानि** आहुः इति अर्थः. **अपरम्** इति एकवचनम्

एकवदेव तेषां मतानां निराकरणीयत्वेन तुच्छत्वबोधनार्थम्॥४॥

मूले **सेवताम्** इत्यत्र अनुदात्तेतां धातूनाम् आत्मनेपदाऽनित्यत्वात् साधुत्वम्॥६॥

(विवृतौ!) मूर्तिः इति, देहवती इति अर्थः. **भक्तविशेषे** इति, प्रेमवति भक्ते इति अर्थः. **तत्र भगवदभेदबुद्धये** इति, **तत्र** भगवदाकारे भगवद्भक्ते च "साक्षाद् भगवान् अयं माम् अनेन रूपेण अनुगृह्णाति" इति बुद्ध्या यो भजते तत्र भगवत्प्राकट्येन तस्य यथोक्तं भजनफलं भवति, "**तं यथा यथा उपासते तथैव भवति**" (मुद्ग.उप.३) इति श्रुतेः. यस्तु "न अयं भगवान् किन्तु भगवत्प्रतिमा इयम्" इति बुद्ध्या भजते तस्य भजनं भस्महोमतुल्यं भवति. अनेनैव अभिप्रायेण कपिलदेवैः देवहूतिं प्रति उक्तं "**यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरं हित्वा अर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः**" (भाग.पुरा.३।२९।२२) इति. अत्र सगुणभक्तस्य भेदबुद्धिः निन्द्यते, नतु प्रतिमादिषु भजनं, तथा सति एकादशे श्रीकृष्णोक्तम् उद्धवं प्रति प्रतिमादिषु स्वार्चनं विरुध्येत. अस्य अर्थः : अहं सर्वत्र तत्तद्रूपः आत्मरूपः ईश्वरो अन्तर्यामी नियामकः च वर्ते. एवं सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं 'मां हित्वा' उपेक्ष्य त्यक्त्वा 'अर्चां' प्रतिमां यो भजते स भस्मन्येव जुहोति. एतादृशभजने मौढ्यमेव हेतुः, नतु एवं बोधकं प्रमाणम् अस्ति. (मूले!) **प्राकाम्यम्** इति, प्रकर्षेण आसमन्तात् काम्यं **स्यात्** सिद्ध्येद् इति अर्थः. दार्ष्टान्तिकेऽपि ज्ञातव्यम्. **अतएव** इति. यतो भगवत्प्रतिमा-भक्तस्थानेषु भगवत्सांनिध्यम् अस्ति ततः तद्-दर्शन-स्पर्शना-ऽर्चनानि भगवता एकादशस्कन्धे एकादशाध्याये "**मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्चनम्**" (भाग.पुरा.-११।११।३४) इत्यनेन भक्तिकारणत्वेन उक्तानि इति अर्थः॥७-८॥

यथा जलम् इति मूलम्. **शक्ता** पापनिवारणादौ समर्था आध्यात्मिकी तीर्थरूपा. **बृहद्** अक्षरम्. **देवी** मूर्तिमती आधिदैविकी

गंगा. **इह** गंगायां **तत्रापि** भगवत्स्वरूपेऽपि **एतत्** त्रैविध्यम् **उच्यते** इति अर्थः. **(विवृतौ !) तद्गुणनियामकत्वेन** इति. जगद्गुणनियामकत्वेन **भगवतैव ब्रह्मादयो** अधिकृताः इति अर्थः. एतदुक्तं नारदीयपुराणे **''यस्य आज्ञया जगत् सर्वं ब्रह्मा सृजति नित्यशः/सुव्रत, विष्णुः/हरिः च पालको (नित्यं) रुद्रः संहारकः/नाशकः तथा/सहि मोक्षदः''** (नार.पुरा.१।३३।८) इति. तेन केवलं प्रपञ्चासक्तानां ब्रह्मादयएव नियामकाः निग्रहानुग्रहकर्तारः इति अर्थः. **ब्रह्म एकरूपम्** इति, **ब्रह्म** अक्षरं, तस्य गुणातीतत्वेन एकरूपत्वात् चरणरूपत्वात् च अक्षरोपासकानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता **हरिरेव** इति अर्थः. **येतु** इति, भगवद्भक्तानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता श्रीकृष्णएव, नतु ब्रह्मादयः कालः कर्म वा. एतेषां मनोरथपूर्तिः श्रीकृष्णादेव, यतः ते न अल्पेच्छवः. अतः परमानन्दरूपात् परमानन्ददायकात् पूर्णानन्दात् पुरुषोत्तमात् कृष्णादेव इष्टसिद्धिः इति अर्थः. अतएव कपिलदेववचनं **''न कर्हिचित् मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नो (मे) अनिमिषो लेढि हेतिः''** (भाग.पुरा.३।२५।-३८) इति. षष्ठे तृतीयाध्याये यमवचनं **''न एषां वयं नच वयः प्रभवाम दण्डः/दण्डे''** (भाग.पुरा.६।३।२७) इति. (मूले !) पदयोजनिका तु एवम् : **जगत्तु** त्रिगुणात्मकत्वेन **त्रिविधं प्रोक्तं, ततो** हेतोः **ब्रह्म-विष्णु-शिवाः** जगतो **देवताः** अधिष्ठातारः **प्रोक्ताः रूपवद्** जगद्वत् त्रिगुणयुक्ताः. नियामकत्वेन तत्तद्गुणयुक्तत्वमेव एतेषां, नतु गुणाधीनत्वम्, अन्यसाधारण्यापत्तेः, एतेषां भगवदंशत्वेन गुणावतारत्वेन अन्येभ्यो विशिष्टत्वात्. **ब्रह्मणि** अक्षरविषये **इत्थम्** अधिष्ठातृत्वेन नियामकत्वेन च **हरिः** पुरुषोत्तमो **मतः** सम्मतः इति अर्थः. **अस्मिन् लोके** भक्तजने हरिरेव नियामकः, **तु** पुनः भक्तजने **ब्रह्मादिभ्यः कामचारः** 'चर'धातोः गत्यर्थत्वेन प्राप्त्यर्थत्वाद् वाञ्छितार्थप्राप्तिः **न, च** पुनः **अन्यथा** काल-कर्मादिभ्योऽपि **न** किन्तु **परमानन्दरूपे कृष्णे स्वात्मनि** स्वात्मत्वेन स्फुरिते स्वात्मवत् प्रिये सति वा **कामचारः**

इति **निश्चयः**. **अतः** कारणात्. पुनः **'तु'**शब्दः प्रकारान्तर-व्युदासार्थः. **ब्रह्मवादेन** प्रकारेण : श्रीकृष्णो मूलभूतः पुरुषोत्तमो, अक्षरं तत्पदं, तस्मात् प्रपञ्चः समुद्रात् तरंगवत्, श्रीकृष्णएव स्वेच्छया सर्वं करोति सर्वरूपः च भवति, तस्मादेव सर्वं प्राप्यते, इति ब्रह्मवादप्रकारः. अनेन **कृष्णे** सदानन्दे **बुद्धिः विधीयतां** निवेश्यताम् इति अर्थः ॥९-११ १/२॥

(सेवकस्य [१]उत्तम-[२]मध्यमा-[३]ऽऽदिमप्रभेदाः)

आत्मनि ब्रह्मरूपेतु छिद्राः व्योम्नीव चेतनाः ॥१२॥
[१]उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ॥
गंगातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ॥
[२]संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
अपेक्षितजलादीनाम् अभावात् तत्र दुःखभाक् ॥
तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेद् ॥
[३]लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ॥
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥
मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्परः ॥
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥१८॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ॥
ज्ञानाधिको भक्तिमार्गः एवं तस्मात् निरूपितः ॥१९॥

विवृतिः

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं च आहुः **आत्मनि** इति, आत्मविषये उच्यते इति शेषः. जीवाः हि अणवः अक्षरात्मकाः

तदात्मकत्वम् अविद्यया अन्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारम् आपद्यन्ते. इदमेव उपाधिरूपत्वं तस्याः नतु तत्कृतं जीवत्वम्. अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः. व्योम्नि यथा उपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते तथा आत्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते नतु ब्रह्मधर्माः इति बोधनार्थं च. तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुः उद्दिधीर्षुः भवति तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिः अविद्यालक्षण-उपाधेः, ब्रह्मात्मक-त्वावबोधनप्रतिबन्धकस्य अविद्यात्मकस्य, नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-लक्षणे विज्ञाने अनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते (स्वस्मिन्) स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यति इति अर्थः. तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तम् अपेक्षते. भजनोपयोग्यार्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यतेइति न कदाचिद् दुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः. यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, नतु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाववान्, सतु गंगातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्र अपेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थःइति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति इति अर्थः. तथापि न स भजनं त्यजति, अंगीकारात् प्रभोः. अनंगीकारेतु मध्ये भजनप्रतिबन्धेऽपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति इति ज्ञेयम्. आत्मानन्दसमुद्रस्थम् इति, 'श्रीकृष्ण'पदात् पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तम् इति अर्थः. तेतु व्रजरत्नात्मकाः इति मन्मतिः. स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकः तद्दत्तएव. अतः 'आत्म'पदं भगवत्परम्॥१२-१६ १/२॥

स्वस्वरूपज्ञान-प्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टि-मर्यादाभेदेन द्विविधः ; उभयोः चित्तचाञ्चल्याभावाय आहुः ज्ञानाभावे इति. पुष्टिमार्गीये विशेषम् आहुः अनुग्रहः इति. तस्य स्थितौ न देशनियमः किन्तु प्रभुः अनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति तत्रैव तिष्ठति तथा ; तस्य विधिः न नियामकः इति भावः. मर्यादास्थावपि

ज्ञानि-भक्तौ चेद् अनुगृह्णाति विशेषतः तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुतः इति आहुः उभयोः इति. यदि मर्यादायामेव अंगीकारः तदा उभयोः मुक्तिरेव फलिष्यति इति आशयः. एवं निरूपणे तात्पर्यम् आहुः ज्ञानाधिको इति. लोके अधुना ''भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेव'' इति सर्वे वदन्ति. तत्र ज्ञानंहि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्. ब्रह्म च अक्षरात्मकं, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः, तस्य अक्षरातीतत्वात्. अतएव अर्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोः तारतम्यं पृष्टः स्वभजने आधिक्यम् आह गीतासु द्वादशे अध्याये. गंगायाञ्च क्षरा-ऽक्षर-पुरुषोत्तम-तारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः. नहि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा किन्तु जलेएव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीत-देवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्. नहि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति. अतएव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजति इति ''यो मामेवम् असम्मूढो'' इति उपक्रम्य ''भजति मां सर्वभावेन'' (भग.गीता.१५।१९) इति प्रभुः उक्तवान्. अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोऽपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितो अधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वाद् इति विद्वद्भिः ज्ञेयम्. ऋग्वेदेऽपि पठ्यते ''तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन, आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे'' (ऋक्.संहि.१।१५६।३). हे स्तोतारो! = मदुत्कर्षवर्णनपराः, पूर्व्यं = सर्वकारणकारणरूपं तं = लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद् विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः. ऋतस्य = सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्. स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मणे उपदिष्टवान् इति तथा. जनुषा = स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, नतु क्षणयाममात्रेण. पिपर्तन = पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवान् तदर्थमेव तद्भजनार्थमेव उपयुक्तान् कुरुत इति भक्तिमार्गे विनियोगम् उपदिशति. तेन स्फुटमेव

ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गस्य आधिक्यम् अवगम्यते. भक्त्या विना न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्धयतीति हृदयेन आह अग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्तात् जानन्तो = अखण्डशब्दब्रह्मरूपं, नतु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तः तदेव विवक्तन = विशेषेण वदन्तु . अधिकमाहात्म्या-द्यज्ञाने नाममात्रम् उत कीर्तयन्तु . एतेनैव भगवत्स्वरूप-तन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यति इति आशयेन आह नामस्वरूपं चिद् इति. 'चिद्' इति उपलक्षणं ; सच्चिदानन्दात्मकम् इति अर्थः. नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृ-गुरूपसत्तिः कार्या इति आशयेन आह महस्ते इत्यादि. ते = त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं = निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे. सच स्वतेजसा पराज्ञाननिरासकः इति आह महः इति, तेजोरूपम् इति अर्थः. स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येन उत्सवात्मकम् इति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेशएव उपदिष्टो भवति. एवमेव ''तद्विष्णोः'' (ऋक्.संहि.१।२२।२०) ''तद्विप्रास'' (ऋक्.संहि. १।२२।२१) इत्यादि श्रुतिसहस्रैः निगद्यते इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गाद् अधिको भक्तिमार्गः इति ॥१७-१८-१९॥

टिप्पणी

(मूले!)छिद्रा व्योम्नि इति, **(विवृतौ!) व्योम्नि यथा क्षुद्रैः उपाधिभिः** छिद्रप्रदेशाः **प्रतीयन्ते तथा** अविद्या-तद्धर्मैः अक्षरे चेतनाअपि प्रतीयन्ते इति अर्थः. **(मूले!) उपाधिनाशे** इति सार्धश्लोकेन ज्ञानि-भक्तावस्था उक्ता॥१२-१४॥

भजनप्रकारम् आहुः **तस्माद्** इति. **(श्रीकृष्णमार्गस्थो!)** भक्तिमार्गीयो भूत्वा **(विमुक्तः सर्वलोकतः!)** भजने लोकानुरोधं त्यक्त्वा **(आत्मानन्दसमुद्रस्थं!)** बाललीलादिषु यैव लीला स्वस्य अत्यन्तं रोचते तल्लीलासहितं **कृष्णमेव** नतु अवतारान्तरमपि **विशेषेण चिन्तयेद्** इति अर्थः॥१५१/२॥

तदभावे बाधकम् आहुः **लोकार्थी चेद्** इति. **(विवृतौ!) मर्यादास्थावपि ज्ञानि-भक्तौ** इति अत्र ज्ञानी कर्ममार्गस्थो ज्ञेयो, भक्तो मर्यादांगीकारवान् ज्ञेयः. **तदा उभयोः** इति, ज्ञानिनो अक्षरसायुज्यम् अत्र, भक्तस्य पुरुषोत्तमसायुज्यम् इति अर्थः ॥१६-१९॥

(सेवकस्य निषिद्धः प्रकारो ग्रन्थोपसंहारः च)

भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः॥
अन्यथाभावम् आपन्नः तस्मात् स्थानाच्च नश्यति॥२०॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्॥
एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता

विवृतिः

गंगादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः भक्त्यभावे इति, भगवत्सांनिध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवति इति भावः. एतेन भक्तेः आवश्यकत्वम् उक्तं भवति॥२०-२१॥

इति श्रीपितृ-पादाब्ज-पराग-रस-सिक्त-हृत्॥
श्रीविट्ठलः तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ॥२॥

टिप्पणी

भक्त्यभावे इति, स्नेह-माहात्म्यज्ञानयोः अभावे इति अर्थः ॥२०॥

श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्याः प्रणम्य तान्॥
श्रीमत्कल्याणरायेण टिप्पणी विवृतेः कृता॥३॥

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणकमलैकतान-श्रीकल्याणराय-
विरचिता
सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी
समाप्ता



।। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ।।

(श्रीकल्याणरायकृत-विवृतिसमेता)

([क]पुष्टि [ख]प्रवाह [ग]मर्यादानां [१]मार्ग-[२]सर्ग-[३]फल-पार्थक्यनिरूपणम्)

[क/१]पुष्टि [ख/१]प्रवाह [ग/१]मर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक्।।
जीव[२/ब]देह[२/र]क्रिया[२/ल]भेदैः प्रवाहेण[२] फलेन[३] च ।।१।।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।।

श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां सकलसिद्धये ॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः क्रियते मया ॥१॥

लोके कति मार्गाः ? कीदृशाः ? किञ्च तेषां फलम् ? इति जिज्ञासूनां स्वकीयानां ज्ञानार्थं श्रीवल्लभाचार्याः पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाः विशेषेण वक्तुं प्रतिजानते.

'पुष्टिः' नाम भगवदनुग्रहः फलप्रापकत्वात् फलार्थं मृग्यतेइति स एको मार्गः. **'प्रवाहो'** नाम जन्मादिप्रवाहरूपो लौकिकफलप्रापकत्वात् सोऽपि मार्गः. **मर्यादा** वेदोक्तः कर्ममार्गः. एतान् **विशेषेण** व्यावर्तकधर्मेण **पृथक्पृथक् वक्ष्यामि.** अत्र के व्यावर्तकाः धर्माः ? इति आकांक्षायाम् आहुः : भक्तिमार्गे **जीवाः** भगवदनुगृहीताः भिन्नाः, तेषां **देहाः** भगवच्चरणरेण्वादिनिष्पादिताः भिन्नाः, तेषां **क्रियाः** भगवत्पराः भिन्नाः. एवं प्रवाहासक्ताः संसारिणो जीवाः भिन्नाः, तेषां देहाअपि संस्कारादिरहिताः भिन्नाः, तेषां क्रियाः लौकिक्यो भिन्नाः. मर्यादामार्गे दैवाः जीवाः भिन्नाः, तेषां देहाः संस्कृताः भिन्नाः, तेषां वेदोक्ताः क्रियाः भिन्नाः. **(प्रवाहेण !)** प्रवाहासक्तत्वेन प्रवाहएव प्रावाहिकाणां भेदकः. **(फलेन!)**

''मद्भक्ताः यान्ति मामपि'' (भग.गीता.७।२३) इत्यादिवाक्याद् भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्तिः फलम्. मर्यादामार्गे वेदोक्तकर्मभिः निष्कामानां तत्त्वज्ञानद्वारा अक्षरप्राप्तिः फलं, सकामानां क्षयिष्णु स्वर्गादिः फलम्. प्रवाहस्थानां स्वकर्मानुसारि जन्मादिः फलम्. भिन्नैः एतैः मार्गाअपि भिन्नाः भवन्ति इति अर्थः. कथनस्य प्रयोजनम् आहुः **यस्य** उक्तस्य **(श्रुतेः!)** श्रवणात् **(सर्वेषु!)** मार्ग-तत्साधन-फलेषु **सन्देहाः न भविष्यन्ति** इति अर्थः ॥१ १/२॥

मार्गसत्त्वे प्रमाणानि वक्तुं प्रथमं पुष्टिसत्त्वे प्रमाणम् आहुः :

(मार्गत्रयभेदसाधकप्रमाणानि)

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥२॥
''द्वौ भूतसर्गौ''इत्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः ॥
वेदस्य विद्यमानत्वाद् मर्यादापि व्यवस्थिता ॥३॥

''ते न अधीतश्रुतिगणाः'' (भाग.पुरा.११।१२।७) इत्यादिना निःसाधनत्वेन निरूपितानां व्रजस्थितानां **''केवलेनहि भावेन''** (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादिवाक्यैः स्नेहनिरूपणाद् **भक्ति**रूपस्य **मार्गस्य कथनात्** भक्तिकारणत्वेन **पुष्टिः** निश्चीयते इति अर्थः. ननु दान-व्रतादिभिः भक्तेः श्रूयमाणत्वात् कथं भक्तिकारणत्वेन पुष्टिः निश्चीयते इति चेद्, न, अनुग्रहव्यापारत्वेनैव दानादीनां भक्तिसाधकत्वात्. ननु कथम् एवम्? इत्थं : पुष्टेः भगवदनुग्रहरूपत्वेन भक्तेः भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वाद् निःसाधनोऽनुग्रहः 'पुष्टिः' इति उच्यते. साधनमिश्रभावात् साधनानुग्रहो भक्तिमार्गे 'मर्यादा' इति उच्यते. अतएव उक्तम् आचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे **''पुष्टिः अत्र द्विरूपा हि मर्यादा-पुष्टिभेदतः विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यते''** (त.दी.नि.३।६।६४-६५) इति. तेन सः ससाधनानुग्रहएव दानादिसाधन-

द्वारा भक्तिं जनयतीति न अनुपपन्नं किञ्चित्. एतदेव उक्तं भक्तिहंसे श्रीमत्प्रभुचरणैः **''वरणेच अस्ति प्रकारद्वयं मर्यादा-पुष्टिभेदेन''** (भ.हं.) इति. प्रावाहिकभक्तिस्तु भक्तस्य फलार्थं भगवति सापेक्षत्वमात्रेण स्नेहाभावेन भक्तिमार्गे किञ्चिद्धर्मसाम्येन प्रावाहिकभक्तौ 'भक्ति'पदप्रयोगात् पूजातुल्या इति. तेन पुष्टिभक्तिरेव मुख्या, परमानुरागरूपत्वात्, **''सा परानुरक्तिः ईश्वरे''** (शां.भ.सू.१।१।२) इति शाण्डिल्यसूत्रात्. मर्यादाभक्तिस्तु भक्तिदेशीया, परमानुरागाभावात्. प्रावाहिकभक्तिस्तु सापेक्षतारूपेति पूजातुल्या परं भक्तिमार्गसम्बन्धाद् भक्तिरूपा इति. एतदेव उक्तं भक्तिहंसे **''भक्तिमार्गीयभक्तकृत-साम्प्रदायिक-दीक्षापूर्वकः मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिः उच्यते''** (भ.हं.) इति. मर्यादामार्गस्थं ज्ञानमार्गस्थं वा जीवं यदि भगवान् अनुगृह्णाति तदा स पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयं फलं प्राप्नोति. एतदेव उक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्याम् **''उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति''** (सिद्धा.मुक्ता.१९) इति. तेन अनुग्रहसाध्या भक्तिः इति सिद्धम्. अतः सुष्ठूक्तं **भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चयः** इति. प्रवाहसत्त्वे प्रमाणम् आहुः **''द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरः एवच''** (भग.गीता.१६।६) इति वाक्यात् प्रवाहोऽपि सिद्धः. मर्यादासत्त्वे प्रमाणम् आहुः काण्डद्वयात्मकस्य वेदस्य श्रूयमाणत्वाद् मर्यादामार्गोऽपि सिद्धः ॥२-३॥

(पुष्टिमार्ग[क/१]-पार्थक्यस्य विशेषेण प्रमाणोपपत्तिः)

कश्चिदेव हि भक्तो हि ''यो मद्भक्तः'' इतीरणात्॥
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः॥४॥
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः॥
''यदा यस्ये''ति वचनाद् ''नाहं वेदैर्''इतीरणात्॥५॥
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ॥
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः॥६॥

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः ॥
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥७॥
प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः ॥

भक्तेः पुष्टि(सद्भाव!)साधकत्वम् उक्त्वा दुर्लभत्वम् आहुः **कश्चिदेव हि भक्तो** भवति, न सर्वो, अन्यथा भगवान् "**यो मद्भक्तः**" (भग.गीता.१२।१४,१६) इति न वदेत्. भक्तेः पुष्टिसाधकत्वम् उक्त्वा भक्ति-भक्तयोः उत्कर्षस्यापि पुष्टिसाधकत्वम् आहुः - **सर्वत्र** गीता-भागवतादौ —

"**भक्त्या माम् अभिजानाति**" (भग.गीता.१८।५५)
"**भक्त्यातु अनन्यया शक्यः**" (भग.गीता.११।५४)
इत्यादि, "**यत् कर्मभिः यत् तपसा**" (भाग.पुरा.११।२०।३२) इत्यारभ्य "**सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा**" (भाग.पुरा.११।२०।३३) इत्यन्तेन, "**भक्तिं लब्धवतः साधोः किम् अन्यद् अवशिष्यते मयि अनन्तगुणे ब्रह्मणि आनन्दानुभवात्मनि**" (भाग.पुरा.११।२६।३०), "**न अलं द्विजत्वम्**" (भाग.पुरा.७।७।५१) इत्युपक्रम्य "**प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्**" (भाग.पुरा.७।७।५२) इत्यन्तेन, "**मयि आवेश्य**" (भग.गीता.१२।२) इत्यारभ्य "**ते मे युक्ततमाः मताः**" (भग.गीता.१२।२) इत्यन्तेन, "**ये भजन्तितु मां भक्त्या मयि ते तेषु चापि अहम्**" (भग.गीता.९।२९), "**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**" (भग.गीता.९।३१), "**ताः मन्मनस्काः मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः... ये त्यक्तलोकधर्माः च मदर्थे तान् बिभर्मि अहम्**" (भाग.पुरा.१०।४३।४), "**अहं**

भक्तपराधीनः'' (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्युपक्रम्य ''**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा**'' (भाग.पुरा.९।४।६६) इत्यन्तेन, ''**एताः परम्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५८) इत्यारभ्य ''**पुनाति भुवनत्रयम्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।६३) इति श्लोकषट्केन च.

उत्कर्षकथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चीयते इति अर्थः. नहि भक्तिः भक्तत्वम् एतादृशो अर्थो भगवदनुग्रहं विना प्राप्यते॥४॥

पुष्टिमार्गीयस्य प्रवाह-मर्यादामार्गस्थाभ्यां भेदम् आहुः ''**यदा यस्य अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः, स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्**'' (भाग.पुरा.४।२९।४६) इति वाक्याद् यं भगवान् अनुगृह्णाति स पुष्टिमार्गीयो भवति, **न सर्वो, अतः प्रवाहाद्** भेदः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः, ततो वैलक्षण्यात्. ''**न अहं वेदैः**'' (भग.गीता.११।५३) इत्यारभ्य ''**परन्तप...**'' (भग.गीता.११।५४) इत्यन्तेन अनन्यभक्त्यैव भगवान् ज्ञातुं द्रष्टुं शक्यः, न अन्यसाधनैः इति **भेदतः** वैलक्षण्यात् **वेदात् च भिन्नः** वेदोक्तमर्यादामार्गस्थादपि पुष्टिमार्गस्थभक्तो भिन्नः इति अर्थः॥५॥

कस्यचित् पूर्वपक्षं निराकुर्वन्ति. तथाहि ननु प्रवाह-मर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वेन भक्त्युपयोगाद् अंगांगिभावेन एको भक्तिमार्गएव अस्तु इति चेद्, न, **मार्गैकत्वे** स्वीक्रियमाणे प्रवाह-मर्यादामार्गौ अंगत्वेन भक्तिफलप्रापकत्वेन तव सम्मतौ; **तत् न युक्तम्**. यदि प्रवाह-मर्यादामार्गयोः भक्तिफलेन फलवत्त्वं स्यात् तदा तदंगत्वं स्यात्. तदेव अंगं भवति यत् प्रधानफलेन फलवद् भवति, न स्वतः, प्रयाजादिवत्, ''**फलवत्सन्निधौ अफलं तद् अंगम्**'' (जै.पू.मी.सू.४।४-।७) इति अंगलक्षणात्. **(सूत्रतो !)** अत्र भक्तिमार्गे ''**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्**'' (ब्र.सू.१।१।६) इति व्याससूत्रेण भगवत्परस्य मोक्षः

फलत्वेन उच्यते. तथा भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यसूत्रं ''**तत्संस्थस्य अमृतत्वोपदेशाद्**'' (शां.भ.सू.१।१।३) इति. अस्य अर्थस्तु : 'तस्मिन्' ईश्वरे 'संस्था' भक्तिः यस्य तस्य 'अमृतत्वं' फलम् उपदिश्यते ''**ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वम् एति**'' (छान्दो.उप.२।२३।१) इति. एतद्विचारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वात्, प्रवाह-मर्यादामार्गयोः जन्मादि-संसार-स्वर्गादि-फलकत्वात् परम्परया निमित्तकारणत्वेन देशादिवद् उपयोगात् तयोः न भक्त्यंगत्वमिति न अंगांगिभावेन मार्गैकत्वसिद्धिः. **युक्तिस्तु** : यदि मर्यादामार्गो भक्तिमार्गाऽभिन्नः स्यात् तदा भक्तिमार्गीयमेव फलं दद्यात्. स्वर्गादिफलदातृत्वाद् **वैदिको** मार्गो **भिन्नः**. अलौकिकफलदातृत्वाभावात् प्रवाहो न उक्तः ॥६॥

पुष्टिमार्गस्य भेदज्ञानार्थं तत्रत्यानां वैलक्षण्यम् आहुः. **यथा श्रुतेः** वेदस्य लौकिकवाक्यसमानत्वेन गृह्यमाणस्यापि **(विद्यमानत्वाद्) नित्यता, ''स्वयम्भूर् एषो भगवान् वेदो गीतः त्वया पुरा, शिवाद्याः ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारो अस्य न कारकाः''** (देवीपुरा.१०७।१), **''वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूर् इति शुश्रुमः''** (भाग.पुरा.६।१।४०) इत्यादिवाक्यैः लौकिकवाक्य-**भिन्नत्वं च, (तद्वत्!)** तथा **पुष्टिमार्गे ''जयति जननिवासः''** (भाग.पुरा.१०।८७।४८) इत्यादिवाक्यैः लीलास्थानां **जीव-देह-कृतीनां नित्यत्वं भिन्नत्वं च** इति अर्थः. अथवा **यथा श्रुतेः ''या ते धामानि उश्मसि गमध्यै गावः''** (शुक्लयजु.६।३) (द्रष्ट. **''ता वां वास्तुनि धामानि उश्मसि गमध्यै गावः''** ऋक्.संहि.१।१५४।६) इति वेदाद् लीलास्थानां **जीव-देहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वं तद्वत् पुष्टिमार्गे**ऽपि लीलान्तर्गतौ **जीव-देह-कृतीनां नित्यता भिन्नत्वं च** भवति इति अर्थः. **द्वयोरपि निषेधतः** इति, **''स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्''** (भाग.पुरा.४।२९।४६) इति वाक्येन भगवदनुग्रहानन्तरं प्रवाह-मर्यादामार्गयोः निषेधात् प्रवाह-मर्यादामार्गस्थयोः देहादीनां भिन्नत्वं नित्यता च न भवति इति

अर्थः. अतः कारणात् पुष्टिमार्गे भगवान् अनुग्रहेण पुष्टिमार्गस्थं यथा ज्ञापयति, यथा प्रेरयति तथा स प्रवर्तते. अतः पुष्टिमार्गे भगवान् प्रमाणं भगवदनुग्रहः च. तस्मात् **प्रमाणभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्नः** इति अर्थः ॥४-७ १/२॥

(सर्गभेद[२]कारकहेतूनां संकलनम्)

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम् ॥८॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः ॥
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥९॥

त्रयाणां **सर्गभेदम्** आहुः. जीव-देह-क्रियासहितं भिन्नं सर्गं **प्रवक्ष्यामि** इति अर्थः. त्रयाणां सर्गाणां भेदे किं निमित्तम्? इति आकांक्षायाम् आहुः **इच्छामात्रेण** सामान्येच्छया मल्लादियुद्धवद्, नतु स्वयं रन्तुम्, **हरिः मनसा प्रवाहं सृष्टवान्. "सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय"** (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः **वचसा** वेदवाण्या **वेदमार्गं सृष्टवान्. कायेन** स्वरूपेण **(पुष्टिं!)** पुष्टिमार्गस्थान् **सृष्टवान्, "स वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छत्, स ह एतावान् आस"** (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुतेः. अतएव वाराहपुराणे **"भिन्नैव काचित् सा सृष्टिः विधातुः व्यतिरेकिणी"** (वाराहपुरा. । ।) इति. अथवा स्वयम् आविर्भूय भक्तैः स्वसेवां कारयित्वा तन्मार्गं प्रकटितवान् इति अर्थः ॥८-९॥

(मार्गत्रये फलभेद[३]कारकहेतूनां संकलनम्)

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च ॥
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥१०॥

त्रयाणां मार्गाणां फलभेदादपि भेदम् आहुः. **मूलं** सृष्टिकारणं ब्रह्म. तस्य सर्गादौ "अस्य अनेन एवम् एवं करिष्यामि" इति

इच्छा, ततएव प्रवाहस्थानां **फलम्** इति अर्थः. **वैदिके** कर्ममार्गे **वेदोक्तं** स्वर्गापवर्गरूपम् **अपि फलं** भवति इति अर्थः. **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे **कायेन** स्वरूपेण **फलं** भवति इति अर्थः. तद् उक्तं **''गोपीभिः स्तोभितो अनृत्यद्''** (भाग.पुरा.१०।११।७) इत्यादिना. **पुष्टौ** प्रवाह-मर्यादाभ्यां **भिन्नेच्छातोऽपि** जातं **फलं** कौमारलीलादिरूपेण **(न एकधा!)** अनेकविधं भवति इति अर्थः ॥१०॥

(जीवानां त्रिविधः सर्गः[कखग/२])

''तानहं द्विषतो'' वाक्याद् भिन्नाः जीवाः प्रवाहिणः ॥
अतएवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

प्रमाणपूर्वकं प्रवाहस्थान् जीवान् भिन्नान् आहुः. भूतसर्गे दैवजीवेषु भगवदनुगृहीताः भक्तिमार्गीयाः भवन्ति, अन्ये दैवाएव कर्मिणः वेदोक्तफलभाजो भवन्ति. अवशिष्टाः **जीवाः ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च''** (भग.गीता.१६।७) इत्यारभ्य **''प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः''** (भग.गीता.१६।१८) इत्यन्तेन निरूपितानां **''तान् अहं द्विषतः क्रूरान्''** (भग.गीता.१६।१९) इत्यारभ्य **''ततो यान्ति अधमां गतिम्''** (भग.गीता.१६।२०) इत्यन्तेन अधमगतिमत्त्वेन निरूपणात् **(प्रवाहिणः!)** प्रवाहस्थाः आसुराः पूर्वोक्तेभ्यो **भिन्नाः** इति अर्थः. **अतएव इतरौ** पुष्टिमार्गीय-मर्यादामार्गीयजीवौ एभ्यो **भिन्नौ.** तत्र हेतुः **सान्तौ** अन्तः = फलपर्यवसानं तत्सहितौ. कुतः? **मोक्षप्रवेशतः** इति. मर्यादामार्गीयस्य मोक्षात्, पुष्टिमार्गीयस्य लीलाप्रवेशतः इति अर्थः ॥११॥

(तत्र पुष्टिमार्गसर्गे विशेषेण जीव[२/य]देह[२/र]क्रियाणाम्[२/ल] उपभेदाः)

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः ॥
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

स्वरूपेणावतारेण लिंगेन च गुणेन च।।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।१३।।
तथापि यावता कार्यं तावत् स्वस्य करोति हि।।
तेहि द्विधा शुद्ध-मिश्रभेदाद् मिश्रास् त्रिधा पुनः ।।१४।।
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ।।१५।।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः ।।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते।।१६।।
भगवानेव हि फलं स यथाऽऽविर्भवेद् भुवि।।
गुण-स्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।।
अहंकारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।
न ते पाषण्डतां यान्ति नच रोगाद्युपद्रवः ।।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।।
वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा।।२०।।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।।

अत्युत्कर्षादपि पुष्टिमार्गीयाणां भेदम् आहुः. यस्मात् सर्वोत्कृष्टाः **तस्मात् पुष्टिमार्गीयजीवाः** तेभ्यो **भिन्नाएव** इति अर्थः. विपक्षे बाधकं तर्कम् आहुः **भगवद्रूपसेवार्थम्** इति. यदि पुष्टिमार्गीयाः सर्वोत्कृष्टाः न स्युः तदा साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूप-**सेवार्थं तत्सृष्टिः न भवेत्** ।।१२।।

शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां सेवार्थं सहकारियोग्यताम् आहुः. लीलासृष्टेः भगवद्रूपत्वात् **स्वरूप**साम्यम्. यथा भगवदवतारः प्रादुर्भावो, न जीववद् जन्म, तथा मुख्यभक्तानामपि इति **अवतार**साम्यम्. अलौकिकत्वज्ञापकस्य भगवता समं नृत्यादिसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् **(लिंग !)**चिह्नसाम्यम्.

गुणाः सौन्दर्यादयः; तत्साम्यं स्पष्टमेव. तेन तासां **क्रियासु स्वरूपे देहे वा न तारतम्यम्** इति अर्थः. भगवतो, लीलान्तःपातिनां भक्तानां च, स्वरूपादिभिः तुल्यत्वं, नतु उत्कर्षाऽपकर्षौ इति श्लोकार्थः ॥१३॥

तथापि भगवान् स्वार्थं तारतम्यं करोति इति आहुः. स्वरूपादेः तुल्यत्वेऽपि भगवान् **स्वस्य कार्यं** रमणं स्वस्य भक्तानां च **यावता** तारतम्येन सिद्ध्यति **तावत्** तारतम्यं प्रकटयति. **हि** युक्तो अयम् अर्थः, उत्कर्षा-ऽपकर्ष-वैचित्र्यैः विना समग्ररमणासिद्धेः. अतएव बाललीलादयो युक्तरूपाः भवन्ति इति दिक् ॥१३ १/२॥

एवं विशेषलीलायाः साधनानि प्रकारं च उक्त्वा सामान्यलीलायाः साधनानि प्रकारं च आहुः **तेहि** इत्यारभ्य **भवेद्** इत्यन्तेन. **ते** पूर्वोक्ताः त्रयोऽपि मार्गाः **द्विधा** द्विप्रकाराः **शुद्ध-मिश्रभेदाद्.** अन्यमार्गधर्मसंवलिताः मिश्राः, तदसंवलिताः शुद्धाः. **मिश्रा**अपि **(पुनः त्रिधा!)** परस्परं त्रयाणां मिश्रणेन प्रत्येकं त्रिप्रकाराः. एवं भेदानां प्रयोजनम् आहुः **भगवत्कार्यसिद्धये** इति, **''क्रीडाभाण्डम् इदं विश्वम्''** (ब्रह्मवै.पुरा.२।१८।७२) इत्यादिवाक्यैः विश्वस्य क्रीडार्थत्वात्. पुष्ट्यादीनां त्रयाणां स्वतः परतः मिश्रणे ज्ञापकान् धर्मान् आहुः **पुष्ट्या... दुर्लभाः.** पूर्वं सामान्यतो अनुगृहीताः विशेषानुग्रहं प्राप्ताः **पुष्ट्या विमिश्राः,** ते **(सर्वज्ञाः!)** भगवदभिप्रायादि-सर्वज्ञातारो भवन्ति. नारदादयइव सर्वज्ञत्वमेव तेषां लक्षणम्. पुष्टिस्थाः मर्यादामिश्रिताः **(गुणज्ञाः!)** भगवद्धर्मज्ञातारो भवन्ति, कविप्रभृतयो नवयोगेश्वराःइव. पुष्टिस्थाः प्रवाहमिश्रिताः यत्किञ्चिद् भगवद्धर्मं ज्ञात्वा **(क्रियारताः !)** तीर्थाद्यटनपराः भवन्ति. प्रवाहस्थाः पुष्टिमिश्रिताः भगवद्भजनानुकूल-क्रियानुसारिणो भवन्ति. प्रवाहस्थाः मर्यादामिश्रिताः सत्कर्मकर्तारो भवन्ति. प्रवाहस्थाः प्रवाहमिश्रिताः केवलं लौकिकक्रियारताः भवन्ति; तएव आसुराः. मर्यादामार्गीयाः पुष्टिमिश्रिताः माहात्म्यज्ञानाद् भगवत्प्रीत्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति. मर्यादामार्गीयाः मर्यादामिश्रिताः स्वर्गाद्यर्थं कर्मकर्तारो

भवन्ति. मर्यादामार्गीयाः प्रवाहमिश्रिताः लौकिकार्थं कर्मकर्तारो भवन्ति. **प्रेम्णा** स्नेहेन **शुद्धाः** प्रेमविषयातिरिक्त-स्फूर्तिरहिताः ते शुद्धपुष्टिस्थाः ते **अतिदुर्लभाः** इति अर्थः ॥१४-१५ १/२॥

भगवत्कार्यसिद्धये एवं प्रकारेण **तेषां सर्गो** निरूपितः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः, वैचित्र्यं विना रमणासिद्धेः. **तेषां फलम् अत्र निरूप्यते.** तेषां फलम् आहुः **भगवानेव** इति. धर्म-धर्मिणोः अभेदात् सर्वेषां धर्म-धर्मिरूपेण **भगवानेव फलम्. स यथा भुवि** भक्तानां गृहादौ हृदये च यथा **(आविर्भवेद्!)** प्रकटो भवेद् **गुण-स्वरूपभेदेन.** भक्तानां वा गुण-स्वरूपभेदेन. स्वरूपैकनिष्ठानां पुष्टिमार्गीयाणां **स्वरूपेण** आनन्दमात्र-करपादमुखोदरा- दिरूपेण प्रकटो भूत्वा फलं ददाति. धर्म-ज्ञानादि-परेषु **(गुणेन!)** धर्मादिरूपेण स्थित्वा यथा फलं ददाति **तथा** तत्तत् **फलं तेषां** भवति इति अर्थः. यद्वा **भगवान्** इति. **गुणाः** ऐश्वर्यादयो धर्माः, **स्वरूपं** धर्मि. **भगवान्** ऐश्वर्यादि-षड्गुणयुक्तो यस्य भक्तस्य अन्तःकरणे **यथा** येन भावेन **(आविर्भवेद्!)** प्रकटो भवति तत्प्रियं कर्तुं स्वरूपमेव तस्य **फलम्** इति अर्थः, **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्''** (भग.गीता.४।११) इति प्रतिज्ञानात्॥१६-१७॥

प्रमेय-प्रमाणलीले, तयोः प्रकारान् च अभिधाय भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुम् **आसक्तौ** इत्यारभ्य सार्धश्लोकत्रयेण समादधते. ननु भक्तिमार्गीयाणां कथम् अन्येन (शापेन) पराभवः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भगवानेव** इति. पुष्टिस्थस्य **लोके** लौकिके **आसक्तौ** सत्याम् **अथवा अहङ्कारे** जाते अनयोः भजने अन्तरायरूपत्वाद् **भगवानेव** अन्येन **शापं दापयति क्वचिदेव,** यथा चित्रकेतौ. **क्वचित्** स्वसामर्थ्यादिज्ञापनेन अहंकारादिकमेव दूरीकरोति, यथा अर्जुनादेः ब्राह्मणपुत्रानयनादौ, भक्ति**मार्गस्थापनाय. हि** यस्माद् अन्यथा अन्येऽपि बहिर्मुखाः स्युः. एवं भगवता स्वेषां शिक्षार्थं दण्डे कृते दण्डभयात्

ते भक्तिमार्गीयाः **पाषण्डतां न यान्ति** लोक-वेद-भक्तिमार्गविरुद्धाचरणं न कुर्वन्ति. विरुद्धाचरणाभावात् तेषां **रोगाद्युपद्रवो न** भवति. तर्हि भक्ताअपि साधारणजनतुल्याएव किम् इति आकांक्षायाम् आहुः **ते** भक्तिमार्गीयाः **महानुभावाः** प्रह्लादाम्बरीषादयइव, यदि ते शुद्धाः स्युः. **शुद्धत्वं** नाम भक्तिमार्गविरुद्धधर्मराहित्येन काय-वाङ्-मनोभिः तत्परत्वम्. तेषां शुद्धत्वप्रयोजकं **शास्त्रम्**. तच्छास्त्रं "**श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते, आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः**" (वाधूलस्मृ.१९५), "**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः, तस्य अहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः**" (भग.गीता.८।१४), "**मन्मना भव...**" (भग.गीता.९।३४,१८।६५) इत्यादि भगवद्वाक्यम्. तदुक्तं ये कुर्वन्ति ते शुद्धत्वाद् महानुभावाः भवन्ति इति अभिप्रायेण उक्तं **प्रायेण** इति. तत्र हेतुः **भगवद्** इति. "**ये भजन्ति तु मां भक्त्या**" (भग.गीता.९।२९) इति वाक्याद् भक्त्या भजनेन **(भगवत्तारतम्येन!)** यथा यथा षड्गुणयुक्तो भगवान् तेषां हृदये प्रविष्टः ऐश्वर्यादीन् प्रकटयति तथा तथा **तारतम्यं भजन्ति** उत्कृष्टाः भवन्ति इति अर्थः. लौकिकेषु इदानीं प्रसिद्धेषु (महेता) नरसिंहाख्यादिष्वपि प्रसिद्धिबोधको **हि**शब्दः ॥१८-१९ १/२॥

ननु एतादृशानां भगवद्भक्त्यैव सर्वसिद्धौ वेदोक्तकर्मकरणं लौकिककरणं च किमर्थम् इति आकांक्षायाम् आहुः उत्कृष्टानां भगवद्भक्तानां वेदोक्तकर्मकरणं लौकिकव्यवहारकरणं च "**सक्ताः कर्मणि अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत, कुर्याद् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्**" (भग.गीता.३।२५) इति भगवद्वाक्याद् लोकसंग्रहार्थमेव **(वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्!)** वेदोक्तकर्माणि लौकिकव्यवहारं च कापट्यं विधाय, स्वस्य बहिः कर्मासक्तिं दर्शयित्वा कुर्वन्ति, **न अन्यथा** इति अर्थः. तर्हि तेषां मुख्यः कर्तव्यो धर्मः कः इति आकांक्षायाम् आहुः **वैष्णवत्वं** भक्तिमार्गीयदीक्षापूर्वकं भगवद्भजनं

सहजम् आदरेण कर्तव्यो मुख्यो धर्मः. **ततो अन्यत्र** अन्यधर्मेषु एतद्**विपर्ययः** इति अर्थः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः, यो यस्य दासः तस्य तद्भजनमेव मुख्यो धर्मः इति॥२० १/२॥

(पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-मार्गेषु कर्मणां गहनया गत्या परिभ्रमन्तः एकस्मिन् मार्गे समागताः अतन्मार्गीयत्वेऽपि तन्मार्गीयत्वाभासं प्रकटयन्तः चर्षिण्यो जीवाः)

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे॥२१॥
'चर्षणी'शब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु॥
क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्॥

भक्तिमार्गीयाणां व्यवस्थाम् उक्त्वा तत्सम्बन्धिनाम् उदासीनानाम्, अन्येषां च, व्यवस्थाम् आहुः **सम्बन्धिनस्तु** इति श्लोकद्वयेन. भक्तिमार्गीय**सम्बन्धिनो** येतु अदीक्षिताः, **तथा (अपरे!)** भक्तिमार्गीयाऽसम्बन्धिनः **प्रवाहस्थाः** येच अदीक्षिताः **ते 'चर्षणी'शब्द-वाच्याः** सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलत्वात् **ते सर्ववर्त्मसु** सर्वेषु मार्गेषु **क्षणाद्** अल्पकालादेव **(सर्वत्वम् आयान्ति!)** तन्मार्गीयसंगं प्राप्य तन्मार्गधर्माचरणात् तन्मार्गीयसदृशाः भवन्ति. **नतु तेषां कुत्राऽपि रुचिः** स्नेहो अस्ति. **तेषां (क्रियानुसारेण सकलं फलम्!)** तत्तन्मार्गीयक्रियानु-रूपं कामितं फलं भवति इति अर्थः॥२१-२२ १/२॥

(प्रवाहमार्गे जीवा[ख/२/य]नां प्रभेदः)

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिं चे''ति वर्णिताः॥
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ-दुर्ज्ञविभेदतः॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ताः ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः॥

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥२५॥
सोऽपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता पुष्टिप्रवाहमर्यादा

लक्षण-प्रमाणाभ्याम् आसुरान् जीवान् आहुः **प्रवाहस्थान्** इत्यारभ्य श्लोकद्वयेन. (**प्रवाहस्थाः स्वरूपांगक्रियायुताः**!) प्रवाहएव तिष्ठन्ति स्वोदरपोषणमात्रपराः स्वरूपदेहक्रियातत्पराः, नतु धर्मादिपराः, **ते जीवाः आसुराः** ज्ञेया. तेच "**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च**" (भग.गीता.१६।७,१८।३०) इत्यादिना भगवता **वर्णिताः. ते** आसुराः **द्विप्रकाराः, अज्ञ-दुर्ज्ञ**भेदात्. **(भगवत्प्रोक्ताः**!) "प्रवृत्तिं च..." इत्यादिना उक्ताः **दुर्ज्ञाः**, तान् **ये अनु**सरन्ति = तदुक्तकारिणो भवन्ति तेतु **अज्ञाः** ॥२३-२४ १/२॥

ननु आसुराणामपि भक्तिः श्रूयते, सा कथं सम्भवति इति आशंकायां समाधानम् आहुः : वस्तुतो यस्य भक्तिः दृश्यते स आसुरजीवो न भवति किन्तु भगवदपराधेन भक्तापराधेन वेदादिनिन्दया वा **प्रवाहेऽपि समागत्य** प्राप्तोऽपि **तैः** प्रवाहस्थैः **न युज्यते** न मिलति. **तत्कुले जातोऽपि स** पुष्टिस्थः **तैः** प्रवाहस्थकुलधर्मैः **न युज्यते** न युक्तो भवति, "**न वै जनो जातु**" (भाग.पुरा.१।५।१९) इति वाक्यात्. तर्हि भक्तिमतः कथं प्रावाहिकेषु जन्म इत्यतः आहुः **कर्मणा जायते यतः** इति. **यतः** यस्मात् कारणात् भगवदपराधादिना प्रारब्धकर्मणा वा **जायते** उत्पद्यते. देहस्य कर्माधीनत्वाद् यादृशं कर्म तादृशो देहो भवति इति अर्थः ॥२३-२५ १/२॥

इति श्रीवल्लभाचार्यैः साधनादिविभेदतः ॥
मार्गाः प्रोक्ताः विचार्यैषु प्रविशन्तु फलार्थिनः ॥२॥
भक्त्या श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जयुगं प्रभून् ॥
प्रणम्य कृपया तेषां यत्नाद् भक्ताः सुखावहाः ॥३॥

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दसुतेन हि॥
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः कृतिना कृता॥४॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणकमलैकतान-श्रीकल्याणराय-
विरचिता
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृतिः समाप्तिम्
असर्पत्

(इतो ग्रन्थस्य अस्य 'ख'भागे २/र+ल अंशयोः ३ अंशस्य च तथैव 'ग'भागे '२/य-र-ल'-'३' अंशानापपि त्रुटिः उपलक्ष्यते).



।। सिद्धान्तरहस्यम् ।।

(श्रीमत्कल्याणरायकृत-विवृतिसमेतम्)

(नैकविधदोषग्रस्तेन हि जीवेन दोषाशंकालेशरहितो भगवान् कथं सेवनीयो भवेदिति चिन्तावारणार्थं भगवता प्रादुर्भूय समर्पणपूर्वकसेवायां दोषाणाम् अबाधकताबोधनम्)

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरशः उच्यते ।।१।।

फलात्मा फलसम्प्राप्त्यै प्रादुर्भूय स्वसेविनाम् ।।
साधनं स्वयमेवासीत् स कृष्णोऽस्तु मम प्रभुः ।।१।।

श्रीकृष्णेन अनेकजीवोद्धारार्थम् आज्ञप्तो अहम्. एते जीवाः स्वभावतो दुष्टाः धनाद्यासक्ताः दुष्टपदार्थैः व्याप्ताः. कथम् एतेषां दोषनिवृत्तिः उद्धारः च भविष्यति ? इति चिन्ताकुलान् श्रीवल्लभाचार्यान् विदित्वा भगवान् एकान्तसमये चिन्तानिवर्तकम् उपायम् उक्तवान्. ततः श्रीवल्लभाचार्याः भगवान् यस्मिन् मासे पक्षे दिवसे समये यथा यद् उक्तवान् तत्सर्वनिरूपणपूर्वकं भगवदुक्तम् अक्षरैः पद्यबन्धेन वक्तुं प्रतिजानते : श्रावणे मासे शुक्लपक्षे एकादश्याम् अर्धरात्रे प्रत्यक्षेण भगवता यत् प्रोक्तं तद् अक्षरैः पद्यबन्धेन कथ्यते इति अर्थः ।।१।।

(स्वात्मात्मीयानां परमात्मने समर्पणं ब्रह्मसम्बन्धेन भवति, तेनच पञ्च[१-५] विधदोषाणां भगवत्सेवायाम् अबाधकता)

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ।।२।।
सहजाः[१] देशकालोत्थाः[२-३] लोकवेदनिरूपिताः ।।

संयोगजाः[४] स्पर्शजा[५]श्च न मन्तव्याः कथञ्चन।।३।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन।।

तदेव आहुः. **'ब्रह्मसम्बन्धो'**नाम स्वमार्गाचार्यद्वारा भगवति निवेदनं, तत्**करणात्** पुनः स्वयं जीव-देहादीनां भगवति उपयोगकरणात् **सर्वेषां देहजीवा**दीनां **सर्वदोषनिवृत्तिः** भवति इति अर्थः. जीवस्य स्मरणादिना भगवति उपयोगः. देहस्य सेवादिना भगवति उपयोगः. अन्न-वस्त्रादीनां भगवद्भोगसम्पादकत्वाद् भगवति उपयोगः. **हि**शब्दः प्रमाणप्रसिद्धिद्योतकः. तत्र कानिचित् प्रमाणानि उच्यन्ते : **''मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानम्, उद्धव!, सर्वलाभोपहरणं दास्येन आत्मनिवेदनम्''** (भाग.पुरा.११।११।३५), **''भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्''** (भाग.पुरा.११।१४।२१), **''अपि चेत् सुदुराचारः''** (भग.गीता.९।३०), **''न तथाहि अघवान्, राजन्!, पूयेत तपआदिभिः यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पूरुषनिषेवया''** (भाग.पुरा.६।१।१६), **''किरातहूणान्ध्र...''** (भाग.पुरा.२।४।१८) इति, **''विप्राद् द्विषड्गुणयुतात्''** (भाग.पुरा.७।९।१०), **''यः कश्चिद् वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽपि अनाश्रमी पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिव उदितः''** (गरु.पुरा.१।२२७।१९), **''नहि खलु कलुषच्छविः/शशिकलुषच्छविः कदाचित् तिमिरपराभवताम्/विरमति नो रविताम् उपैति चन्द्रः, भगवति स/च हरौ अनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः''** (नृसिंहपुरा.९।५), **''धनं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णो अनर्थनिवारकः, गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तत् चेत् त्यक्तुं न शक्यते, कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः''** (पञ्चश्लो.१-२), पद्मपुराणे **''अम्बरीष नवं वस्त्रं फलम् अन्नं रसादिकं कृत्वा कृष्णोपयोग्यं हि सदा सेव्यं हि वैष्णवैः''** (पद्मपुरा. । ।) इत्यादि.

के ते दोषाः ? इति आकांक्षायाम् आहुः **दोषाः पञ्चविधाः**

स्मृताः इति. **सहजाः** शूद्रत्व-किरातादयः. **देशोत्थाः** दुष्टदेश-तज्जन्या-ऽन्नाद्युपभोगजन्याः. **कालोत्थाः** दुष्टकालसंसर्गजन्याः. ते **लोकवेदनिरूपिताः** बहवएव सन्ति. **संयोगजाः** दुष्टसहाऽऽसनादिजन्याः. **''संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नः ईशस्य योजयेत्''** (नि.ल.१२). ते दोषत्वेन **न मन्तव्याः कथञ्चन** लौकिक-वैदिकप्रकाराभ्यामपि. प्रकारान्तरेण जीवादीनां सर्वदोषनिवृत्तिः न भवति इति आहुः **अन्यथा...** ॥२-३१/२॥

(कृतात्मनिवेदनस्य [१]असमर्पितवस्तुत्यागः [२]समर्पितस्यैव उपभोगः [३]सामिभुक्तस्य असमर्पणम् इति त्रयो नियमाः)

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्[१]॥४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः[२]॥
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम्[३]॥५॥
तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्॥

पदार्थानां विनियोगप्रकारम् आहुः **निवेदिभिः** निवेदयितृभिः **सर्वं समर्प्य** स्वयं भगवदुपयोगादिकं **कुर्याद्** इति अर्थः. सर्वत्र उपयोगरूप-समर्पणे प्राप्ते क्वचित् निषेधम् आहुः. **देवाः** ब्रह्मादयः, तेषामपि **देवस्य** आराध्यस्य पुरुषोत्तमस्य **(सामिभुक्तस्य!)** अन्येन अर्धभुक्तस्य अवशिष्टस्य स्वोपभोगार्थं **समर्पणम्,** अथच स्मृत्यादौ लोके च यद् निन्दितं भुक्तं भोज्यं तस्य समर्पणं, भगवतो भक्तानां च **न सम्मतम्** अतो न कर्तव्यम् इति अर्थः. यस्माद् अन्यभुक्ताऽवशिष्टस्य भगवति समर्पणं निषिद्धं **तस्मात् सर्वेषु कार्येषु** कर्तव्येषु **आदौ** स्वोपभोगात् पूर्वमेव **सर्ववस्तूनां समर्पणं** कर्तव्यम् इति अर्थः. अतएव पुराणेषु **''विष्णोः निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरं, पितृभ्यः चापि तद् देयं तद् आनन्त्याय कल्पते, पितृशेषन्तु यो दद्यात् हरये परमात्मने,**

रेतोधाः पितरः तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः'' (। ।) इति ॥४-५ १/२॥

(लोके दासस्य स्वस्वीययोः यथा स्वामिने समर्पणमेव नतु दानमिति न दत्तापहारदोषाशंका)

दत्तापहारवचनं तथाच सकलं हरेः ॥६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ॥
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति ॥७॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ॥

ननु भगवते निवेदितस्य अन्नादेः ग्रहणे दत्तस्य अपहारो=ग्रहणं स्याद्, ''**अपि दीपावलोकं मे**'' (भाग.पुरा.११।११।४०) इत्यादिवाक्यैः निषेधात् च, कथं निवेदितस्य ग्रहणम् इत्यतः आहुः **दत्तापहारवचनं तथाच हरेः** सम्बन्धि **सकलं** निवेदितं **न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि (भिन्नमार्गपरं!)** भक्तिमार्गभिन्न-पूजामार्गमर्यादामार्ग-परम्. अत्र अयम् आशयः : निवेदनस्य नवविधभक्तौ उक्तत्वेन भक्तिरूपत्वाद् ''**दारान् सुतान्**'' (भाग.पुरा.११।३।२८) इति सार्धश्लोकेन भक्त्यर्थत्वात् च. पूजामार्गे निवेदनाभावात् तत्र भगवते निवेदनं दानमेव. निवेदने स्वस्वत्वनिवृत्तेः अभावात् निवेदितस्य भगवदुपभुक्तस्य उच्छिष्टस्य प्रसादत्वेन ग्रहणे बाधकाभावाद् विहितत्वात् च. दानस्य स्वस्वत्वनिवृत्ति-परस्वत्वापादनरूपत्वात् पूजामार्गे निवेदितग्रहणे दत्तापहारएव भवति. अतएव उक्तं गरुडपुराणे ''**पादोदकं पिबेत् नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद् हरेः शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम्**'' (गरु.पुरा. । ।). ब्रह्माण्डपुराणे ''**मुकुन्दाशनशेषन्तु यो हि भुंक्ते/भुनक्ति दिने दिने, सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्**'' (ब्रह्मा.पुरा...द्रष्ट. स्कन्दपुरा.७।४।४३।५). श्रीभागवते ''**त्वया उपभुक्त...**'' (भाग.पुरा.

११।६।४६) इत्यादि. अग्रे सर्वेषां दोषाभावार्थम् आहुः **(सेवकानां!)** स्वकीयानां भगवदीयानां लौकिक**व्यवहारो** यथा **प्र**कर्षेण **सिद्ध्यति** प्रकृष्टो भवति **तथा** सेवकैः **(सर्वेषां समप्र्यैव!)** पदार्थानां भगवदुपयोगं कृत्वैव सर्वं **कार्यम्.** एवं कृते स्वधर्मेण स्थितौ **ततः** तस्माद् व्यवहारादेव **ब्रह्मता** **''निर्दोषं हि समं ब्रह्म''** (भग.गीता.५।१९) इति ब्रह्मतुल्यता, निर्दोषत्वं, वैष्णवत्वेन समत्वमपि भवति इति अर्थः ॥६-७ १/२॥

(निखिलस्वात्मात्मीयानां भगवत्समर्पणेन सेवायां विनियोगौपयिकशुद्धिः भवत्येव)

गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥८॥
गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं सम्पूर्णम्

ननु ब्रह्मसम्बन्धकरणेऽपि दोषाणाम् अनुभूयमानत्वात् कथं निर्दोषत्वं समत्वं च इति आशंकां गंगादृष्टान्तेन परिहरन्ति. यथा गंगासम्बन्धेन गंगारूपत्वे सम्पन्ने तेषां जलानां तद्दोषाणां च गंगात्वेनैव व्यवहारः तथा ब्रह्मसम्बन्धे सम्पन्ने तेषां धर्माणां भगवदीयत्वेन निर्दोषत्वेनैव व्यवहारो भवति इति अर्थः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः — यो यत्र सम्बद्धः स तद्रूपो भवति ॥८ १/२॥

श्रीमत्कल्याणरायेण प्रणम्य स्वप्रभून् मुदा ॥
श्रीमदाचार्यसिद्धान्तरहस्यविवृतिः कृता ॥२॥



।। कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।।

(श्रीमत्कल्याणरायविरचित-प्रकाशोपेतम्)
(श्रीगोविन्दराजभट्टकृत-तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणोपेतम्)

प्रकाशः

यल्लीलालवसंस्पर्शाद् न रोचन्तेऽन्यदाशिषः ॥
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णम् आश्रये ॥१॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर् गोविन्दं विन्दते मुदा ॥
भक्त्याऽहं तान् निजाचार्यान् अभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥२॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुभक्तशेषं सुखकारिदेशम् ॥
पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेंकटेशं शरणं प्रपद्ये ॥१॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणे शरणे सताम् ॥
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥२॥

संस्पर्शाद् इति, सम्यक्सम्बन्धाद् इति अर्थः. सम्बन्धे सम्यक्त्वं च अत्र अन्यापरिभूतत्वम्. **अन्यदाशिषः** इति, नच अन्याः च ताः आशिषः च इति विग्रहे 'अन्याशिषः' इति भाव्यम् इति वाच्यम्, **''अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुगाशीराशाऽऽस्थाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु''** (पाणि.सू.६।३।९९) इति 'दुग्'-आगमात्. **राधाहृदयानन्ददायकम्** इति, राधाहृदयाय आनन्दं ददाति इति तथा. भगवत्सुखस्य आनन्दरूपत्वाद् न अनुपपत्तिः काचिद्, इतरथा अव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैव उचितत्वात्. अतएव उक्तं प्रेमामृतटीकायाम् **''आनन्दो अन्तःकरण-देहादिसर्वव्यापकः. सुखम् (किन्तु!) अव्याप्यवृत्तिः''** (प्रेमा.टी.३) इति. ननु **''आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि''** (तैत्ति.उप.३।६), **''विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म''** (बृह.उप.३।९।२८)

इत्यादिभिः श्रुतिभिः आनन्दस्य भगवद्रूपत्वात् स्वदायकः इति अर्थः पर्यवसन्नः इति चेद्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्य उचितत्वात्. एतेन अनयोः अभेदः संगच्छते. तद् उक्तम् आथर्वणीय-कृष्णोपनिषदि **''पूर्णप्रेमास्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा''** (? कृष्णोप. ।). तस्माद् न भिन्ना इति. **यत्कृपादृष्टितः** इति, स्वीयत्वेन परिग्रहाद् इति अर्थः. **अभिवन्दे** इति. **भक्त्या अर्थसिद्धये निजाचार्यान् अभिवन्दे** इति सम्बन्धः.

तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्य-नमस्काररूपं मंगलं करोमि इत्येतद्वाक्यार्थः. सेवातु अत्र नमनादिरूपा. नच प्रेमविशिष्टसेवया इति वक्तुम् उचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्. तथाच उक्तम् अस्मदाचार्यैः निबन्धे : **'''भक्ति'शब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा''** (त.दी.नि.प्र.२।९२) इति. तत्त्वार्थदीपेतु **''प्रेमसेवातः''** (त.दी.नि.२।९२) इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा **''प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थो विशेषणम्''** (द्रष्ट.पाणि.व्या.परि.६१) इति न्यायविरोधः स्यात्. वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात्. एतद् उक्तं विवरणे **''प्रकृति-प्रत्ययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्''** इति सामान्यन्यायाद् इच्छाविषयतया शब्दबोध्यएव शाब्दसाधनतान्वयःइति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीय-स्त्वाद् 'अश्वेन जिगमिषति','असिना जिघांसति' इत्यादिलौकिकप्रयोगे अश्वादिरूपसाधनस्य 'तद् अन्वेष्टव्यं', 'तद् विजिज्ञासितव्यं', 'मन्तव्यम्' इत्यादिवैदिकप्रयोगे 'तव्या'ऽर्थभूतविधेः च 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषयएव गमनादौ अन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् च. प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोगः इति. ननु **''भावे''** (पाणि.सू.३।३।१८) इति अधिकारात् प्रत्ययार्थस्य भावत्वम् उचितं नतु प्रेमत्वम् इति चेद्, अत्र

[लोकाश्रय[क]-वेदाश्रय [ख]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षण्णां धर्माङ्गानां काल[१]-देश[२]-द्रव्य[३]-कर्तृ[४]-मन्त्र[५]-कर्मणाम्[६] सम्प्रति असाधकता कर्म[च]-ज्ञान[छ]-भक्ति[ज]-प्रपत्ति[झ]मार्गानुसारेणापि श्रीकृष्णाश्रयस्यैव कर्तव्यतानिरूपणम्.]

प्रकाशः

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात् स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति. तत्र अधुना देशादि-षट्साधनानाम् असाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपः चतुर्विधपुरुषार्थरूपःइति, दशलीलानिरूप्यःइति, दशविध-भक्तसेव्यःइति, प्राणानामिव अस्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति.

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

उच्यते : भावार्थकत्वन्तु प्रत्ययस्य तावद् उभयवादिसिद्धमेव. तत्र 'भाव'शब्देन देवादिविषयिणी रतिः...(इह ग्रन्थत्रुटिः) **(दशलीलानिरूप्यः) :** [१]प्रकृतेः सर्गः, [२]पुरुषाद् ब्रह्मादीनाम् उत्पत्तिः विसर्गः, [३]उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानं, [४]स्थितानाम् अभिवृद्धिः पोषणं, [५]पुष्टानाम् आचारः ऊतिः, [६]तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरं, [७]तत्रापि विष्णुभक्तिः ईशानुकथा, [८]भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः, [९]निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः, [१०]मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थानम् आश्रयः इति. **दशविधभक्तसेव्यः** इति : [१]सात्त्विकसात्त्विकाः, [२]सात्त्विकराजसाः, [३]सात्त्विकतामसाः, [४]राजसराजसाः, [५]राजससात्त्विकाः, [६]राजसतामसाः, [७]तामसतामसाः, [८]तामसराजसाः, [९]तामससात्त्विकाः, [१०]एके निर्गुणाः इत्येतैः दशविधैः भक्तैः सेव्यः इति अर्थः. **प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्ति** इति, **''किम् आसनं ते गरुडासनाय''** (गरु.पुरा.३।७।३६) इत्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैव उचितत्वाद् इति भावः.

(लोकाश्रय[क]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्-विधधर्मांगेषु काल[ङ]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ[ङ] च खलधर्मिणि।।
पाषण्डप्रचुरे लोके[क] कृष्णएव गतिर्मम।।१।।

प्रकाशः

तत्र प्रथमं मुख्यांगत्वात् कालस्य तत्र असाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकम् आश्रयं प्रार्थयन्ते **सर्वमार्गेषु** इति. **कलौ खलधर्मिणि** खलो = अन्तर्दुष्टो धर्मः तद्वति सति. **खरधर्मिणि** इति पाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सति इति अर्थः. ''**कृषिः भूवाचकः...**'' (गो.पू.ता.उप.१) इति वाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम**एव मम** गम्यते इति **गतिः** आश्रयः ऐहिकपारलौकिकार्थसाधको अस्तु इति शेषः. खलधर्मम् आहुः **लोके** जने **पाषण्डः प्रचुरः** सर्वापेक्षया अधिको यस्मिन् तादृशे सति. अतएव **सर्वे** मृग्यन्ते इति **मार्गाः** पुरुषार्थोपायाः कर्म-ज्ञानादयः तेषु **नष्टप्रायेषु** सत्सु. पाषण्डप्रवेशाद् आत्मसुखवाचक-'स्वर्ग'पदस्य लोकभ्रमजननात् चित्तशुद्ध्यजननात्

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

(गतिः) गम्यते प्राप्यते इति अर्थः. ननु ''**भावे**'' (पाणि.सू.३।३।१८) इति अधिकारात् कथम् अत्र कर्मणि प्रत्ययः इति चेत्, सत्यम्. ''**कृत्यल्युटो बहुलम्**'' (पाणि.सू.३।३।११३) इत्यत्र 'बहुलम्' इति योगविभागात् तथा. अतएव ''**एवञ्च बहुलग्रहणं योगविभागेन 'कृद्'मात्रस्य अर्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः कर्मणि 'ण्वुल्'**'' (पाणि.सू.सि.कौ.३।१।१३३) इति वैयाकरणशिरोमणयः. **पाषण्डः** इति, वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम्. **आत्मसुखवाचक...**इति. ''**यद् न दुःखेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तम् अनन्तरम् अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं 'स्वः'पदास्पदम्**'' (. । ।) इत्यनेन

कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाद् ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वांगीकाराद् योगस्य, विभूतिपरत्वाद् उपासनामार्गस्य च मुख्यफलासाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम्. 'च'काराद् महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सत्सु.

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

'स्वर्ग'पदस्य आत्मसुखवाचकत्वाद् इति अर्थः. **लोकभ्रमजननाद्** इति, लोकत्वेन भ्रमजननाद् इति अर्थः. **मायावादाभिनिवेशाद्** इति, विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनाद् इति अर्थः. विवर्तस्तु अतात्त्विको अन्यथाभासः. यद्वा वस्तुनः तदसमसत्ताको विवर्तः. अथवा कारणविलक्षणो अन्यथाभावो विवर्तः. कारणभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः इति वा. **निरीश्वरत्वांगीकाराद् योगस्य** इति, निर्बीजयोगांगीकाराद् इति अर्थः. योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः. सतु भगवद्ध्यानार्थम् अंगत्वेन उपयुक्तः एकः. ध्यानाभावेऽपि आत्मबोधांगभूतो द्वितीयः. उभावपि प्रामाणिकौ. यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तः, तथासिद्धिहेतुः ज्ञानात्मा वा, तथा अन्ये देहेन्द्रियादिसाधकाः, ते अप्रामाणिकाः. सर्वम् एतच्च निबन्धे स्पष्टम्.

कलिकालानुगुणेषु इति,

> **''द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु,**
> **स्वागमैः कल्पितैः त्वञ्च जनान् मद्विमुखान्**
> **कुरु; मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिः एषा**
> **उत्तरोत्तरा''**
>
> (पद्मपुरा.६।७१।१०६-१०७)

इत्यादि पद्मपुराणाद्युक्तवचनैः महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वाद् इति अर्थः. **अन्यार्थकत्वाद्** इति. अत्र प्रमाणभूताः **''शुभिके शिरे आरोह शोभयन्ती मुखं मम''**, **''ममाग्ने वर्चो विहवेषु अस्तु''** (बोधा.श्रौ.सू.१७।४२, १०।५५) इत्यादयः आगमाः अनुसन्धेयाः इति

प्रकाशः

'एव'कारस्य विशेष्यान्वितत्वेन अन्ययोगव्यवच्छेदकत्वाद् अंशः कलादिः वा गतिः मा अस्तु इति अर्थः. अन्यार्थकत्वाद् अस्य सिद्धत्वेऽपि प्रार्थनं न दोषाय. ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वाद् गृहाद्यासक्तिमत्त्वाद् लौकिकक्रियापरत्वात् पापसम्भवात् च भक्तिमार्गस्य कथम् उद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं च इति कर्मादितुल्यत्वात् किम् आश्रयेणापि इति चेद्, मा एवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदूषणानाम् अभावात्.

तथाहि **''कलेः दोषनिधेः''** इति, **''कलौ तद्धरिकीर्तनाद्''** इति, **''कलिं सभाजयन्ति''** इत्यादिवाक्यैः बाधकत्वाभावाद् अल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात्. **''शृण्वन् गृणन्...''**,**''मद्वार्तायातया-**

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

भावः. **''कलेः दोषनिधेः''** इत्यारभ्य **''अभवोऽपि फल्गुः''** इत्यन्तानां वचनानां संग्रहः :

> **''कलेः दोषनिधेः राजन् अस्ति हि एको महान् गुणः, कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः/मुक्त-संगः परं व्रजेत्, कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः, द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनाद्''**
>
> (भाग.पुरा.१२।३।५१-५२).
>
> **''कलिं सभाजयन्ति आर्याः गुणज्ञाः सारभागिनो, यत्र संकीर्तनादेव/संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोपि लभ्यते/सर्वस्वार्थो अभिलभ्यते''**
>
> (भाग.पुरा.११।५।३६).
>
> **''शृण्वन् गृणन् संस्मरयन् च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मंगलानि ते, क्रियासु यः**

मानां न बन्धाय गृहाः मताः'', ''तावद् रागादयः स्तेनाः'' इत्यादिवाक्यैः भगवत्परत्वे गृहादेः बन्धहेतुत्वाभावात्. ''एवं नृणां क्रियायोगाः'' इत्यादिवाक्यैः लौकिकक्रियायाआपि अलौकिकतुल्यत्वात्. ''मत्कर्म कुर्वताम्...'' इत्यादिवाक्यैः भगवत्सेवादिना विहिताकरणेऽपि प्रत्यवायाभावात्. ''धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः'', ''ते मे न दण्डम् अर्हन्ति''

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तो न भवाय कल्पते''

(भाग.पुरा.१०।२।३७).

''गृहेषु आविशतां वापि/चापि पुंसां कुशलकर्मणां, मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः''

(भाग.पुरा.४।३०।१९).

''तावद् रागादयः स्तेनाः तावत् कारागृहं गृहं, तावत् मोहो अंघ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः''

(भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।३६).

''एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः, तएव आत्मविनाशाय/त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे''

(भाग.पुरा.१।५।३४).

''मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद् यदि, तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः''

(. । ।).

''स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः, विकर्म यच्च उत्पतितं कथञ्चिद्

इत्यादिवाक्यैः कदाचित् पातकसम्भवेऽपि नरकाद्यभावात् कीर्तनादिनैव पापनाशात्. ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'', ''अपि चेत् सुदुराचारः'', ''यः कश्चिद् वैष्णवो लोके'', ''यान् आस्थाय'' इत्यादिवाक्यैः

धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः''

(भाग.पुरा.११।५।४२).

''एवं विमृश्य सुधियो भगवति अनन्ते, सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगं, ते मे न दण्डम् अर्हन्ति अथ यदि अमीषां, स्यात् पातकं तदपि हन्ति उरुगायवादः, ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः, तान् न उपसीदत हरेः गदया अभिगुप्तान्, न एषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे''

(भाग.पुरा.६।३।२६-२७).

''सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच''

(भग.गीता.१८।६६).

''अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः''

(भग.गीता.९।३०).

''यः कश्चिद् वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽपि अनाश्रमी, पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिव उदितः''

(गरु.पुरा.१।२२७।१९).

''यान् आस्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत

आचाराद्यभावेऽपि फलसिद्धेः. ''धर्मः सत्यदयोपेतः'', ''धर्मः स्वनुष्ठितः'', ''नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितं'' ''यमादिभिः योगपथैः'', ''श्रेयःस्रुतिम्'' इत्यादिवाक्यैः, ''यथा समस्तलोकानां/जलौकसां नित्यं

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

कर्हिचिद्, धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेद् न पतेद् इह''

(भाग.पुरा.११।२।३५).

''धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता, मद्भक्त्यापेतम् आत्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि''

(भाग.पुरा.११।१४।२२).

''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यो, न उत्पादयेद् यदि रतिं श्रमएव हि केवलम्''

(भाग.पुरा.१।२।८).

''नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानम् अलं निरञ्जनं, कुतः पुनः शश्वद् अभद्रम् ईश्वरे नच अर्पितं कर्म यदपि अकारणम्''

(भाग.पुरा.१।५।१२).

''यमादिभिः योगपथैः कामलोभहतो मुहुः, मुकुन्दसेवया यद्वत् तथा आत्मा अद्धा न शाम्यति''

(भाग.पुरा.१।६।३६).

''श्रेयःस्रुतिं/श्रेयःसृतिं भक्तिम् उदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये, तेषाम् असौ क्लेशलएव शिष्यते न अन्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्''

(भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।४).

जीवनं सलिलं मतं/स्मृतं, तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिः इष्यते'' (बृह.नार.पुरा.४।४) इति बृहन्नारदीयवाक्यात् च भक्तिरहितानां कर्मादीनाम् असाधकत्वाद्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात्. ''यत् कर्मभिः यत् तपसा'', ''चतुर्विधाः'', ''अकामः'', ''ज्ञाने प्रयासम् उदपास्य'', ''किम् अलभ्यं...'', ''रूपम् आरोग्यम् अर्थान्...'' इत्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात्. ''परिनिष्ठितोऽपि

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''यत् कर्मभिः यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतः च यद्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिः इतरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा''

(भाग.पुरा.११।२०।३२).

''चतुर्विधाः भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो अर्जुन, आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ''

(भग.गीता.७।१६).

''अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामः उदारधीः, तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्''

(भाग.पुरा.२।३।१०).

''ज्ञाने प्रयासम् उदपास्य नमन्तएव, जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्तां, स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः, ये प्रायशो, अजित!, जितोपि असि तैः त्रिलोक्याम्''

(भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।३).

''किम् अलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने, तथापि तत्पराः, राजन्!, नहि वाञ्छन्ति किञ्चन''

(भाग.पुरा.१०।३६।२).

''रूपम् आरोग्यम् अर्थान् च भोगान् चैव

नैर्गुण्ये...'', ''आत्मारामाः च...'', ''न एकात्मतां'', ''महतां मधुद्विड्...'' इत्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात्. अधुना कर्मादीनाम् अधिकाराणां गतत्वाद् भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्य अधिकारत्वेन अधिकारिकृतस्यैव सफलत्वाद् अत्र अधिकारभेदेन गौण-मुख्य-फलसम्भवात्.

एतद् उक्तं तत्त्वार्थदीपे ''अधुना ह्यधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ, कृष्णः चेत् सेव्यते भक्त्या कलिः तस्य फलाय

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

आनुषंगिकान्, ददाति ध्यायतो नित्यम् अपवर्गप्रदो हरिः''

(. । ।).

''परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया, गृहीतचेता राजर्षे! आख्यानं यद् अधीतवान्''

(भाग.पुरा.२।१।९).

''आत्मारामाः च मुनयो निर्ग्रन्थाअपि उरुक्रमे, कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः''

(भाग.पुरा.१।७।१०).

''न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः, ये अन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि''

(भाग.पुरा.३।२५।३४).

''महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः''

(भाग.पुरा.५।१४।४४)

इति.

हि'' (त.दी.नि.१।१९) इति, भक्तिसाध्यफलस्य अन्येन असम्भवाद् अन्यसाध्यस्य भक्तेः आनुषंगिकत्वाद् न कर्मादितुल्यत्वगन्धोऽपि. ननु पूर्णभक्तिमार्गस्य आधिक्येऽपि इह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वम् इति चेद्, न, ''स्मर्तव्यः...'', ''स्मृतेः...'', ''कृष्ण कृष्ण...''

भक्तिसाध्यफलस्य इति, भगवत्स्वरूपप्राप्तेः इति अर्थः. तद् उक्तम् अस्मत्प्रभुभिः भक्तिहंसे ''**भक्तौच न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्**'' (भ.हं.) इति. ''**स्मर्तव्यः**'' इत्यारभ्य ''**तदभावाद्**'' इत्यन्ते वचनानितु :

> ''स्मर्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्, सर्वे विधिनिषेधाः स्युः एतस्यैव च किंकराः/विधिंकराः''
>
> (पद्मपुरा.६।७१।१००).
>
> ''स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते, पुरुषं तम् अजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्''
>
> (विष्णुपुरा.५।१७।१७).
>
> ''कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशो, जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकाद् उद्धरामि अहम्''
>
> (पाण्डवगीता ३६).
>
> '' 'कृष्णे'ति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते, भस्मीभवन्ति, राजेन्द्र!,/सद्यस्तु महापातक-कोटयः''
>
> (ब्रह्मवै.पुरा.४।१११।३८-३९).

प्रकाशः

इति, ''**न वै जनो जातु...**'', ''**कृष्ण...**'' इति, ''**आलोड्य...**'' इत्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि फलसाधकत्वाद् अन्यस्य तदभावाद् अलम् उक्तिभिः ॥१॥

(लोकाश्रय[क]वैफल्यनिरूपणपूर्वकंकृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणायषड्विध-धर्मांगेषु देश[२]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु[२] पापैकनिलयेषु च ॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''**नवै जनो जातु कथञ्चन आव्रजेत् मुकुन्दसेव्यन्यवद् अंग संसृतिं, स्मरन् मुकुन्दांघ्र्युपगूहनं पुनः विहातुम् इच्छेद् न रसग्रहो यतः/जनः**''

(भाग.पुरा.१।५।१९).

''**आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः, इदम् एकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा**''

(लिंगपुरा.२।७।११-१२)

इति.

तत्र नवविधा भक्तिः निदानं, ततः प्रेम, तेनच विशिष्टरूप-भगवत्प्राप्तिः सैव फलम् इति फलसहित-पूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम्. अतएव सर्वनिर्णये ''**स ज्ञानक्रियोभययुतः सएव (च) फलं, तत्रापि साधनं (च) प्रेमैव, तत्साधनं नवविधा भक्तिः**'' (त.दी.नि.प्र.२।२२०) इति श्रीमदाचार्यवर्याः. तथाच **सामिकृतस्यापि** स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि काय-वाग्विनियोग-स्नेहाभावेऽपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा **फलसाधक**त्वम् इति स्पष्टएव इतरेभ्यः उत्कर्षः. तथाच उक्तं निबन्धे ''**कायवाग्विनियोगाभावेऽपि स्नेहाभावेऽपि मनोमात्रस्थितौ फलम् एतद्**'' (त.दी.नि.प्र.२।२१८) इति. कर्ममार्गस्यतु न तथा, सांगाद् वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावनियमाद् इति तत्त्वम् ॥१॥

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु[क] कृष्णएव गतिर्मम ॥२॥

प्रकाशः

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमिति इतरव्यवच्छेदपूर्वकम् आश्रयप्रार्थनम्? इति आशंक्य देशानाम् असाधकत्वं वदन्तः आश्रयं प्रार्थयन्ते **म्लेच्छाक्रान्तेषु** इति, **देशेषु** हीनैः आक्रान्तेषु सत्सु. ननु म्लेच्छाअपि न्यायवर्तिनः चेत् तदा को दोषः? तत्र आहुः **पापैकनिलयेषु** इति. पापरूपाएव ते, तदेकनिलयेषु. पापाः ये मुख्याः तन्निलयेषु, पापस्य वा. अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अंग-बंगादिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनःसंस्कारसम्भवः. ननु लोकाः वणिजादयः समीचीनाः चेत् पापैः किं कार्यम् अतः आहुः **सद्...** इति. साधूनां पीडया **व्यग्राः** स्वधर्माचरणमेव अनिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वाद् न कार्यम् उत प्राकृतं कर्म वा इति व्याकुलाः **लोकाः** येषु. सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावात् तेऽपि सहायाः न भवन्ति इति अर्थः. **''अहो अमीषां किम् अकारि शोभनं, प्रसन्नः एषां स्विद् उत स्वयं हरिः, यैः जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः''** (भाग.पुरा.५।१९।२१) इत्यादिवाक्यैः देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात्. शेषं पूर्ववत् ॥२॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

पापाः ये मुख्याः इति. फलितार्थकथनम् एतद्, इतरथा विशेषणसमासे **''पूर्वकालैक...''** (पाणि.सू.२।१।४८) इत्यनेन 'एक'शब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात्. विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्याः इति. **यत्र गमनमात्रेण पुनःसंस्कारसम्भवः** इति. **''अंग-बंग-कलिंगेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च, तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनस्संस्कारम् अर्हति''** (. । ।) इत्यनेन तथा इति अर्थः ॥२॥

(लोकाश्रय[क]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विध-धर्मांगेषु द्रव्यं[३] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

गंगादितीर्थ[३]वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह[क] ।।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्णएव गतिर्मम ।।३।।

प्रकाशः

ननु गंगादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेण ? इति आशंक्य द्रव्याणाम् असाधकत्वं वदन्तः तीर्थानाम् आहुः **गंगादि** इति, गंगादीनि[१] यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेव आवृतेषु सत्सु. अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः. ननु कथं दुष्टैरेव आवृतत्वं, तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वाद् ? न, अतिपरिचयाद् अनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्युपाधिभिः अवस्थानात् च तेषामपि दुष्टत्वमेव. ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वम् असम्भवि[२] इति चेद्, न, **''सर्वेण गांगेन जलेन सम्यङ् मृत्स्नाशतेनापि/मृत्पर्वतेनापि अथ भावदुष्टः आजन्मतः/आजन्मनः स्नानपरोपि/स्नानपरः नित्यं/मनुष्यो न शुद्ध्यति इत्येव वयं**

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

द्रव्याणाम् असाधकत्वं वदन्तः तीर्थानाम् इति. तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मका-ऽऽध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वम् इति भावः. अतएव उक्तम् अस्मत्प्रभुभिः निबन्धे **''*द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वम्*/द्वितीयं च प्रवाहरूपतया तीर्थरूपत्वम्''** (त.दी.नि.प्र. ३।५।९१) इति. यादवकोशेऽपि **''तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेषु अम्भसि पावने''** (यादवप्रकाशाचार्यकृत.वै.को.६।३।१३) इति. उक्तञ्च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं **''कालिन्दीति समाख्याता''** (भाग.पुरा.१०।५५।२२) इत्यस्य व्याख्याने **''आध्यात्मिकं देवतारूपम्''**

---

१. क्वचित् पुल्लिंगपाठः. २. असम्भावितम् इति पाठः. *-* चिह्नांकितः श्रीकल्याणरायाणां पाठे.

वदामः'' (आदि.पुरा. ?/ द्रष्ट.शिवपुरा.५।२३।२१) इति आदित्यपुराणवचनात्, ''**मत्स्य-कच्छप-मण्डूकाः तोये मग्नाः दिवानिशं, वसन्तोऽपि च ते स्नानात् फलं न अर्हन्ति कर्हिचित्**'' (बृह.यो.याज्ञ.स्मृ.परि.१।९१), ''**श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत् कर्म क्रियते नृभिः, शुचि शुद्धेन भावेन तद् आनन्त्याय कल्पते**'' (बृह.यो.याज्ञ.स्मृ.परि.१।११४), ''**विधिहीनं भावदुष्टं कृतम् अश्रद्धया च यत्, तद् हरन्ति असुराः तस्य सुमूढस्य अकृतात्मनः**'' (बृह.यो.या.स्मृ.परि.१।१०९) इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, ''**अश्रद्दधानः पापात्मा/पापायुः नास्तिको अच्छिन्नसंशयो हेतुनिष्ठः च पञ्च एते न तीर्थे फलभागिनः**'' (वायुपुरा ?/ द्रष्ट.ब्रह्मा.पुरा. २।१३।१३५-१३६) इति वायुपुराणवचनात् च. ''**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि**'' इत्यादिभिः च तेषां भगवद्बाहिर्मुख्य-नास्तिक्यादिदोषानिवारकत्वात्. ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथम् एतत्, नहि अग्निः कदाचिद् न दहति! इति आशंक्य आधिदैविकदेवतारूप-तिरोधानाद् वस्तुनएव अभावाद् इति आहुः **तिरोहिताधिदैवेषु** इति. दुष्टान् प्रति आधिदैवतिरोधानात् सतः प्रत्येव प्राकट्यात्. अतएव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे ''**तीर्थादावपि**'' इति. अतएव सतां ''**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि**'' इत्यनेन तीर्थीकरणम् उच्यते. आधिदैविकभावे जले दृश्यमानदोषाभावात् किं तीर्थीकरणं स्यात्! शेषं प्राग्वत्॥३॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

(सुबो.१०।५५।२२) इति. ''**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि**'' इति वचनत्रयाणि : ''**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखं, न निष्पुनन्ति राजेन्द्र! सुराकुम्भमिव आपगाः**'' (भाग.पुरा.६।१।१८). ''**तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत्, कृष्णप्रसादयुक्तस्य न अन्यस्य इति विनिश्चयः**'' (त.दी.नि.१।४७). ''**भवद्विधाः भागवताः तीर्थीभूताः/तीर्थभूताः स्वयं प्रभो/विभो, तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता**'' (भाग.पुरा.१।१३।१०) इति॥३॥

(वेदाश्रय[ख]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्मिंगेषु कर्तुः[४] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

अहंकारविमूढेषु सत्सु[ख] पापानुवर्तिषु ।।
लाभपूजार्थयत्नेषु[४] कृष्णएव गतिर्मम ।।४।।

प्रकाशः

ननु कर्तृसमीचीनत्वे[१] सर्वफलसिद्धेः किम् आश्रये अन्यव्यवच्छेदेन ? इति आशंक्य कर्तृणाम् असाधकत्वं वदन्तः आश्रयं प्रार्थयन्ते **अहंकारविमूढेषु** इति. **सत्सु** पण्डितेषु **अहंकारेण** वयं शास्त्रज्ञाः इति गर्वेण अन्यं पृच्छन्त्यपि न इति मायावादाद्यभिनिवेशाद् **विशेषेण मूढेषु** सत्सु. ज्ञानवत् कृतिरपि तेषां दुष्टा इति आहुः **लाभपूजार्थयत्नेषु** इति. लाभ-पूजार्थमेव यत्नो येषाम्. ते पारमार्थिकमपि कर्म लाभ-पूजाभ्यामेव कुर्वन्ति. पापवान् पुंसः पापं वा अनुवर्तन्ते अतः संगा-ऽन्नदोषाभ्यां दुष्टत्वाद् न तेषां स्वतः फलसिद्धिः. आश्रयेतु भगवत्कृपायां स्वतएव वेदार्थ-स्वदोषयोः स्फुरणात् फलसिद्धिः, भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात्. शेषं सुगमम् ।।४।।

(वेदाश्रय[ख]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विधधर्मिंगेषु मन्त्रस्य[५]स्य सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रे[५]ष्वव्रतयोगिषु ।।
तिरोहितार्थदेवेषु[ख] कृष्णएव गतिर्मम ।।५।।

प्रकाशः

पूर्ववद् आशंक्य मन्त्राणाम् असाधकत्वं वदन्तः आश्रयं प्रार्थयन्ते **अपरिज्ञाननष्टेषु** इति. मन्त्राः वैदिकाः आगमोक्ताः च. तेषु **अपरिज्ञाननष्टेषु** अपरिज्ञानेन = तात्पर्य-फल-देवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु. वैदिकानां

१. कर्तृसमीचीनत्वेन इति ख-ग.

गुरुकुलवास-ब्रह्मचर्य-शूद्रासन्निध्यनध्यायराहित्य-पूर्वकं पठितानां साधकत्वेन, अव्रतयोगिनाम् असाधकत्वात्. आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेन अर्थ-देवयोः तिरोभावाद् असाधकत्वात्. भगवदाश्रये तु "**यस्य स्मृत्या**" (नार.पुरा.१।१७।१०८) इत्यादिवाक्यैः सर्वं सम्पूर्णतां याति इति मन्त्राणामपि साधकत्वात्॥५॥

(वेदाश्रय[ख]वैफल्यनिरूपणपूर्वकं कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय षड्विध-धर्मांगेषु कर्मणः[६] सम्प्रति असाधकतानिरूपणम्)

नानावादविनष्टेषु सर्व-कर्म[६]-व्रतादिषु[ख]॥
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम॥६॥

प्रकाशः

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारात् कर्मभिरेव फलसिद्धेः किम् आश्रयेण? इति आशंक्य कर्मणाम् असाधकत्वं वदन्तः आश्रयं प्रार्थयन्ते **नानावादविनष्टेषु** इति. कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च. तेषु सर्वेषु "प्रपञ्चः सर्वोऽपि मिथ्या इति वेदानामपि तथात्वात् प्रपञ्चवत् स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्बोधितानां च व्यवहारमात्रेण प्राधान्याद् न किञ्चित् कर्तव्यं प्राप्तव्यं वा अस्ति" इति केषाञ्चिद् वादः. "**परमेष्ठिनो वा एषः यज्ञो अग्रे**" (तैत्ति.संहि.१।६।९।२) इत्यादिवाक्यैः "ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेव उत्कर्षात् पूर्ववासनातएव उत्तरोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं, तेनैव फलं, न कोपि उपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतनाः नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवताप्रीतिः व्यापारः फलं वा" इति केषाञ्चिद् वादः. "शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभावएव फलं, न भगवान् सेव्यः फलं वा" इति केषाञ्चिद् वादः. "प्रकृति-तद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेण अवस्थानं फलं, न भगवान्" इति केषाञ्चित् मतम्. एवंविधैः **नानावादैः विशेषेण**

नष्टेषु सत्सु. विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद् विनाशः. वस्तुतः **''पुरुषएव इदं सर्वम्''** (ऋक्.संहि.१०।९०।२), **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं''** (छान्दो.उप.६।८।७), **''सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः''** (बृह.उप.४।४।२२), **''एष उ एव तं साधु कर्म कारयति''** (कौषी.उप.३।८). **''अहं सर्वस्य प्रभवः''**, **''को नु राजन् इन्द्रियवान्''**, **''देवो असुरो मनुष्यो वा''**, **''फलम् अतः उपपत्तेः''** (ब्र.सू.३।२।३८), **''ते तृप्ताः तर्पयन्ति एनम्''** (याज्ञ.स्मृ.१।४७) इति, **''देवाः वै सत्रम् आसते''** (तैत्ति.संहि.२।३।३।१), **''विशते तदनन्तरम्''**, **''मामैव एष्यसि''**, **''आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्/विद्वान्''** (तैत्ति.उप.२।४) इत्यादि श्रुति-स्मृति-पुराण-न्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात् सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद् भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात् प्रवर्तकत्वात् फलदातृत्वात्, तृप्तिसत्रकरणा*द्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्, भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वाद्, आनन्दरूपत्वेन भगवतएव फलरूपत्वात्, पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात्. स्वमताग्रहेणैव निषिद्ध-दशम्यादिविद्धैकाश्यादि-व्रतकरणात् च. कर्मत्वेऽपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय.

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

प्रलपितकल्पत्वाद् इति. यत्तु शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये **''देवता वा प्रयोजयेद् अतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वाद्''** (जै.पू.मी.सू.९।१।६) इति अधिकरणे *'**''यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिगृह्य भुक्त्वा व्रजति, प्रसीदति च, तथापि यागादेव फलं; विग्रहवती च अनित्या स्यात्. ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यात्. सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो अशक्यो अभ्युपगन्तुम्. नच अभुञ्जाना प्रसीदति इति युक्तम्. अतएव अप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवताप्रसादे वा फलम् इत्येतदपि निरस्तम्. नहि तस्याः प्रसादः सम्भवति इति**

---

* अथ तृतीये अनुवाके यज्ञविभ्रष्टादीनाम् इष्टयो विधातव्याः तत्र आदौ यज्ञविभ्रष्टेष्टिं विधातुं प्रस्तौति ''देवाः वै सत्रम् आसत्'' इति — तैत्ति.संहि.साय.भा.२।३।३।१.(सम्पा.)

उक्तम्'' (शास्त्रदीपिका.९।१।६)* इति पार्थसारथिमिश्राः तत् प्रौढिवादमात्रमेव. तथाहि — यद् उक्तं ''विग्रहवती च अनित्या स्यात् ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्याद्'' इति तद् अपेशलम्, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषयत्वाद्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य ''**तृप्तएव एनम् इन्द्रः प्रजया पशुभिः तर्पयति**'' (बोधा.श्रौ.सू.१७।४८) इत्यादिश्रुत्युक्तत्वात् च. मुख्यार्थाबाधेन न श्रुतेः उपचरितार्थत्वम्. अर्थवादानां स्वतःप्रामाण्यं, नतु विध्येकवाक्यतया. एतेन अस्मिन्नेव अधिकरणे यत् शाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत् स्वमताग्रहमात्रमेव.

प्रकृतम् अनुसरामः. यदपि ''सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो अशक्यो अभ्युपगन्तुम्'' इति तदपि अविचाररमणीयं, विश्वादीनामपि प्रत्यक्षभोगाभावत्वेन ''**सर्वमनुष्याः विष्णुना अशितम् अश्नन्ति**'' (. । ।) इति श्रुतौ, ''**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति, तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः**'' (भग.गीता. ९।२६) इति स्मृतौ, ''**विष्णोः निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरं, पितृभ्यः चापि तद् देयं तद् आनन्त्याय कल्पते**'' (. । ।), ''**पितृशेषन्तु यो दद्याद् हरये परमात्मने, रेतोधाः पितरः तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः**'' (स्कन्दपुरा. - । ।) इति स्कान्दे, ''**यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानां, तेनैव पिण्डान् तुलसीविमिश्रान् आकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ताः**'' (ब्रह्मपुरा.? द्रष्ट.स्कन्दपुरा. ७।४।४३।७) इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः. यत्तु निर्णयसिन्धुः ''**एतत्सर्वं निबन्धविरोधाद् निर्मूलम्**'' (निर्णयसिन्धुः) इति तद् न, श्रीधरस्वामि-नृसिंहपरिचर्यादिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्व्याघातात्. एतेन ''**नच अभुञ्जाना**'' इत्यारभ्य ''**प्रसादः सम्भवति इति उक्तम्**''

इत्यन्तं यद् उक्तं तद् एतेनैव निरस्तम्. वस्तुतस्तु विशिष्टएव देवता इति न कापि अनुपपत्तिः. एतेन तदुक्तकर्ममार्गस्य प्रलपितकल्पत्वं सिद्धम् इति निगर्वः.

यत्तु मुक्तावल्याम् (न्या.सि.मु.नित्यविज्ञानात्मवादे वेदान्तिमतखण्डनम्) आत्मनिरूपणे "**सुतराम् ईश्वरभेदः**" इत्यारभ्य "**परमं साम्यम् उपैति इति श्रूयते**" (न्या.सि.मु.) इत्यन्तं पञ्चाननभट्टाचार्याः आहुः, तत् प्रामादिकमेव. तथाहि — यद् उक्तं "सुतराम् ईश्वरभेदो अन्यथा बन्धमोक्षानुपपत्तेः" इति तत् तुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात्. यदपि "**योऽपि ईश्वराभेदः**" इत्यारभ्य "**समर्पिताः**" इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा. तथाहि अभेदबोधिका किल "**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**" (मुण्ड.उप.३।२।९) इति श्रुतिः, नहि तदीयत्वप्रतिपादनद्वारा स्तुतिः, तस्याः शक्यो अर्थो अपितु औपचारिकः. नच श्रुतेः उपचरितार्थत्वं सम्भवति, मुख्यार्थाबाधात्. अतएव "**अंशो नाना व्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.२।३।४३) इति अधिकरणे "**अद्वैतश्रुतयस्तु जाति-देश-कालाभेदेन निमित्तोपचाराद्**" (ब्र.सू.शां.भा.भा.२।३।४३) इति उक्त्वा "**नच यत्पराः तद् औपचारिकं युक्तम्**" (ब्र.सू.शां.भा.भा.२।३।४३) इत्युक्तं वाचस्पतिमिश्रैः. नच सर्वएव आत्मानः समर्पिताः इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवनम् इति तदर्थात्. यदपि "**मोक्षदशायाम् अज्ञाननिवृत्तौ अभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्**" (न्या.सि.मु.) तदपि असद्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुनएव अभावात्. यदपि "**भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव**" (न्या.सि.मु.) इति तदपि न, "**एषः सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते**" (छान्दो.उप.८।३।४) इत्यादिश्रुतिविरोधात्.

एतेन ''नच द्वित्वमपि'' (न्या.सि.मु.) इत्यारभ्य ''सर्वजनसिद्धत्वाद्'' (न्या.सि.मु.) इत्यन्तं यद् उक्तं तत् सर्वम् अनेनैव परास्तम्. यदपि ''योऽपि तदानीम् अभेदप्रतिपादकः आगमः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहितो अयं राजा संवृत्तः' इतिवद्'' (न्या.सि.मु.) इति तदपि न, लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात्. ''निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति'' (मुण्ड.उप.३।१।३) इति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा. तस्मात् तार्किकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धम् इति निष्कर्षः.

वचनसंग्रहस्तु :

''अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते,
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः''

(भग.गीता.१०।८).

''को नु राजन्! इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं,
न भजेत् सर्वतो मृत्युः उपास्यम् अमरोत्तमैः''

(भाग.पुरा.११।२।२).

''देवो असुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वएव वा, भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्''

(भाग.पुरा.७।७।५०).

''भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यः च अस्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्''

(भग.गीता.१८।५५).

''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु,

प्रकाशः

ननु तेऽपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति! मिथ्यात्व-निःफलत्वा-ऽल्पफलत्वा-ऽऽनन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः ? कथं वा बोधयेयुः ? तेषामपि मतानां शंकर-जैमिनि-गौतमादिप्रवर्तितत्वात् च, इत्यतः आहुः **पाषण्डैकप्रयत्नेषु** इति. पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु. **''त्वञ्च रुद्र...''** इति सार्धेन **''त्वाम् आराध्य...''** इति श्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैव आज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः. स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनाद्. **''यद् यद् आचरति श्रेष्ठः''** इति न्यायाद्. आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात्. नहि देवादिप्रवर्तित-शास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात्. अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तित-बौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसंगः इति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या. शेषं प्राग्वत्॥६॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

मामैव एष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे''

(भग.गीता.१८।६५).

इति.

आचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनानन्दितात्मना॥
शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिद् अत्र विचारितम् ॥१॥

''त्वञ्च...'' इत्यारभ्य **''भक्त्यातु अनन्यया''** इत्यन्तानां वचनानां संग्रहः : **''त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय, अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज!, प्रकाशं कुरु च आत्मानम् अप्रकाशं च मां कुरु''** (पद्मपुरा.६।७१।१०८-१०९). **''त्वाम् आराध्य यथा/तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा, द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु, स्वागमैः कल्पितैः त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु, माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिः एषा उत्तरोत्तरा''** (पद्मपुरा.६।७१।१०६-१०७). **''यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेव इतरो जनः, स यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तदनुवर्तते''** (भग.गीता.३।२१)॥६॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय कर्ममार्ग[ख]दृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

अजामिलादिदोषाणां नाशको[ख]ऽनुभवे स्थितः ।।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः[ग] कृष्णएव गतिर्मम ।।७।

प्रकाशः

ननु **''धर्मेण पापम् अपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्''** (महाना.उप.२२) इति श्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यः, तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं, नतु आशु दोषवतैव, अन्यथा क्व योगिध्येयो भगवान् क्व दुष्टो जीवः! इति आशंक्य – **''यमेव एषो वृणुते''** (मुण्डकोप.३।२।३), **''रहूगण! एतत्''**, **''भक्त्यातु अनन्यया''** इत्यादिना अंगीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यते इति तन्माहात्म्यमपि तथा इति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं ततएव भविष्यति इति अभिप्रेत्य – भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूपःइति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तः तं प्रार्थयन्ते **अजामिलादि...** इति. **(अनुभवे स्थितः!)** अनुभवविषयीभूतो **अजामिलादीनां** ये **दोषाः** तेषां **नाशकः, ज्ञापितम् अखिलं माहात्म्यं येन** तादृशः. तेन पापनिवर्तकत्वम् इष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यम् उक्तम्. अतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां, नतु तं विहाय

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''रहूगण एतत् तपसा न याति न च इज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा, न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैः विना महत्पादरजोभिषेकम्'' (भाग.पुरा.५।१२।१२). **''भक्त्यातु अनन्यया शक्यो अहम् एवंविधो अर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!''** (भग.गीता.११।५४) इति. **अनुभवविषयीभूतः** इति, अजामिलादीनाम् इति शेषः. पक्षान्तरेतु अजामिलेतरभक्त-विषयीभूतः सन् इति तदर्थः, अजामिलस्यतु परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैव उद्धारात्. **दोषोपस्थितौ** इत्यारभ्य **सूचितम्**

प्रकाशः

प्रायश्चित्तादि इति सूचितम्. यद्वा परम्परासम्बन्धेनापि पूर्वोक्तः स्वनामसाम्येनापि अजामिलोद्धाराद् **अनुभवे स्थितो** महदनुग्रहेण. **ज्ञापितम् अखिलं** लीलादिरूपं तद् येन. शेषं प्राग्वत्॥७॥

(कृष्णाश्रयग्सफल्यनिरूपणाय ज्ञानोपासनमार्गर्दृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं बृहत्र ॥
पूर्णानन्दो हरिस्ग तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम॥८॥

प्रकाशः

ननु **''तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः, यं यं क्रतुम् अधीते तेन तेन अस्य इष्टं भवति, अग्नेः वायोः आदित्यस्य सायुज्यं गच्छति''** (तैत्ति.आर.२।१५) इत्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिना अग्न्यादिसायुज्यसिद्धेः, **''येतु अक्षरम्''** इत्यादिना ज्ञानेनापि

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

इत्यन्ते. ननु **''श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे यः ते उल्लंघ्य वर्तते, आज्ञोच्छेदी(/आज्ञाच्छेदी) मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः''** (वाधू.स्मृ.१९५) इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वाद् इत्थं कथम् उच्यते? इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम्. तद् उक्तं सर्वनिर्णये **''प्रायश्चित्तं पातकादीनाम्''** (त.दी.नि.प्र.२।३७) इति. अल्पदोषोपस्थितौतु तदाश्रयणमेव कार्यं, न प्रायश्चित्तादि. एतद् उक्तं सर्वनिर्णये **''अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः''** (त.दी.नि.प्र.२।२३२) इति सर्वं समञ्जसम्॥७॥

''येतु अक्षरम्'' इत्यादिना इति. **''येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम्**

अक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रये? इति किमिति तस्यैव प्रार्थनम्? इति आशंक्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्व-स्वरूप-निरूपणपूर्वकम् अर्थरूपत्वं वदन्तः तं प्रार्थयन्ते **प्राकृताः** इति. यस्मात् **सकलाः देवाः प्राकृताः** सत्त्वाहंकारप्रभवत्वाद्, **बृहद्** अक्षरं **गणितानन्दकं** "**सा एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति**" इत्यारभ्य "**ते ये शतं**

अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवं, सन्नियम्य इन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः, क्लेशो अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्, अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते" (भग.गीता.१२।३-५) इत्येतेन तथा इति अर्थः. **सा एषा आनन्दस्य** इति. "सा एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति. युवा स्यात् साधु युवा अध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुषः आनन्दः. ते ये शतं मानुषाः आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्दाः स एको देवगन्धर्वाणाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं देवगन्धर्वाणाम् आनन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानाम् आनन्दाः स एकः आजानजानां देवानाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतम् आजानजानां देवानाम् आनन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानाम् आनन्दः ये कर्मणा देवान् अपियन्ति, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं कर्मदेवानां देवानाम् आनन्दाः स एको देवानाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं देवानाम् आनन्दाः स एकः इन्द्रस्य आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतम् इन्द्रस्य आनन्दाः स एको बृहस्पतेः

प्रकाशः

प्रजापतेः आनन्दाः स एको ब्रह्मणः आनन्दः'' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात्, **कृष्णएव हरिः** सर्वदुःखहर्ता **पूर्णानन्दः** च — पूर्णः च असौ आनन्दः च, पूर्णः आनन्दो येन यत्र यस्माद् इति वा — तस्मात् **कृष्णएव गतिः मम** अस्तु इति अर्थः. देवादिसायुज्येऽपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन ''**आब्रह्मभुवनात् लोकाः पुनरावर्तिनो, अर्जुन!**'' (भग.गीता.८।१६) इति भगवद्वाक्यात् पुनः संसारसम्भवेन अल्पानन्दत्वेन स्वर्गवद् अमुक्तित्वात्. ज्ञानमार्गे अक्षरमुक्तेः निर्गुणत्वेऽपि अक्षरस्य गणितानन्द(क)त्वेन अल्पत्वात् क्षुधितस्य अत्यल्पभोजनम् अभोजनमेव इतिवद् अप्रयोजकत्वात्. अज्ञातार्थ-ह्रस्वार्थ-'क'प्रत्ययेन अव्यक्तत्वं पुरुषोत्तमापेक्षया अल्पत्वं च सूचितम्. पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्णएव शरणं भावनीयः इति सिद्धम्. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः ''**निर्गुणा मुक्तिः अस्माद् हि सगुणा सा अन्यसेवया**'' (त.दी.नि.१।१४) इति. ननु ''**तौ इमौ वै भगवतो**

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं बृहस्पतेः आनन्दाः स एकः प्रजापतेः आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य. ते ये शतं प्रजापतेः आनन्दाः स एको ब्रह्मणः आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य'' (तैत्ति.उप.२।८) इत्यनेन प्रपाठकेन **ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वाद्** इति अर्थः. **पूर्णः आनन्दो येन** इति, मर्यादापुष्टिस्थस्य इति शेषः. **येन** इति करणे तृतीया. ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात् कथम् अस्य फलोपधानासाधारणकारणत्वम् इति चेद्, अत्र उच्यते : यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फलं प्रयच्छति तत्र भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहित-प्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन व्यापारत्वाद् इति. **पूर्णः आनन्दो यस्माद्** इति, पुष्टिस्थस्य इति अर्थः, हेतोः निर्व्यापारसाधारणत्वात्. ननु उभयोरपि मुख्यफलप्राप्तिवत्त्वेन

हरेः **अंशौ इह आगतौ, भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ''**, **''कलाभ्यां नितरां हरेः''** इत्यादिना अंशत्वकथनाद् देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौतिकत्व-जन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्य आत्मगुणत्वेन भेदात् च कथं पूर्णत्वं ? कथञ्च आनन्दरूपत्वम् आनन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यम् ? इति चेद्, मा एवं, **''तौ इमौ''** इत्यादीनाम् अर्थाऽनवगमात्. तथाहि : भगवान् भक्तानाम् आर्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटो 'भुवो भारव्ययाय इह' अनयोः कृष्णार्जुनयोः 'तौ इमौ भगवतो हरेः अंशौ च आगतौ' कृष्णयोः यदुकुरूद्वहयोः प्रविष्टत्वाद् 'यदुकुरूद्वहौ कृष्णौ' च जातौ. यतः आगतौ तत्र यदुकुरूद्वहत्वाभावात्. तत्तत्कार्यकरणार्थं व्यूहेषु भगवतः तत्तदंशापेक्षणाद् अनयोरपि संकर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थम् अपेक्षणात्. अंशयोरेव अवतारत्वे पूर्णत्वाभावे **''कृष्णस्तु भगवान् स्वयं''**, **''वसुदेवगृहे**

को वा विशेषः पुष्टिस्थस्य इति चेत्, साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषाद् इति अलं बहुना. **''तौ इमौ...''** इत्यारभ्य **''प्रकृतेः परः''** इत्यन्तानि वचनानि :

''तौ इमौ वै भगवतो हरेः अंशौ इह आगतौ, भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ''

(भाग.पुरा.४।१।५९).

''बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः''

(भाग.पुरा.१०।१७।४८).

''अन्ये/एते च अंशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''

(भाग.पुरा.१।३।२८).

साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः'', **''विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः''** इत्यादिकं विरुध्येत. अत्र 'च'कारः च व्यर्थः स्यात्. तथाच उक्तं श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे **''सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः, तपोऽतिरिक्तकार्यन्तु पूर्णे कृष्णे नच अन्यथा''** (त.दी.नि.३।४।३३) इति. **''सर्व...''** इतिव्याख्यातु सर्वकार्यकर्तृत्वात् **'सर्व'**रूपो नारायणः, पुष्टिकार्यकर्तृत्वाद् **'अतिरिक्तो'** अवतारः. तत्र अधिकारम् आशंक्य परिहरति **'स्वावेश...'** इति. **'नरः'** तु ('धारकः'!) तादृशम् अंशं बिभर्ति, नतु अवतारः इति अर्थः. **''तौ इमौ वै भगवतः''** इति मूलवाक्यं **''कृष्णस्तु स्वयं भगवान्''** एतेन विरुध्यते इति समाधत्ते **'तपोतिरिक्त...'** इति. मार्गद्वयस्थापनार्थम् अवतीर्णोऽपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति 'पूर्णे कृष्णे'एव प्रविष्टौ अंशौ इति मूलार्थः इति. **''बभौ...''** इत्यत्र **'कलाभ्याम्'** अंशाभ्यां 'भूः बभौ हरेः' सम्बन्धिनी भूः पदैः अनुभावैः लीलाभिः च 'नितरां बभौ' इति अर्थः इति. अन्यथा उक्तवचनविरोधात्. देहस्य

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः,
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः''
(भाग.पुरा.१०।१।२३).

''विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः
परः, केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृग्''
(भाग.पुरा.१०।३।१३).

इति.

'च'कारः च व्यर्थः स्याद् इति. **''भारव्ययाय च भुवः''** इत्यत्र भक्तार्तिनाश-सुखदानादिकं 'च'कारेण गृह्यते. तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां 'च'कारो व्यर्थः स्याद् इति

प्रकाशः

पाञ्चभौतिकत्व-जन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वाद् अप्राकृते यथावेदमेव अर्थसिद्धेः. अन्यथा ज्ञानेच्छादीनाम् अनित्यत्वनियमाद् नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्ध्येत्. ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधात् च किमिति आनन्दमयो नित्यो देहो अंगीकार्यः इति चेद्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत् तथाविधदेहस्वीकारात्. नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात्. ''**आनन्दाद्धचेव**'' (तैत्ति.उप.३।६), ''**(नित्यं) विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म**'' (बृह.उप.३।९।२८) ''**स यथा सैन्धवघनः**'' (बृह.उप.४।५।१३)

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

अर्थः. **व्याप्तिबलेन** इति, अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेन इति अर्थः. तथाहि ''यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं, यथा कुलालादौ'' इति अन्वयव्याप्तिः. ''यत्र यत्र देहवत्त्वाभावः तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनि'' इति व्यतिरेकव्याप्तिः इति. नच अप्रयोजकत्वं, देहवतएव कर्तृत्वात्. नहि अशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम्. वस्तुतस्तु ''**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः**'', ''**सर्वतः पाणिपादान्तम्**'' इत्यादिविरोधः. ''**अशरीरं शरीरेषु...**'' (कठोप.१।२।२२) इत्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः. नच व्रीहि-यववद् विकल्पसम्भवः, प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात्. ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये ''**न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति**'' (भग.गीता.१४।१९) इति उपादाय ''**गुणेभ्यो न अन्यं कर्तारम् अनुपश्यति अपितु गुणाएव कर्माणि कुर्वन्ति**'' (भग.गीता.श्रीधरी १४।१९) इति श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद् हेतुनिरूपितव्याप्तावपि अतिव्याप्तिः इति चेद्, अत्र वदामो : गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं, नतु केवलतया. अतएव अग्रे ''**गुणान् (एतान्) अतीत्य**'' (भग.गीता.१४।२०) इत्यस्य व्याख्याने ''**देहाद्याकारः समुद्भवः=परिणामो येषां ते देहसमुद्भवाः, तान् एतान्**

-''आनन्दं ब्रह्मणो रूपं/विद्वान्'' (तैत्ति.उप.२।९), ''आनन्दमयो अभ्यासाद्'' (ब्र.सू.१।१।११), ''आह च तन्मात्रम्'' (ब्र.सू.३।२।१६), ''केवलानुभवानन्दस्वरूपः'' (भाग.पुरा.१०।३।१३), ''आनन्दमात्रकर-पादमुखोदरादिः'', ''बहूनि सन्ति नामानि'', ''त्रय्या च उपनिषद्भिः च'', ''नच अन्तः न बहिः यस्य'' इत्यादि श्रुति-न्याय-पुराणवाक्यसहस्रैः

त्रीनपि गुणान् अतीत्य=अतिक्रम्य'' (भग.गीता.श्रीधरी १४।२०) इति उक्तं श्रीधरस्वामिभिः इति विद्वांसएव विदांकुर्वन्तु. ''**आनन्दमात्र...**'' इत्यारभ्य ''**मुदितवक्त्र...**'' इत्यन्तानि वचनानि :

> ''निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः आत्मतन्त्रो निश्चेतना-त्मकशरीरगुणैः च हीनः, आनन्दमात्रकरपादमुखोद-रादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा/त्रिविध-भेदविवर्जितात्मा''
>
> (त.दी.नि.१।४४).
>
> ''बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते, गुणकर्मानुरूपाणि तानि अहं वेद नो जनाः''
>
> (भाग.पुरा.१०।८।१५).
>
> ''त्रय्या च उपनिषद्भिः च साङ्ख्ययोगैः च सात्त्वतैः, उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सा मन्यत आत्मजम्''
>
> (भाग.पुरा.१०।८।४५).
>
> ''नच अन्तो न बहिः यस्य न पूर्वं नापि च अपरं, पूर्वापरं बहिः च अन्तो जगतो यो जगत् च यः''
>
> (भाग.पुरा.१०।९।१३).

प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिः च पूर्णएव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूपएव आनन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो, नतु आत्ममात्रम् इति निर्बाधम् अबोधि. नित्यं "**विज्ञानम्...**" (बृह.उप.३।९।२८) इति "**पूर्णमेव अवशिष्यते**" (बृह.उप.१।१।१), "**भवान् एकः शिष्यते 'शेष'सञ्ज्ञः**" इत्यादिना नित्यत्वम्; "**एषो ह्येव आनन्दयाति**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः आनन्दजनकत्वं; "**(श्रीमत्)कृष्णः प्रीतमनाः**", "**वीक्ष्य आसीद् उत्तमाः प्रीतिः**", "**जातहर्षः**", "**मुदितवक्त्रः उपयाति**" इत्यादिना आनन्दवत्त्वं चेति न अनुपपन्नं किञ्चित्. तथापि आनन्दत्व-देहत्वयोः विरोधः इति चेद्, न, स्व-स्वाधिकरणे प्रमाणैः

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

"**नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेषु आदिभूतं गतेषु, व्यक्ते अव्यक्तं कालवेगेन याते भवान् एकः शिष्यते(ऽ)शेषसञ्ज्ञः**"

(भाग.पुरा.१०।३।२५).

"**एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः/श्रीमत्कृष्णः प्रीतमनाः पशून्, रेमे सञ्चारयन् अद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः**"

(भाग.पुरा.१०।१२।९).

"**वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च, वीक्ष्य आसीद् उत्तमा प्रीतिः राम-माधवयोः नृप**"

(भाग.पुरा.१०।११।३६).

"**सहबलः सगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः, हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्षः उपरम्भति विश्वम्**"

(भाग.पुरा.१०।३२।१२).

प्रकाशः

एकत्र उभयोः सिद्ध्यसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात्. तथापि आनन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वम्? इति चेत्, **"स यथा सैन्धवघनः"** (बृह.उप.४।५।१३), **"यः सर्वज्ञः"** (मुण्डकोप.१।१।९) इति श्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्व-ज्ञानाधारत्ववद् आनन्दरूपत्व-तदाधारत्वयोः अविरोधात्. श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः सर्वम् एतद् यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते॥८॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय भक्तिमार्ग[ल]दृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

विवेकधैर्यभक्त्यादि[ल]रहितस्य विशेषतः॥
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण[ग]एव गतिर्मम॥९॥

प्रकाशः

ननु विवेक-धैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशे भवतीति किमिति दैन्येन आश्रयः प्रार्थ्यते? इति आशंक्य सर्वमनोरथपूरकत्वात् सर्वफलार्थं काम्यत्वात् कामरूपत्वं वदन्तः तं प्रार्थयन्ते **विवेक**— इति. पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेण आश्रयम् उक्त्वा जीवस्वरूपविचारेण अधुना उच्यते. भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति; न प्रार्थनीयः इति निश्चयो **विवेकः**. भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं **धैर्यम्. भक्तिः** साधनरूपापि. **आदि**पदात् पुण्यम्. **विशेषतः** इति तत्साधनैरपि **रहितस्य.** यद्वा यत्किञ्चित्सत्त्वेऽपि **विशेषतो** नास्तीति न फलसिद्धिः. किञ्च **दीनस्य** दरिद्रस्य, अतः सर्वसाधनरहितस्य. **पापे आसक्तस्य** इति

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

"यदुपतिः द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिव एषः
दिनान्ते, मुदितवक्त्रः उपयाति दुरन्तं मोचयन्
व्रजगवां दिनतापम्"
(भाग.पुरा.१०।३२।२५)
इति॥८॥

प्रकाशः

विपरीतसाधनवतो, नतु प्रामादिकपापस्य. **कृष्णएव** इति पूर्ववत्. अन्यत्र यत्किञ्चिद् वैगुण्येऽपि वैकल्याद् देवताकोपाद् अनिष्टजननाद् अल्पदत्वात् च ईदृशस्य विवेकादिकं दत्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः **कृष्णएव** इति सएव आश्रयणीयः इति हृदयम्. ननु 'अस्मच्'छब्दस्य उच्चारयितृवाचकत्वाद् अत्र आचार्यचरणानां तथात्वाद् विशेषणानि असंगतानि इति चेद्, न, अस्य अन्यार्थत्वेन अन्याधिकारेण कथनाद् भगवता वेदेषु "**प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये**" (ऋक्.संहि.खि.सू.७।२), "**भूयिष्ठान् ते नम उक्तिं विधेम**" (ईशा.उप.१८), "**स्वस्ति मे अस्तु वनस्पते**" (एकाग्निकाण्ड १।१४।७) इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथनेइव अदोषत्वाद् इति सर्वम् अनवद्यम्॥९॥

(कृष्णाश्रय[ग]साफल्यनिरूपणाय प्रपत्तिमार्ग[व]दृष्ट्यापि तदावश्यकतानिरूपणम्)

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्॥
शरणस्थ[व]समुद्धारं कृष्णं[ग] विज्ञापयाम्यहम्॥१०॥

प्रकाशः

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः? भगवाँस्तु तत्तत्कृतिसापेक्षः तस्मै तस्मै फलं ददाति. प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तत्तत्कृताअपि विघ्नाः स्युः "**श्रेयांसि बहुविघ्नानि**" (गरु.पुरा.२।२१।९) इति वाक्याद् इति आशंक्य मोक्षप्राप्यत्वाद् मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

मोक्षप्राप्यत्वाद् इति, स्वरूपलाभप्राप्यत्वाद् इति अर्थः. तथाच श्रुतिः "**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**" (तैत्ति.उप.२।१) इति. अस्याः अर्थः : अक्षरवित् परं=पुरुषोत्तमं प्राप्नोति इति. **मोक्षरूपत्वम्** इति.

प्रकाशः

सर्वसामर्थ्यसहितः इति, सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा तत्सहितः इति इच्छया स्वतोऽपि सर्वं करोति. यदि मर्यादां रक्षेत् तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यधर्मादीनां सिद्धत्वात् तत्तद्दत्वापि तत्तत्फलं दद्यात्. कदाचित् पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन् नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात्. ''**यद्-यद् विभूतिमद्...**'', ''**मत्तः सर्वं प्रवर्तते**'' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहितः इति वा, तैरपि भक्तानिष्टनिवारणाद्, ''**अव्याहतानि कृष्णस्य**'' इति वाक्यात्. ननु सामर्थ्ये सत्यपि कदाचिद्

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

भक्तिमार्गस्थाय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवतएव. तथाच अक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैव इति तद्रूपत्वाद् मोक्षरूपत्वम् इति अर्थः. तथाच उक्तं निबन्धे ''**यथा सारथि रथी तदन्तःस्थितः च तथा अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति. परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदाः**'' (त.दी.नि.प्र.२।१२१) इति. ''**यद्यद्...**'' इत्यारभ्य ''**अव्याहतानि**'' इत्यन्तानि वचनानि :

> ''**यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा,**
> **तत्तदेव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्**''
> (भग.गीता.१०।४१).
>
> ''**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते,**
> **इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः**''
> (भग.गीता.१०।८).
>
> ''**अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीनि आयुधानि**
> **तं/वै, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुः**
> **उपासितः**''
> (पद्मपुरा.६।७८।१३)
>
> इति.

प्रकाशः

आश्रितं न रक्षेद्, मर्यादयैव वा यदि फलं दद्यात् तदा किम् आश्रयेण? इत्यतः आहुः **सर्वत्रैव** देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वा अखिलार्थान् करोति इति **अखिलार्थकृत्**. ताच्छील्यादौ क्विप्. **''सकृदेव...''**, **''ये दारागारपुत्राप्त...''** इत्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति; किं पुनः भजतः! मर्यादयापि फलदाने अन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान् मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति. विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** इति तन्मर्यादायाएव तादृशीत्वाद् न क्षतिः. अतएव **''व्रजस्य उवाह वै हर्षम्''**, **''चिक्रीडे जनयन् मुदम्''**, **''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः'**,**''मुकुन्दो मुक्तिं ददाति''**

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

ताच्छील्यादौ क्विप् इति, **''आक्वेः तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु''** (पाणि.सू.३।२।१३४) इति स्मरणात्. **''सकृदेव''** इत्यारभ्य **''तत् तथा साधयिष्यामि''** इत्यन्तानां वचनानां संग्रहः :

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मि इति च याचते,
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद्व्रतं मम''
(रामा.६।१८।३३).

''ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान् वित्तम् इमं परं,
हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुम् उत्सहे''
(भाग.पुरा. ९।४।६५).

''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहं,
मम वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः''
(भग.गीता.४।११).

''दर्शयन् तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यतां,
व्रजस्य उवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः''
(भाग.पुरा.१०।११।९).

प्रकाशः

इत्यादि. **''तथा न ते माधवः''**, **''मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्''**,**''वसति मनसि यस्य''** इत्यादिवाक्यैः काल-यमादयोऽपि चेद् भगवदीयाद् निवर्तन्ते, कुतस्तरां पुनः अन्ये विघ्नकर्तारःइति न किञ्चिद् दूषणम्. पूर्वोक्तं शरणे स्थितं **सम्यग्** अनायासेन उद्धरति, सकृदागतन्तु यथाकथञ्चित्. ईदृशं **श्रीकृष्णम् अहम्** आश्रयं **विज्ञापयामि. कृष्ण** इति सम्बोधनपाठे **शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामि** इति अन्वयः. अनेन ईश्वरे दीनभावः कर्तव्यः इति सूचितं, दीनभावेन कृतस्यैव ईश्वरतोषहेतुत्वात्॥१०॥

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैः व्रजबालकैः,
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्''

(भाग.पुरा.१०।८।२७).

''तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः, स्वैः उत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितैः अचीक्लृपन् आसनम् आत्मबन्धवे''

(भाग.पुरा.१०।२९।१३).

''राजन्!, पतिः गुरुः अलं भवतां यदूनां,
देवप्रियः/दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किंकरो वः,
अस्तु एवम् अंग भजतां भगवान्/भगवान् भजतां मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्''

(भाग.पुरा.५।६।१८).

''तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः, त्वया अभिगुप्ताः विचरन्ति निर्भयाः विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो''

(भाग.पुरा.१०।२।३३).

(ग्रन्थोपसंहारः)

कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।।
तस्याश्रयो[व] भवेत् कृष्णः[ग] इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ।।११।।

इति श्रीवल्लभाचार्यचिरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम्

प्रकाशः

''**दश वै पशोः प्राणाः आत्मा एकादशः**'' (तैत्ति.संहि.६।३।७।५) इति श्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञापयितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्य आत्मवद् अक्षयत्वं ज्ञापयितुम् एकादशेन आत्मरूपेण एतत्स्तोत्रपाठफलम् आहुः. **कृष्णः आ** समन्तात् **श्रीयते**=सेव्यते अनेन, कृष्णः आश्रयो येन यस्माद् इति वा इति **कृष्णाश्रयम्. इदमेव** कृष्णाश्रयं, यथार्थनिरूपकत्वाद्, न अन्यत्. **कृष्णसन्निधौ** तन्निमित्तं वा **इदं यः पठेत् तस्य कृष्णः आश्रयो भवेत्.** अत्र हेतु-हेतुमतोः लिङ्. **इदम्** इति न अन्यपाठेन इदं फलं, स्वरूपाज्ञानात्. ननु अल्पायासाद् एतत्स्तोत्रपाठमात्रेण कथम् एतत् फलं स्यात्? इति

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''**मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकान्/लोकान् सर्वान् निर्भयान्/निर्भयं न अध्यगच्छत्, त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छया अद्य स्वस्थः शेते मृत्युः अस्माद् अपैति**''

(भाग.पुरा.१०।३।२७).

''**वसति मनसि यस्य सो अव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः/दृष्टिपाते, गतिः अथ मम वा तव अस्ति/तव गतिः अथ वा मम अस्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सो अन्यलोकः/अन्यलोक्यः**''

(विष्णुपुरा.३।७।३४) ।।१०।।

प्रकाशः

आशंक्य आहुः **श्रीवल्लभः** इति, **इदम् अब्रवीद्** अवदत्. स्वस्य भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वाद् भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वाद् उद्धारकस्वरूप-त्वात् च न अत्र अप्रामाण्यशंका. नहि भगवान् सत्यवाक् स्ववाचम् अन्यथाकरोति. यत्र प्रसंगाद् नारदकृतं **''तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना''** इति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं तत्र गत्वा नलकूबर-मणिग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यति इति तत्कृपायां सर्वं भवति इति सर्वम् अनवद्यम्॥११॥

श्रीमद्विट्ठलनाथपादकमले संवन्द्य भक्त्या मुदा॥
कृष्णैकाग्रधियोऽथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि॥३॥
'श्रीकृष्णाश्रय'सञ्ज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः॥
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशम् अकरोद् भूयान् मुदे सद्धियाम्॥४॥

इति श्रीविट्ठलनाथचरणकमलैकतान-श्रीकल्याणरायविरचितः
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः
समाप्तः

तत्त्वनिरूपणाख्य-टिप्पणम्

''देवर्षिः मे प्रियतमो यद् इमौ धनदात्मजौ, तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना'' (भाग.पुरा.१०।१०।२५)॥११॥

दूरीकरोति विकटं किल संकटानां संघं विशंकटतरं वरसेवकानाम्॥
यत्पद्मरागमणिवर्यविराजमानं तद् वेंकटेशमुकुटं प्रकटं रटामः॥३॥
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाब्जसरोरुहभास्करम्॥
अतुलमंगलनामविराजितं जनमनोहररूपम् अहं भजे॥४॥
श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम्॥
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम्॥५॥

गुरुश्रीबालकृष्णानाम् आत्मजेन सतां मतम्॥
कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम्॥६॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरण-कोकनदमधुपायमानान्तःकरण-
तिघरोपनामक-बालकृष्णभट्टात्मज-गोविन्दराजकृतं
तत्त्वनिरूपणाभिधं कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं
समाप्तिम् अगमत्



।। भक्तिवर्धिनी ।।

(श्रीमत्कल्याणरायकृता विवृतिः)

(दृढबीजभावानां[क] पुष्टिजीवानां कृते फलात्मकप्रवृद्धच्युपायाः)
यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते।।
बीजभावे दृढेतु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात्[क] ।।१।।

वामे करे गिरिं स्त्रीषु मुदम् इन्द्रे च साध्वसम्।।
धारयन्तम् अहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम्।।१।।
यदंगीकृतितो भक्त्या स्वानन्दं नन्दनन्दनः।।
ददाति तान् प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये।।२।।

श्रीकृष्णभक्तिस्पृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभाचार्याः एकादशेन्द्रियशोधिका भक्तिरिति एकादशभिः श्लोकैः भक्तिप्रवृद्ध्युपायनिरूपणं प्रतिजानते **यथा** इति. येन प्रकारेण **भक्तिः प्र**कर्षेण **वृद्धिं** प्राप्नुयात् **(तथा !)** तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यते इति अर्थः. वृद्धौ प्रकर्षो अत्र फलोन्मुखत्वम्. भक्तिप्रवृद्धेः उत्तरावधिः कः ? इति आकांक्षायाम् आहुः **बीजभावे दृढेतु स्याद्** इति. बीजरूपो भावो अल्पस्नेहः, तस्मिन् **दृढे** व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिः पूर्णा स्याद् इति अर्थः. भावे बीजत्वोक्तिः फले अस्य निदानत्वबोधनाय. प्रथमतः तत्र किं साधनम्? इति आकांक्षायाम् आहुः **त्यागात् श्रवणकीर्तनाद्** इति, भक्तिमार्गविरोधिनो अन्यभजनादेः त्यागात्, श्रवणं कीर्तनं च, ताभ्याम्. इदम् उपलक्षणं : स्मरणम्, आचार्यभक्तिः, विश्वासः च इत्यपि ज्ञातव्यम्. श्रवण-कीर्तनयोः एकवद्भावः कर्मणोरिव न अत्र विरोधः इति ज्ञापयति; नहि यथा एकस्मिन् कर्मणि क्रियमाणे

न अन्यत् क्रियते तथा श्रवण-कीर्तनयोरपि ॥१॥

(अदृढबीजभावानाम्[ख] अव्यावृत्तानां[ख/१] व्यावृत्तानां[ख/२] पुष्टिजीवानां कृते फलात्मकप्रवृद्ध्युपायाः)

बीजदाढ्र्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ॥
अव्यावृत्तो[ख/१] भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥
व्यावृत्तो[ख/२]ऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत् सदा ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनानि उक्त्वा प्रकारम् आहुः **बीजदाढ्र्यप्रकारस्तु** इति, बीजरूपस्य भावस्य दृढतासिद्ध्यर्थम् अयं वक्ष्यमाणः प्रकारः. इममेव आहुः : गृहस्थितेः भजनानुकूलत्वात् **''श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे''** (वाधू.स्मृ.१९५), **''वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण''** (गरु.पुरा.१।२२९।७) इत्यादिवाक्यैः **स्व**वर्णाश्रमाचार**धर्मेण गृहे स्थित्वा** व्यावृत्तिः = कार्यान्तरव्यासंगः तद्रहितो **अव्यावृत्तः श्रवणादिभिः** सहितया **(पूजया !)** परिचर्यया **कृष्णं** सदानन्दं पुरुषोत्तमं **भजेत्**. **'कृष्ण'**पदात् फलत्वेन भजनं, न साधनत्वेन इति ज्ञाप्यते. तन्त्राद्युक्तपूजायां शीतलशंखोदकस्नानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गीयाणाम् अनधिकारात्. स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येव भाति इति ज्ञापनार्था **'पूजा'**पदोक्तिः अत्र ज्ञेया. **''तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुः तन्मनो-वचो नृणां येन इह विश्वात्मा सेव्यते हरिः ईश्वरः''** (भाग.पुरा.४।३१।९) इत्यादिवाक्यैः भगवद्भजना-भावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवायाः असम्भवेऽपि यथासम्भवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यं, नतु अन्यथा स्थातव्यम् इति आशयेन आहुः **व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तम्** इति. कार्यान्तरव्यासक्तोऽपि **हरौ** दुःखहरणशीले **चित्तं** निधाय **श्रवणादौ (यसेत् !)** यत्नं कुर्याद् इति अर्थः. **''यसु प्रयत्ने''** (पाणि.धा.पा.दिवा.१२३५). **यतेद्** इति पाठे अनुदात्तेताम् आत्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् ॥२१/२॥

(अदृढबीजभावस्य जीवस्य प्रेमासक्तिव्यसनसोपानक्रमेण बीज-भावदृढतायां रागादिनाशेन कृतार्थता)

ततः प्रेम तथासक्तिर् व्यसनं च यदा भवेत् ।।३।।
बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यद् नापि नश्यति ।।
स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः ।।४।।
गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते ।।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ।।५।।

एवं वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवति इति आहुः **ततः प्रेम** इति. भगवत्सेवया श्रवणादितोऽपि [१]चित्तासंगावस्थावत् प्रेम भवति. स्वविषये स्वतःप्रवर्तको भावः **'प्रेम'**शब्देन उच्यते. **(ततः !)** प्रेमानन्तरं **तथा** पूर्वोक्तादेव [२]संकल्पावस्थावद् **आसक्तिः** भवति. स्वविषये विविधमनोरथ-जनको भावः आसक्तिः. **व्यसनं च यदा** प्रभुकृपया **भवेत्** तदा **तद् बीजं** बीजरूपो भावः **शास्त्रे** भगवच्छास्त्रे **दृढम्** अन्याऽपरिभूतम् **उच्यते, यत्** फलं जनयति, दुष्टसंसर्गादिना **नश्यति अपि न. व्यसनं** [३]स्वविषयं विना स्थातुम् अशक्तिजनको भावः ॥३ १/२॥

प्रेमासक्त्योः ज्ञापके आहुः **स्नेहाद् (रागविनाशः !)** इति. यथा यथा भगवति स्नेहः तथा तथा अन्यत्र हीयते इति अर्थः. भगवति **आसक्त्या** भगवदनुपयोगि-**गृहादिषु अरुचिः** अप्रीतिः भवति. भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसाधिकयोरपि **गृहस्थानां** गृहासक्तानाम् अविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादिपोषणासम्भवरूप-दोषोद्भावनेन **बाधकत्वं,** स्वस्य प्रवृत्तिमार्गस्थत्वेन **अनात्म**धर्मत्वं **च भासते.** अथवा सर्वेषाम् आत्मरूपे हितकारिणि भगवति **अनात्मत्वं भासते.** वस्तुतस्तु **''तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहामि अहम्''** (भग.गीता.९।२२), **''न मे भक्तः प्रणश्यति''** (भग.गीता.९।३१), **''किम् अलभ्यं भगवति''** (भाग.पुरा.१०।३६।२) इत्यादिवाक्यैः

१.चित्ताऽऽसंगावस्था = प्रेम, २.संकल्पावस्था = आसक्तिः ३.तद्विना स्थातुम् अशक्तिः = व्यसनम् (सम्पा.)

तेषां भगवानेव ऐहिक-पारलौकिकसाधकःइति तेषामेव इदम् अज्ञानम् इति **भासते** इति उक्तम्. **यदा कृष्णे** पूर्णानन्दे **व्यसनं स्यात् तदैव** जीवः **कृतार्थः** पूर्णार्थः **स्यात्. 'एव'**कारेण प्रेमासक्त्योः व्युदासः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः ॥३-५॥

(भगवति जातव्यसनस्य व्यावृत्तस्य सर्वदा गृहेएव निवासः भक्तिभावबाधकः कदाचिद् भवतीति गृहत्यागप्रशंसा)

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्॥
त्यागं कृत्वा यसेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्॥

यतः **तादृशस्यापि** प्रेमासक्तिमतोऽपि **सततं** निरन्तरं **गेहस्थानं** गेहएव अवस्थानं **विनाशकं** भावस्य इति शेषः. तेन सत्संगादिकं कर्तव्यम् इति भावः. भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरम् आहुः **त्यागं कृत्वा** इति. **यस्तु** पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं **कृत्वा** श्रवणादौ **यसेत्** यत्नं कुर्यात्. **यतेद्** इति पाठे पूर्ववद् ज्ञेयम्. **तदर्थार्थैकमानसः** तदर्थं = भगवन्निमित्तं यो अर्थः = श्रवणादिः तस्मिन्, यद्वा भगवतो अर्थः = प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं = तन्निमित्तम्, एकम् = अनन्यं मानसं यस्य. एतादृशः सन् **सुदृढां** विषयाद्यपरिभूतां **सर्वतोऽपि** ज्ञान-योगादिभ्योऽपि **अधिकाम्** अधिकफलदायिनीं **परां** प्रेमलक्षणां फलरूपां **भक्तिं लभेत** प्राप्नुयाद् इति अर्थः ॥६-१/२॥

(गृहत्यागानुकल्पस्तु सेवाकथापरैः भगवदीयैः सह निवासः तत्प्रकारश्च)

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथान्नतः ॥७॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः॥
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति॥८॥

तर्हि निर्विघ्ने अस्मिन् प्रकारे विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरम् आश्रयणीयम् इत्यतः आहुः **त्यागे बाधकभूयस्त्वम्** इति. **दुःसंसर्गाद्** दुष्टानां = भगवद्बहिर्मुखादीनां सह भोजनादिना संगात् **तथा अन्नतः** दुष्टान्नात्. वैश्वदेव-भगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनापि अन्नदोषनिवृत्तेः सम्भवात् संगदोषो अधिकःइति तस्य प्रथमनिर्देशः. गृहत्यागे **बाधकभूयस्त्वं** बाधकानाम् = अन्तरायहेतूनां बाहुल्यम् अस्ति. तेन यावद् गृहे भजनं सम्भवति तावद् गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा भजनासम्भवे कर्तव्यः. तद् उक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे* **''भार्यादिः अनुकूलः चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेद्''** (त.दी.नि.२।२३१) इति. तेन गृहस्य त्यागे अत्यागेऽपि यावद् व्यसनं सम्पद्यते तावत् सत्संगादिकं कर्तव्यम् इति आहुः **अतः स्थेयं हरिस्थाने** इति. यतः पूर्वोक्तं बाधकम् **अतः** कारणात् **हरिस्थाने** व्रज-मथुरादौ **तदीयैः** भगवन्मार्गस्थैः अनन्यैः **तत्परैः** सेवा-कीर्तनादिना भगवत्परैः **सह अदूरं** निकटं यथा भवति तथा **स्थेयम्**. निकटस्थित्यसम्भवे दूरेऽपि स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यम् इति आहुः **विप्रकर्षे वा** इति. भक्तिमार्गस्थत्वाभावेतु अवैष्णवसंगात् स्वस्य कार्यं न सिद्ध्येत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवा-कथाद्यभावात् स्वस्य लाभो न स्याद् इति द्वयम् उक्तम्. निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदीयानुसरणे तत्कृपया चित्तं दुष्टं न भवति इति आहुः **यथा चित्तं न दुष्यति** इति॥७-८॥

(स्वगृहे स्वकीयस्य वा गृहे सेवाकथापरायणस्य कदापि भावनाशो न भवति इति सिद्धान्तसंक्षेपः)

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर् दृढा भवेत्॥
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥९॥

एवं सत्संगे सति केवलम् अनिष्टनिवृत्तिरेव न किन्तु इष्टप्राप्तिरपि

* ज्ञानञ्च भागवतमात्मसतत्त्वदीपम् (भाग.पुरा.२।७।१९) (सम्पा.)

भवति इति आहुः **सेवायाम्** इति. **यस्य** महत्कृपया **सेवायां** स्वशरीरसाध्य-श्रीकृष्णभजने **कथायां** तद्‌गुण-लीलादिश्रवणे **दृढा** विषयाद्यनभिभूता **आसक्तिः भवेद् यावज्जीवम्** आदेहपातं **तस्य क्वापि** कुत्रापि देशे कालेऽपि **नाशः** भगवद्‌भजनाननुरूप-फलप्राप्तिः **न** भवति. अथवा भावस्य नाशो भावान्तरोत्पत्तिः वा न भवति. **इति मम मतिः** प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति! **'वा'**शब्दौ अनुक्त-स्मरणादि-समुच्चयार्थौ॥९॥

(भक्तिभावस्य बाधसम्भावनायाम् एकान्ते वासो न इष्टः)

बाधसम्भावनायान्तु नैकान्ते वासः इष्यते॥
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः॥१०॥

ननु भगवदीयानामपि संगः किमर्थं कर्तव्यः? एकाकिना अरण्यादौ भगवल्लीलादिचिन्तनं कुर्वता कथं न स्थेयम्? इत्यतः आहुः **बाधसम्भावनायाम्** इति. **'तु'**शब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति. बाधः अत्र चित्तोद्वेग-विक्षेपादिः. स चेद् न सम्भवति तदा तथैव स्थेयम्. **बाधसम्भावनायां** सत्याम् **एकान्ते** अरण्यादौ **वासो न इष्यते** न इष्टः. ननु आन्तरबाधाभावेऽपि बहिः चौर-व्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं स्थेयम् इत्यतः आहुः **हरिस्तु** इति, सर्वदुःखहर्ता प्रभुः **सर्वतः** सर्वस्मात् सुदर्शनादिना **रक्षां करिष्यति. ''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने/याचते, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद् व्रतं मम''** (रामा.६।१८।३३), **''न मे भक्तः प्रणश्यति''** (भग.गीता.९।३१) इत्यादिवाक्यैः अस्मिन् अर्थे **न संशयः** इति अर्थः॥१०॥

(ग्रन्थोपसंहारः एतद्ग्रन्थपाठस्य फलश्रुतिः)

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्॥

य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥११॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी सम्पूर्णा

श्रीवल्लभाचार्याः सगुण-निर्गुणभेदेन दशधा भक्तिः इति दशभिः श्लोकैः भक्तिवर्धिनीप्रक्रियां निरूप्य एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलम् आहुः **इत्येवम्** इति. **इति** इदं **गूढं** गुप्तं **तत्त्वम्** अनारोपितं रूपं यस्य एतादृशं **भगवच्छास्त्रं** भक्तिप्रतिपादकम्, अथवा **गूढतत्त्वं** यथा स्यात् तथा, **एवम्** अमुना प्रकारेण **निरूपितम्. यः** एतदुक्तम् आचरेत् **तस्य** भगवति **दृढा रतिः** प्रीतिः **स्यात्. यो** वा एतदुक्ताचरणाशक्तः सतु **एतद्** भक्तिवर्धिनीरूपं **समधीयीत** श्रद्धाभक्तिपूर्वकं पठेत् **तस्यापि** अग्रे **दृढा रतिः स्याद्** इति अर्थः ॥११॥

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै॥
गुरून् नत्वा यथाबुद्धि विवृता भक्तिवर्धिनी॥१॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतान-श्रीकल्याणरायविरचिता
भक्तिवर्धिनीविवृतिः



।। जलभेदः ।।

(श्रीमत्कल्याणरायकृतटीकोपेतः)

(भगवत्कथायां तद्गुणगानकर्तृणाम् अविप्रकीर्णभावाः[क-ख-ग१-१९], विप्रकीर्णभावाः[घ२०] चेति ''कूप्याभ्यः स्वाहा... सर्वाभ्यः स्वाहा'' (तैत्ति.संहि.७।४।१२—१३) वचने निरूपितजलभेदसदृशाः. अविप्रकीर्णेषु विषयासक्तगुणगानकर्तृणां भावाः[क/१-५], तत्र मुमुक्षुणां भावाः[ख/६-१८], तत्र विमुक्तानां षड्विधसमुद्रोपमानां भावाः[ग/१९] अथच विप्रकीर्णभावाः[घ/२०/नैकविधाः])

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान्।।१।।
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।।

भावितं विविधैर् भावैः प्रेष्ठभावितया मुहुः ॥
भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ।।१।।
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनाद् अभवो भवः ॥
भावये तान् निजाचार्यपदो भावोपलब्धये।।२।।

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि ''**केवलेन हि भावेन**'' (भाग.पुरा. ११।१२।८) इति वाक्यात् तत्प्राप्तेः ''**नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितम्**'' (भाग.पुरा.१।५।१२) इत्यादिभिः भावहीनस्य ज्ञानादेरपि असमर्थत्वाद् अस्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वम् इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते.

नमस्कृत्य इति, नमसो गतिसञ्ज्ञकत्वात् ''**कुगतिप्रादयः**''

(पाणि.सू.२।२।१८) इति समासाद् अत्र ल्यप्, विसर्गस्य सकारो "**नमस्पुरसोर्गत्योः**" (पाणि.सू.८।३।४०) इति. "**यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वा उद्धवादिषु अहरत् सर्वदुःखानि वन्दितो अभीष्टदो अस्तु सः**" (. .) इति आशयेन आहुः **हरिं नमस्कृत्य** इति, भगवति नमनातिरिक्तस्य कर्तुम् अशक्यत्वात्. **वक्ष्ये** इति, निरूपिताः भावाः प्रथमतः आत्मने फलन्ति इति आत्मनेपदम्. **तद्गुणानां विभेदकान्** इति, **ते** प्रसिद्धाः च ते **गुणाः** सत्त्वरजस्तमांसि तेषां **विभेदकान्** निवर्तकान् इति अर्थः. यद्वा भगवतो ये गुणाः = धर्माः तेषां निवर्तकान्, भगवतो भक्तार्थं सर्वसमत्वादेः त्यागात्, "**ये भजन्ति**" (भग.गीता.९।२९) इति वाक्यात्. यद्वा **तेषां** जीवानां **गुणाः** धर्माः तेषां **(विभेदकान्!)** वैलक्षण्यसम्पादकान् इति अर्थः. अथवा भगवतो ये धर्माः तान् आनीय अत्र दायकान् इति अर्थः. **भावान् विंशतिधा भिन्नान्** इति. 'भाव'शब्दस्य अनेकार्थत्वेऽपि अत्र स्नेहः तज्जन्याः च अवस्थाविशेषाः भावाः उच्यन्ते, "**रतिः देवादिविषया भावः इति अभिधीयते**" (द्रष्ट.का.प्र.सूत्र ४८) इत्यादिभिः स्नेहाभिधानात्. गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैः **भिन्नान्. सर्वसन्देहवारकान्** इति, विधेयविशेषणम् एतत्; भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतः च ये सन्देहाः तन्निवारकान्. यद्वा भावैः भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वतएव निवर्त्स्यन्ति इति अर्थः. भावानां स्वतः एकस्वरूपत्वेऽपि गुणभेदैरेव भेदाद् भावभेदकान् गुणभेदानेव आहुः **गुण...** इति. **जले यावन्तो** भेदाः वेदेन **(मताः!)** सम्मताः ज्ञाताः वा **तावन्तो गुणभेदाः** तथा इति अर्थः. वेदोक्त-जलभेददृष्टान्तकरणाद् भावानां शुद्धत्वा-ऽलौकिकत्व-तापहारकत्व-शोधकत्वा-ऽऽप्यायकत्वानि ध्वनितानि. अत्र "**कूष्याभ्यः स्वाहा**" (तैत्ति.संहि.७।४।१२) इत्यारभ्य "**सर्वाभ्यः स्वाहा**" (तैत्ति.संहि.७।४।१३) इत्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिः अनुसन्धेया ॥१ १/२॥

(अविप्रकीर्णेषु विषयाद्यासक्तानां पञ्च[१-५]विधभावाः)

[१]गायकाः कूपसंकाशाः गन्धर्वाः इति विश्रुताः ॥२॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ॥
[२]कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुताः भुवि ॥३॥
[३]क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ॥
[४]वेश्यादिसहिताः मत्ताः गायकाः गर्त सञ्ज्ञिताः ॥४॥
[५]जलार्थमेव गर्तास्तु नीचाः गानोपजीविनः ॥

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद् गोविन्दस्य गायकानां भावम् आहुः **गायकाः** इति. **गन्धर्वाः इति (विश्रुताः!)** प्रसिद्धाः गाननिपुणाः **(कूपसंकाशाः!)** कूपतुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यथा कूपजलं जाड्यकाले कोष्णत्वाद् जाड्यनिवर्तकम्, उष्णकाले शीतलत्वात् तापनिवर्तकं, व्यवह्रियमाणं वर्धते समीचीनं च भवति तथा एतेषां भावो अतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिवर्तको, गीयमानो वर्धते समीचीनः च भवति. यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गानद्वारैव एतेषां भावो ग्राह्यः. ननु गायकाः सर्वे तुल्याएव! न इति आहुः **कूपभेदास्तु** इति. यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिद् अमिष्टजलाः, केचित् क्षारजलाः तिक्तजलाः परिणामदुःखजलाः च तथा गायकाअपि पुरुषोत्तम-तद्विभूति-गुणावतारांशादि-लीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिः उपलक्षिताः च अकामाः मोक्षकामाः स्वर्गकामाः लौकिककामाः च इति बहुधेति पूर्वोक्तकूपविशेषैः तुल्याःइति तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. अतएव उक्तं कपिलदेवैः देवहूतिं प्रति **''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैः भामिनि भाव्यते, स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते, अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव च/वा, संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः, विषयान् अभिसन्धाय यशः ऐश्वर्यमेव वा, अर्चादौ**

अर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः, कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणं, यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः, मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये, मनोगतिः अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्यापि/निर्गुणस्य हि उदाहृतम्, अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे'' (भाग.पुरा. ३।२९।७-१२) इत्यादि. अतएव स्वभावभूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसाम् अभिप्रायो भिद्यतइति फलसंकल्पभेदाद् भक्तिभेदःइति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयः त्रयः प्रकाराः इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नव नव भेदाः इति सगुणा भक्तिः एकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा तु एकविधैवेति द्व्यशीतिप्रकारा भक्तिः प्रथतेतराम्. तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः भक्तिहंसे निरूपितं **''श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्म-ज्ञानोपासना-भक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति''** (भ.हं.) इति॥२१/२॥

द्वितीयं भावम् आहुः **कुल्याः पौराणिकाः** इति. **कुल्या** अल्पा कृत्रिमा सरित्. पुराणम् अधीयते विदन्ति वा **पौराणिकाः** पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाऽल्पनदीतुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यथा भूमौ **कुल्याः** जलाशयेन **पारम्पर्ययुताः** परम्परासम्बद्धाः तथा एतेऽपि **भुवि** पुराणार्थप्राप्तौ **पारम्पर्ययुताः** सद्गुरूपदेशाद् अवगतपुराणार्थाः. सद्गुरूपदेशं विना श्रीभागवत-विष्णुपुराणादौ भाषात्रयाऽऽसुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वम् अनर्थकं स्यात्. यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति न अन्यथा तथा पुराणपाठएव तेषां भावोदयो न अन्यदा इति दृष्टान्तेन सूचितम्॥३॥

तृतीयं भावम् आहुः **क्षेत्रप्रविष्टाः** इति. **च** पुनः **ते** पूर्वोक्ताः. **''क्षेत्रं पत्नी-शरीरयोः''** (अम.को.३।३।१८०) इति कोशाद्

देह-कुटुम्बयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्व**संसारस्य उत्पत्तिहेतवः** भवन्ति इति अर्थः. कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्य = अन्नस्य उत्पत्तिहेतवो भवन्ति, न बहिरन्तःशुद्धिहेतु-स्नानाचमनादौ हेतवः, तथा एतेऽपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति. **अपि**शब्दात् क्षेत्रप्रविष्टाः गायकाअपि संसारहेतवो भवन्ति इति अर्थः. अतएव उक्तं भक्तिहंसे **''वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव''** (भ.हं.) इति. गीतायाञ्च **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** (भग.गीता.४।११) इति. श्रीभागवते च उक्तं **''यः ते आशिषः आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिग्, आशासानो न वै भृत्यः स्वामिनि आशिषः आत्मनः''** (भाग.पुरा.७।१०।४), **''त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति, ध्यायन्ति अभद्रनशने शुचयो गृणन्ति, विन्दन्ति ते कमलनाभभवापवर्गम्, आशासते यदि ते आशिष ईश न अन्यः''** (भाग.पुरा.१०।७२।४) इति॥३१/२॥

चतुर्थं भावम् आहुः **वेश्यादिसहिताः** इति. **आदि**पदात् कुलटा-तत्संगिद्यूतादयः उच्यन्ते, **''न तथा अस्य भवेत् मोहो बन्धः च अन्यप्रसंगतः, योषितसंगाद् यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः''** (भाग.पुरा.३।३१।३५) इति कपिलदेववाक्यात्. एतादृशाः **गायकाः गर्त**तुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यदि विषयैः बाध्यमानाअपि दुराचाराअपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुः तदापि समीचीना भवेयुः, तदपि नास्ति इति आहुः **मत्ताः** इति. अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः. नहि एते प्रीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति किन्तु उत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिद्, अतो गर्ततुल्याएव इति अर्थः. अतो न एषां भावस्य कूप-कुल्या-जलवद् आप्यायकत्वादि-गुणयोगः इति अर्थः. अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः॥४॥

पञ्चमं भावम् आहुः **जलार्थमेव** इति. प्रक्षालनोच्छिष्टजल-प्रक्षेपार्थमेव ये **गर्ताः** तत्तुल्याः **नीचाः गानोपजीविनः** इति अर्थः.

नीचत्वेन बाह्योत्कर्षाभावाद् गानोपजीवनेन आन्तरोत्कर्षाभावाद् उच्छिष्टजलगर्त-तुल्यत्वमेव एषाम्. तेन उच्छिष्टगर्तजलवत् तेषां भावो न सद्भिः ग्राह्यः इति अर्थः. यद्वा जलनिःसरणार्थं गर्ताः इति अर्थः. पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनः यद् गायकनिरूपणं तद् एतादृशानां पौराणिकानाम् एतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम्॥४ १/२॥

(अविप्रकीर्णेषु मुमुक्षुणां त्रयोदश[६-१८] विधभावाः)

[६]ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ताः भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥५॥
[७]सन्देहवारकास्तत्र सूदाः गम्भीरमानसाः ॥
[८]सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥६॥
[९]अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ताः वेशन्ताः परिकीर्तिताः ॥
[१०]कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाऽल्पश्रुतिभक्तयः ॥७॥
[११]योगध्यानादिसंयुक्ताः गुणाः वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ॥
[१२]तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥
[१३]अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ताः हरेर्गुणाः ॥
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥
[१४]देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ॥
[१५]साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ॥
[१६]यादृशास्तादृशाः प्रोक्ताः वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याताः मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धाः जन्मप्रभृति सर्वदा॥१२॥
[१७]संगादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुताः भुवि ॥
निरन्तरोद्गमयुताः नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥
[१८]एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ॥

षष्ठं भावम् आहुः ह्रदास्तु इति. तुशब्दः पण्डितप्रकरणबोधनार्थः.

भगवच्छास्त्रं गीता-भागवतादिकं, तत्र **तत्पराः**, नतु मायावादादिमते, एतादृशाः **पण्डिताः ह्रदतुल्याः**, तेषां भावो ह्रदजलतुल्यः इति अर्थः. यथा ह्रदजलम् अन्तःशीतलत्वाद् अगाधत्वात् च न आतपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यम् एवम् एषां भावोऽपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यः इति भावः ॥५॥

सप्तमं भावम् आहुः **सन्देह...** इति. **(तत्र!)** भगवच्छास्त्रे **सन्देहवारकाः गम्भीरं मानसं येषाम्** इति अन्तर्निष्ठाः, एतादृशाः पण्डिताः **सुष्ठु उदकं येषां** तादृशह्रदविशेषतुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यथा उत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरपि एवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानाम् अन्तर्निष्ठानां भावोऽपि मनःप्रसादहेतुरपि इति भावः. वाप्यो वा सूदाः उच्यन्ते ॥५ १/२॥

अष्टमं भावम् आहुः **सरःकमलसम्पूर्णाः** इति. भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः अन्तर्निष्ठाः वा ज्ञातारः **प्रेमयुक्ताः** सन्तः **सरःसम्बन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु** तादृश्यः आपः एतत्तुल्यभावाः इति अर्थः. जलाशयं विहाय अत्र जलदृष्टान्तकरणाद् एतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम्. यथा एतादृश्यः आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः, कमलसौरभ-भृंग-सारसादि-साहित्यात्, तथा एतेषां भावाअपि इति भावः ॥६॥

नवमं भावम् आहुः **अल्प...** इति. **अल्पं श्रुतम्** अध्ययनं येषां ते **प्रेमयुक्ताः** सन्तो **वेशन्तः** अल्पसरः तत्तुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः ॥६ १/२॥

दशमं भावम् आहुः **कर्मशुद्धाः** इति. कर्मभिः शुद्धाः. कर्माणि कृत्वा ईश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवति इति कर्मशुद्धाः, **''यत् करोषि यद् अश्नासि यद् जुहोसि ददासि यत्, यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्''** (भग.गीता.९।२७)

इति भगवद्वाक्यात्. एते **पल्वलम्** अल्पसरोविशेषः तत्तुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. **(अल्पश्रुतिभक्तयः!)** अल्पा श्रुतिः = पुराणादिश्रवणं भक्तिः येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिः येषाम् इति तेऽपि **तथा** पल्वलजलतुल्याः इति अर्थः. यथा वेशन्त-पल्वलयोः अल्पतडागत्वात् तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति तथा * **''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः''** (मैत्राय.उप.६।३६), **''अग्नि/ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत''** (. । ।) इत्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेऽपि विश्वजि-न्न्यायेन फलकल्पनाद् न ईश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यं किन्तु फलार्थमेव ; यागाऽनधिकारिणामेव भक्तौ अधिकारः * इत्यादिभिः कर्मजडानाम् असद्वादैः तेषामपि भावः कलुषो भवति, तेषां **''मत्कर्मपरमो भव मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि''** (भग.गीता.१२।१०), **''मन्मना भव''** (भग.गीता.९।३४, १८।६५) इत्यादिप्रमाणानाम् अज्ञानाद् इति अर्थः. वेशन्त-पल्वलयोः लोके पर्यायत्वेऽपि **''वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वलाभ्यः स्वाहा''** (तैत्ति.संहि.७।४।१३) इति श्रुत्या तयोः जलयोः भेदनिर्देशात् स्वादु-सौरभादि-तदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥७॥

एकादशभावम् आहुः **योगध्यानादि...** इति. **योगो** अष्टांगः, **ध्यानं** प्रादेशमात्रादेः, **'आदि'**पदाद् बाह्यपदार्थास्मृतिः — एतत्समानाधिकरणाः **गुणाः** भावाः **वर्ष्याः प्रकीर्तिताः** वृष्टिजलतुल्याः कथिताः इति अर्थः. यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभम् आधारगुणम् आदाय कार्यविशेषम् अन्नादिकं च जनयति, तथा एतेषां योगादिसमयएव भगवद्भावो देहेन्द्रियादिसर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति. अतएव **संयुक्ताः** इत्यनेन सम्यग् योगो निरूपितः इति भावः ॥७१/२॥

द्वादशं भावम् आहुः **तपोज्ञानादिभावेन** इति. **तपः**

पञ्चाग्निसहनादि, **ज्ञानं** जीवात्मनः, **'आदि'**पदाद् वर्णाश्रमाचारः च प्रत्येकम् एतान्येव **भावः, तपोज्ञानादिभिः** वा यो **भावः,** तेन उपलक्षिताः **(स्वेदजाः प्रकीर्तिताः !)** स्वेदजलतुल्याः कथिताः, तेषां भावः स्वेदजलतुल्यः इति अर्थः. केचित् तपसैव भगवान् आराध्यः इति मन्यन्ते. वस्तुतो भक्तिप्राप्यएव , **''मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्ते-जःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः, न आराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो, भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपायः''** (भाग.पुरा.७।९।९) इत्यादिवाक्यैः. केचिद् इतरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानाद् मोक्षः इति तदेव भजनम् इति मन्यन्ते. वस्तुतस्तु **''तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति''** (तैत्ति.आर.३।१२।७) इत्यादेः भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् . **''श्रेयःस्रुतिं-/श्रेयःसृतिं भक्तिम् उदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये''** (भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।४) इति वाक्ये केवलात्मज्ञानस्य निन्दितत्वात् च.

केचित्तु **''वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्, विष्णुः आराध्यते पन्था न अन्यत् तत्तोषकारणम्/तत्तोषकारकः''** (गरु.पुरा.१।२२९।७) इति वाक्याद् वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते. तदपि न विचारक्षमं ; वर्णाश्रमाचारस्य अधिकारिविशेषणत्वाद् आराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव. **''धर्मः सत्यदयोपेतः''** (भाग.पुरा.११।१४।२२), **''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्''** (भाग.पुरा.१।२।८), **''विप्राद् द्विषड्गुणयुताद् अरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठं, मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं नतु भूरिमानः''** (भाग.पुरा.७।९।१०) इत्यादिभिः भगवद्भजनाभावे भगवद्वैमुख्ये च धर्मस्य अप्रयोजकत्वनिरूपणात्. **''वर्णाश्रमवतां धर्मः एषः आचारलक्षणः, सएव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः''** (भाग.पुरा.११।१८।४७) इति भगवता उद्धवं प्रति आचार-भक्त्योः भेदेन निरूपणात् . द्विजपत्न्यनुग्रहे द्विजैः भगवद्वैमुख्ये

त्रिवृद्विद्यादीनां धिक्कारोक्तेः (द्रष्ट. : भाग.पुरा.१०।२०।३९) च. ''**ये तु इह आसक्तमनसः**'' (भाग.पुरा.३।३२।१६) इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्वैमुख्योक्तेः च. अतएव ''**परमापदम् आपन्नो हर्षे वा समुपस्थिते, न एकादशीं त्यजेद् यः तु यस्य दीक्षा अस्ति वैष्णवी**'' (.पुरा.), ''**समात्मा सर्वजीवेषु निजाचाराद् अविच्युतः, विष्णवर्पिताखिलाचारः सहि वैष्णवः उच्यते**'' (.पुरा.) इत्येभिः पुराणवाक्यैः माधवाचार्यैः कालमाधवीये (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) वैष्णवलक्षणम् अभिधाय वैष्णव-स्मार्तयोः भेदो निरूपितः, वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्त-सकलविरोधात्. यथा स्वेदजलं न शुद्धिहेतु- स्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति तथा एतेषां भावोपि इति भावः ॥८॥

त्रयोदशं भावम् आहुः **अलौकिकेन** इति, महदनुग्रहादिना प्राप्त**ज्ञानेन ये (हरेः !)** सर्वदुःखहर्तुः **गुणाः** ऐश्वर्यादयः **प्रोक्ताः** कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्याः ते गुणाः दूरात् पर्वतादेः धारारूपेण **(पतच्छब्दाः !)** पततां जलानां ये शब्दाः तत्सदृशाः **प्रकीर्तिताः** कथिताः इति अर्थः. यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकाः तथा उच्यमानाः भगवद्गुणाअपि वक्तृणां धाराजलसदृश-भावज्ञापकाः इति अर्थः. यथा धाराजलं नैर्मल्य-शैत्य-माधुर्याविच्छेदयोगाद् दर्शन-स्पर्शन-स्नानाचमन-पानादिभिः मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि तथा एतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोऽपि इति भावः ॥९॥

चतुर्दशं भावम् आहुः **देवा...**इति. श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां **देवानाम्. आदि**पदात् पितृ-मातृ-पति-ज्येष्ठभ्रात्रादयः उच्यन्ते. एतेषामेव **उपासने** ''अयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः, पितैव अस्माकम् ईश्वरः, पितृसेवां विष्णुभजनमेव कुर्मः'' इत्येवमादयो ये **उद्भूताः** भावाः ते. अथच **देवाः** शिवादयः **'आदि'**पदाद् यक्ष-रक्षः-पिशाचादयः तेषां देवादीनाम् **उपासनम् उद्भूतम्** उद्गतं

येषु भगवद्भावेषु ते भावाः, देवाद्युपासनेन सह वा उद्भूताः भगवद्भावाः, तेच **भूमेः उद्गताः पृष्वाइव;** **''अवश्या यजन्याः पृष्वा''** (तैत्ति.संहि.साय.भा.७।४।१३) इति वेदभाष्ये पृष्वा जलबिन्दवः तुषारकणाः जलबुद्बुदा वा तेइव इति अर्थः. तेषां भ्रान्त्या भजनात्, तुल्यतयैव सर्वभजनात् च. महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनन्तु भगवत्प्रीति-भक्ति-शुद्ध्यादि-साधकत्वाद् भिन्नरूपमेव. अतएव श्रीभागवते **''मद्भक्तपूजा अभ्यधिका''** (भाग.पुरा.११।१९।२१), **''तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं न अपुनर्भवं, भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किम् उत आशिषः''** (भाग.पुरा.१।१८।१३,४।३०।३४), **''प्रसंगम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः, सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्''** (भाग.पुरा.३।२५।२०), **''सतां प्रसंगात् मम वीर्यसंविदः''** (भाग.पुरा.३।२५।२५), **''न तथाहि अघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः, यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पुरुषनिषेवया''** (भाग.पुरा.६।१।१६), **''किरातहूणान्ध्र...''** (भाग.पुरा.२।४।१८) इत्यादि. पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वाद् न भगवत्फलसाधकत्वम्. अतएव भगवता गीतायां **''येऽपि अन्यदेवताभक्ताः''** (भग.गीता.९।२३) इत्यत्र स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभावः उक्तो; विध्यभावे कर्मणि फलाभाववद् अत्रापि भगवत्फलं न भवति इति आशयेन. [१](**''यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्''** (भग.गीता.९।२५), **''देवान् देवयजो यान्ति''** (भग.गीता.७।२३) इति वाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिः, तस्यैव भगवान् योग-क्षेमं वहति इति. पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिः, नतु केनापि प्रकारेण अन्यभजनम् इत्यत्र (/ इत्यतः !) विध्यभावात् फलाभावो युक्तः इति भावः.) यथा बिन्दवः तुषारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धि-तृप्त्यादिसाधकं तथा एतेषां भावोऽपि न शुद्ध्यादिसाधकः इति अर्थः ॥९ १/२॥

१.( ) एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते.

पञ्चदशं भावम् आहुः साधनादिप्रकारेण इति. साधनम् आदिः फलाद् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधाभक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्माः येषां श्रवणादयो नटवेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिताः इति अर्थः. भक्तिमार्गे मर्यादया भगवदंगीकाराद् अकामोपहतैः अखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थः इति शास्त्रार्थनिश्चयात् श्रवणादिभिः तेषां भावः इति. यथा पर्वतोपरि वृष्टि-तडागादिसद्भावे प्रस्रवणजलं वर्धते, तदभावे ह्रसते इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुः च, तथा एतेषां भावोऽपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुः च इति भावः. इदमेव उक्तं भक्तिहंसे ''**आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तः तथैव तद्वरणात् परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकः. तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यते इति विधेः अप्रयोजकत्वम्**'' (भ.हं.) इति. एकादशस्कन्धेच ''**भक्तियोगः पुरैव उक्तः प्रीयमाणाय ते अनघ, पुनः च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परं, श्रद्धामृतकथायां मे शश्वद् मदनुकीर्तनं, परिनिष्ठा तु/च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम, आदरः परिचर्यायां सर्वांगैः अभिवन्दनं, मद्भक्तपूजा अभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः, मदर्थेषु अंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणं, मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनं, मदर्थे अर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च, इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः, एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धव आत्मनिवेदिनां, मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते**'' (भाग.पुरा.११।१९।१९-२४) इत्यादिभिः निरूपितम्. नवधाभक्तिस्तु ''**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्, इति पुंसार्पिता विष्णोः भक्तिः चेद् नवलक्षणा, क्रियते भगवति अद्धा तद् मन्ये अधीतम् उत्तमम्**'' (भाग.पुरा.७।५।२३-२४) इति प्रह्लादैः निरूपिता॥१० १/२॥

षोडशं भावम् आहुः **यादृशाः** इति. **यादृशाः** पूर्वम् अव्यवधानेन

प्रोक्ताः तादृशाः वृद्धि-क्षयविवर्जिताः चेद् **मर्यादैकप्रतिष्ठिताः** मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, नतु ततो अधिकविशेषांगीकारयुक्ताः, **ते स्थावराः** आपः स्थिरजलतुल्यभावाः **समाख्याताः** इति अर्थः. यद्वा ये केचित् येनकेनचित् प्राप्त-वृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणः ते तथा प्रोक्ताः इति अर्थः. अतएव प्रेमस्वरूपं श्रूयते "**आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुः तनीयानपि, क्षीयेतापि नच अपराधविधिना नत्या न यद् वर्धते, पीयूषप्रतिवादिनः त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं, प्रेम्णः तस्य गुरोः किम् अद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्**" (महासुभा.संग्रह. ५३८९-१) इति. यथा एतज्जलं न आतपेन शुष्यति, स्नानादिहेतुः च भवति, तथा एतेषां भावोऽपि न संसारताप-कुतर्कादिभिः गच्छति, शुद्ध्यादिहेतुः च भवति इति भावः ॥११ १/२॥

सप्तदशं भावम् आहुः **अनेकजन्म...** इति. ये भावाः **अनेकजन्मसु** "**जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते**" (भृगु.संहि.३०।१२८) इति वाक्यात् तपोध्यानसमाधि-भिः **सम्यक्सिद्धाः (जन्मप्रभृति सर्वदा !)** तज्जन्मारभ्य सदा **भुवि** आधारभूते च आत्मनि **संगः** सत्संगः **'आदि'**पदाद् अन्न-कालविशेष-देशविशेषाः दुष्टसंगादयः च तेषां यौ **गुण-दोषौ ताभ्यां** क्रमेण **वृद्धि-क्षययुताः निरन्तरः उद्गमः** उद्भवो गमनं च तेन **युताः** एतादृशाः **ते** भावाः **नद्यः** स्वतो असमुद्रगामि-नदीजलतुल्याः **परिकीर्तिताः** इति अर्थः. यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धि-क्षयवद् भवति, भूमि-पर्वतादिगुण-दोषाभ्यां गुण-दोषवद् भवति, शुद्धि-तृप्त्यादिहेतुः च भवति, तथा एते भावाअपि तपो-ध्यान-समाधिसाध्य-पापक्षयद्वारा जनितेति शुद्ध्यादिहेतवः सत्संगादिभिः गुणवन्तो भवन्ति वर्धन्ते च, दुष्टसंगादिभिः दोषवन्तः भवन्ति हीयन्ते च इति भावः ॥१२-१३॥

अष्टादशं भावम् आहुः. **एतादृशाः** इति अव्यवधानेन उक्ताः

भावाः **स्वतन्त्राः** निरुपाधिकाः चेत् तदा **ते सिन्धवः** स्वतःसमुद्रगामिन्यो महानद्यः तज्जलतुल्याः **परिकीर्तिताः** इति अर्थः. सिन्धुषु नदाअपि गृह्यन्ते. यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति तथा एतद्भावानुसारिणोऽपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवद् एते भावाः शुद्ध्यादिहेतवोऽपि भवन्ति इति भावः ॥१३१/२॥

(एकोनविंशतितमो विमुक्तप्रवक्तृणां[१९] भावाः भगवतः लोकवेदप्रसिद्धा-प्रसिद्धमिश्रगुणानां वर्णेन क्षारादिपञ्चसमुद्रजलसदृशाः पञ्चविधाः)

पूर्णाः भगवदीयाः ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ॥
लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः॥

एकोनविंशं भावम् आहुः **पूर्णाः भगवदीयाः** इति. **ये भगवदीयाः** भक्त्या सेवया **पूर्णाः** **''भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः''** (भाग.पुरा.५।६।१७) येषाम् आत्मादिकं भगवदर्थम् अपेक्षितं, नतु आत्माद्यर्थे भगवान् सेव्यः, **ते समुद्राः** रत्नाकरतुल्याः **प्रकीर्तिताः**, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. 'भगवदीय'शब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वात् शेषार्थे 'छ'प्राप्तौ **''बहुलं छन्दसि''** (पाणि.सू. । ।) इति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोऽपि 'वाचस्पत्या'दिवद् लोके ज्ञेयः. तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति **शेषव्यासाग्निमा-रुताः** इति, **जडनारदमैत्राद्याः** इति. **शेषो** भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च, **''अनन्तः च अस्मि नागानाम्''** (भग.गीता.१०।२९) इति वाक्यात्. **व्यासः** कलावतारः सदा भगवद्धर्मनिरूपणपरो, यस्य पूर्णभगवद्धर्मनिरूपणेन आत्मप्रसादः. **अग्निः** भगवदास्यरूपाः स्वयमेव, येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्णएव. **मारुतो** हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः. **जडो** जडभरतो, यो अन्तःपूर्णभावाद्

बहिः जडइव प्रतीयते. **नारदः** सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः. **मैत्रो** मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता. **आद्यपदाद्** उद्धवादयः. समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनाद् अब्धिः उत्तुंग-तरलिततरंगो भवति तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनाद् एतेऽपि प्रवर्धमानभावाः भवन्ति इति भावः. अयमेव भावः कपिलदेवैः उक्तः **''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य-सारूप्यैकत्वमपि उत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिकः उदाहृतः''** (भाग.पुरा.३।२९।१३-१४) इति॥१४१/२॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान् निरूपयन्ति **लोकवेदगुणैः** इति. **एके लोकमिश्रभावेन, एके वेदमिश्रभावेन, एके गुणैः मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति.** ते क्रमेण उच्यन्ते. ''राम-कृष्णादयो मनुष्याएव परं बलादिना अधिकाः'' इति ज्ञात्वा एके हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते [१]क्षारसमुद्रतुल्याः, तेषां भावस्तु तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं नवा तृप्तिसुखकारि तथा एतेषां भावोऽपि इति भावः. एकेतु **''उद्धृता असि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना''** (महाना.उप.४।५) इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारादेः कृष्ण(वराह)कर्तृकत्वेन निरूपणाद् जगत्कर्तैव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजति इति ज्ञात्वा हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते [२]दधिमण्डोदतुल्याः, तेषां भावः तज्जलतुल्यः इति अर्थः. यथा दधिमण्डस्य असारत्वात् न पुष्टिहेतुत्वं तथा एतेषां भावस्यापि इति भावः. मायागुणैः विना भगवतः कर्तृत्वाभावात् तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोति इति ज्ञात्वा हरेः गुणान् ये वर्णयन्ति ते [३]सुरोदतुल्याः, तेषां भावः सुरातुल्यः इति अर्थः. यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथा एतद्भावस्यापि इति भावः. भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थः इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते [४]क्षीरोदतुल्याः, तेषां भावः क्षीरतुल्यः इति अर्थः. यथा क्षीरं स्वादु मधुरं पुष्टिजनकं तथा अयं भावोऽपि इति भावः. भगवान्

महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोति इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते [५]घृतोदतुल्याः, तेषां भावो घृततुल्यः इति अर्थः. यथा घृतं वीर्यहेतुः तथा अयं भावोऽपि इति भावः. **''तं यथा यथा उपासते''** (मुद्.उप.३) इति श्रुतेः भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते तु [६]इक्षुरसोदतुल्याः, तेषां भावः इक्षुरसतुल्यः इति अर्थः. यथा इक्षुरसो मधुरो अन्तस्तापनिवर्तकः तथा अयं भावोऽपि इति भावः. **''यशः स्वान् उद्धरेत् कृष्णो यादृशान् तादृशानपि, सर्वथा शरणं यातान् अतः सेव्यः सएव हि''** (. । ।) इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते शुद्धोदकतुल्याः, तेषां भावः [७]शुद्धोदकतुल्यः इति अर्थः. यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्ति-नैर्मल्य-तृप्त्यादिहेतुः तथा अयं भावोऽपि इति.

(अथवा) भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्यः इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्याः, तेषां भावो दधिमण्डतुल्यः इति अर्थः. ''भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिद् अपेक्षते गृह्णाति वा; सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात् सर्वं समर्प्यते स्तूयते च'' इति ज्ञात्वा ये हरेः गुणान् वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्याः; तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्वैराग्यस्य भिन्नरूपत्वाद् इति भावः. केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥१४-१५ १/२॥

(अमृतोधितुल्यानां भगवद्गुणगानकर्तृककथायां कश्चन विशेषो ज्ञातव्यः)

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर् वर्णयन्ति विचक्षणाः ॥
तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥
तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ॥
अजामिलाकर्णनवद् बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।।
तदा लेहनम् इत्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्।।१९।।

गुणातीततया इति. पूर्णभगवदीयेषु अत्युत्तमान् निरूपयन्ति **ये भगवदीयाः** **''तमु स्तोतारः''** (ऋक्.संहि.१।१५६।३), **''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम्''** (भग.गीता.१५।१८), **''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्''** (भाग.पुरा. ११।२५।२४), **''लोकवत्तु लीला कैवल्यम्''** (ब्र.सू.२।१।३३) इत्यादि श्रुति-स्मृति-पुराण-न्यायैः भगवन्नाम-रूप-धर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य, भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं, भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो, भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं, भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिना अन्येषां मोक्षसाधिका च इत्येवं निरूपणेन **विष्णोः** पुरुषोत्तमस्य **सर्वानेव गुणान्** नवनीतादिचौर्य-गोचारण-वेणुवादन-गोवर्धनोद्धरणादीनपि **शुद्धान्** गुणातीतत्वेन मायासम्बन्धरहितान् नित्यान् **सच्चिदानन्द**रूपवतो **वर्णयन्ति ते अमृतोदाः** सुधासमुद्रतुल्याः **समाख्याताः** कथिताः, तेषां भावः सुधातुल्यः इति अर्थः. ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो यतो **विचक्षणाः** ततः **तद्वाक्यानां** तेषां वचनामृतस्य **पानम्** अन्तर्निवेशनं ततः उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च **सुदुर्लभं** सुतरां दुःप्रापम्. अतएव नामस्वरूपज्ञानार्थम् एतादृशानाम् उपदेष्टृणाम् उपसत्तिः कार्या इति आशयेन आह श्रुतिः **''महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे''** (ऋक्.संहि.१।१५६।३) इति. 'ते' त्वत्सम्बन्धिनं 'सुमतिं' निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तम् इति अर्थः. अतएव तत्त्वसागरेऽपि उक्तं **''दुर्लभे सद्गुरूणान्तु स्यात् तत्संगे उपस्थिते, तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान्''** (राघवभट्टकृत तत्त्वसागर । ।) इति. अतएव नित्यानन्दमय-पुरुषोत्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञान-कर्मादिकं व्यर्थम् इति आह भगवान् **''अवजानन्ति मां मूढाः''** (भग.गीता.९।११) इत्यारभ्य **''प्रकृतिं**

मोहिनीं श्रिताः'' (भग.गीता.९।१२) इत्यन्तेन. नित्यानन्दमय-पुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं, सर्वभावेन स्वभजनं च उक्तं भगवता ''**यो माम् एवम् असम्मूढः**'' (भग.गीता.१५।१९) इति श्लोकेन. तद्वाचो महिमानम् आहुः **तादृशानाम्** इति. पूर्णभगवदीयानां **वाक्यं क्वचित्** यत्र प्रसन्नतया स्वेच्छया वदन्ति, नतु अनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र **दूतानां** सन्देशहराणामिव **वर्णितं** ज्ञेयम्. यथा दूतमुखेन राजा वदति तथा तन्मुखेन भगवानपि. दूतानामिव प्रभूत्कर्षवर्णने तेषां न शंका च इति भावः. अतो भगवत्कृपया फले भाविनि एतादृशानां समागमो भवति. अतएव श्रीभागवते ''**भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेद् जनस्य तर्हि अच्युतसत्समागमः/अच्युत सत्समागमः, सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः**'' (भाग.पुरा.१०।४८।५३-५४), ''**महद्विचलनं नृणाम्**'' (भाग.पुरा.१०।८।३) इत्यादि.

अतएव एतद्वचनामृत**बिन्दुपानम्** एभ्यः उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वापि **अजामिलाकर्णनवद्** अजामिलस्य यद् आकर्णनं = विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् **प्रकीर्तितम्.** यथा अजामिलस्य तदनन्तरं न पुनः नरकसम्बन्धो, भगवद्धर्माचरणेन उत्कृष्टफलप्राप्तिः, तथा एतद्बिन्दुपानकर्तुरपि इति भावः. यद्वा अजामिलस्य आकर्णनं यस्मिन् तद् अजामिलोपाख्यानं, तेन यथा भगवद्रूप-नामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति तथा एतद्बिन्दुपानेनापि भवति इति भावः. अतएव श्रीभागवते ''**किरातहूणान्ध्र...**'' (भाग.पुरा.२।४।१८) इति ''**यत्पादपंकज...**'' (भाग.पुरा.१०।३०।३५) इत्येतद्बिन्दोः पानापेक्षया रसास्वादो अधिकः इति. तत्परिचायकम् आहुः **रागाज्ञानादिभावानाम्** इति. **रागः** स्नेहो गृहादिषु, **अज्ञानं** भगवत्स्वरूपस्य, '**आदि**'पदाद् गृहाद्यासक्तिः; एतान्येव **भावाः**. यद्वा **अज्ञानम्** अविद्या **आदिः** येषां **भावानां** शोक-मोहादीनां तेषां **यदा सर्वथा नाशनं** तद्वासनापि न तिष्ठति **तदा लेहनं** रसास्वादनं पूर्णम्

उक्तम्. यद्वा **रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनम्** अस्फूर्तिः **तदा** इति. इदमेव बिन्दोः पानं **लेहनं** रसास्वादनम् **उक्तम्.** श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेव आस्वाद्यमानम् अमृतं भवति इति अर्थः. तत् **स्वानन्दोद्गमकारणं** स्वस्य यो भगवदानन्दस्य उद्गमः तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणं, **''रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति''** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः. स्वस्य = तिरोहितानन्दस्य यः उद्गमः = प्राकट्यं ज्ञानफलं **तत्कारण**तुल्यं यत्र इति च, ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः. भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापञ्चिकास्फूर्तौ न किञ्चिद् अवशिष्यते. अतएव उक्तम् एकादशे **''भक्तिं लब्धवतः साधोः किम् अन्यद् अवशिष्यते, मयि अनन्तगुणे ब्रह्मणि आनन्दानुभवात्मनि''** (भाग.पुरा.११।२६।३०), **''एवं धर्मैः मनुष्याणाम्, उद्धव! आत्मनिवेदिनाम्''** (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यादिना च. तथा उक्तं भक्तिवर्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः **''स्नेहाद् रागविनाशः स्यात् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः... यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि''** (भ.व.४-५) ॥१६-१९॥

(भगवत्कथासु तद्गुणगानकर्तृणां[घ] नैकविधविप्रकीर्णाः[२०] भावाः)

उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा ॥
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

विंशं भावम् आहुः **उद्धृतोदकवद्** इति. अव्यावधानेन **उक्ता**ऽमृतोदतुल्या**ऽतिरिक्तानां वाक्यानि तथा** तेषामेव सर्वे भावाः च भाववताम् अप्रत्यक्षदशायाम् आदरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाः च **उद्धृतोदकवद्** उपकारं कुर्वन्ति, यथाकथञ्चिद् गृहीतानि **पतितोदकवद्** जलाशयात् पृथक्स्थितोदकवत्. अथवा प्रासादादितः पतितोदकवद् उपकारं कुर्वन्ति. अथवा भाववद् अप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावाः

अमृतोदतुल्यातिरिक्तानाम् उद्धृतोदकवत् फलं साधयन्ति, वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्ति इति अर्थः. **ततः** तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यः **च फलमपि तथा** तदनुरूपमेव इति अर्थः. यथा उद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विदधते, नतु तानेव, तथा तत्तद्भावाअपि तत्तद् गुणसदृशान् गुणान् विदधते, सुधातु सदा एकरूपमेव गुणं विधत्ते इति भावः ॥२०॥

(ग्रन्थोपसंहारः)

इति जीवेन्द्रियगताः नानाभावं गताः भुवि ॥
रूपतः फलतश्चैव गुणाः विष्णोर् निरूपिताः ॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः

उपसंहरति **इति** इति. **इति** इति समाप्तौ, अनेन प्रकारेण वा. **जीवः** आत्मा **इन्द्रियाणि** च तेषु **गताः** प्राप्ताः, अतएव **भुवि** आधारे **नानाभावम्** अनेकविधं सात्त्विकादिभावं **गताः** प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः. एतादृशाः **विष्णोः** भगवतो **गुणाः**, तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद् वा. **रूपतः** स्वरूपतः ईदृशम् इति यत् स्वरूपम् इति, **फलतः** इति ईदृशम् एतत्फलम् इति **निरूपिताः** विवेचिताः इति अर्थः ॥२१॥

जलानामिव भावानां भेदाः यत्र निरूपिताः ॥
'जलभेदः' इति ख्यातो ग्रन्थोऽयं भावबोधकः ॥३॥
श्रीविट्ठलेशांघ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ॥
तातांघ्रिपद्मे च गुरून् पितृव्यान् टीका कृतेयं 'जलभेद'नाम्नः ॥४॥
श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ ॥

भावपूर्णा मुदे भूयात् सुन्दरीवाऽल्पभाषिणी ॥५॥
मृषोद्यमनवद्यं वा बालस्येव कृपालवः ॥
क्षमन्तां विट्टलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥६॥

इति श्रीविट्टलेश्वरचरणैकतान-श्रीकल्याणरायविरचिता
जलभेदटीका
सम्पूर्णा



।। सेवाफलम् ।।

(श्रीमत्कल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतेः विवृतिसमेतम्)

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलम् उच्यते ।।
अलौकिकस्य दानेहि चाद्यः सिद्ध्येद् मनोरथः ।।१।।
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।।

स्वोपज्ञविवृत्तिः

सेवायां फलत्रयम् : [१]अलौकिकसामर्थ्यं, [२] सायुज्यं, [३]सेवापयोगी देहो वैकुण्ठादिषु .

विवृतिः

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोऽस्मदीश्वरः ।।
निवारयतु नः तापान् सुखसन्दोहसिद्धये ।।।१।।

श्रीमद्वल्लभाचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवान् इतो अधिकं किञ्चित् फलं दास्यति मुक्तिमेव वा ? इति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्वल्लभाचार्याः सेवासिद्धौ फलं निरूपयन्ति : **यादृशी सेवना** इति. भक्तिमार्गे सेवा मया **यादृशी प्र**कर्षेण **उक्ता** **''चेतः तत्प्रवणं सेवा''** (सिद्धा.मुक्ता.२) इति **तत्सिद्धौ** सत्यां यत् **फलं** भवति **तद् उच्यते.** अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वाद् विवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः. सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेण उत्तम-मध्यम-साधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति त्रैविध्याद् विवरणे **सेवायां फलत्रयम्** इति उक्तम्. तत्र उत्तमं फलम् आहुः **अलौकिकसामर्थ्यम्** इति, भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं मुख्यानामिव. मध्यमं फलम् आहुः **सायुज्यम्** इति. सह युनक्ति इति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं = सहभावः गोपानामिव.

साधारणं फलम् आहुः **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिषु** इति. **'आदि'**पदाद् भूलोके उद्धवादीनामिव (/ भूलोकेषु गवादीनामिव). सेवासिद्धौ सत्यां यदि भगवान् अलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको मनोरथो अन्योऽपि सिद्ध्यति इति आहुः : **अलौकिकस्य** इति. **अलौकिकस्य** योग्यस्य शरीरादेः **दाने** सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोति इति अर्थः. **हि** इति युक्तः च अयम् अर्थः, एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात्. **चो** अप्यर्थे. **'चाल्पः'** इति पाठे साधारणहीन-मध्यमयोः कथञ्चित् सिद्धावपि भगवद्दानं विना उत्तमं फलं न सिद्ध्यति इति अर्थः. काल-कर्मवशाद् इदं कदाचिद् भवेद् इति आशंक्य आहुः **फलं वा** इति. भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः **कालो नियामको** दाता प्रतिबन्धको **वा न** भवति इति अर्थः ॥१ १/२॥

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥२॥
अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि॥
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥३॥
सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलाद् एतौ सदा मतौ॥
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥४॥
बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम्॥
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥५॥
नत्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्॥

स्वो.वि.

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् : उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा. त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः.

भोगो द्विविधो : लौकिको अलौकिकः च. तत्र लौकिकः

त्याज्यएव, अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति. प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः : साधारणो भगवत्कृतः च. तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यति इति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा ''आसुरो अयं जीवः'' इति निर्धारः. तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः. ननु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्यः? इति आकांक्षायाम् आह **सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्** इति, सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगः त्याज्यः. एतौ सदा प्रतिबन्धकौ. द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः. ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थम् आह द्वितीये इति. आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति. ततः सेवा न आधिदैविकी इति उक्तं भवति. भोगाभावः तदैव सिद्ध्यति यदा गृहपरित्यागः ॥२-५१/२॥

विवृतिः

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलम् उक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकानि आहुः : **उद्वेगः** इति. सेवायां क्रियमाणायाम् अन्यत्र गमनेच्छादिः **उद्वेगः**. सेवासमये लौकिक-वैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृताऽन्तरायादिः च **प्रतिबन्धः**. **भोगो** विषयाणाम्. एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः, तेन एतेषां **साधनपरित्यागः कर्तव्यः**.

भोगो द्विविधो : लौकिको अलौकिकः च. लौकिको लोकसिद्धः, यथा लोकाः स्वार्थम् उच्चावचान् पदार्थान् आनीय भोगं कुर्वन्ति. स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः. एतेन श्रुति-स्मृति-पुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः. **अलौकिको** भगवद्दत्तः अम्बरीषादेरिव. स **तु** साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले **प्रविशति,** यथा सेवोपयोगिदेहं दत्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान्. स अलौकिकभोगो न त्याज्यः.

प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः : साधारणो भगवत्कृतः च. तत्र साधारणः पूर्वम् उक्तः स **बुद्ध्या त्याज्यः.** यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः. स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यति इति ज्ञातव्यम्॥२॥

अकर्तव्यं भगवतः अस्य श्लोकस्य विवरणं **भगवत्कृतः चेद्** इत्यारभ्य **विवेकः** इत्यन्तम्. **तदा अन्यसेवापि व्यर्था** इति. महादेव-नारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणाद् महादेवादिसेवया सेवा-तत्फलसिद्धिः भविष्यति इति आशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, न एतत्फलसाधिका इति अर्थः. **तदा** इति, **तदा आसुरः** आसुरावेशवान् आसुरभाववान् वा **अयं जीवः इति निर्धारः** निश्चयः इति अर्थः, जीवस्य आसुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः. तदा "कथं मम एवं भवति!" इति **शोकाभावाय** "भगवान् ईश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति; मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यति!" इति ज्ञात्वा **ज्ञानमार्गेण** श्रवण-मनन-निदिध्यासनानि कुर्वता स्थेयम् इति अर्थः. यथा तत्त्वनिर्धारो भवति, तथा अयं विवेको वा साधने इति अर्थः. अत्र अयं भावो : दुःसंगाद् बाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्धं करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवति इति अर्थः॥३॥

ननु **साधारणो लौकिको भोगः** किमर्थं त्याज्यः? भोगेनैव सेवा कर्तव्या इति आशंक्य आहुः **सविघ्नो अल्पो घातकः** इति. सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिद्ध्यति, जायमानोऽपि अल्पसुखजनको भवति, भावघातकोऽपि भवति अतः **त्याज्यः.** ननु सावधानतया स्थितेः न भोग-प्रतिबन्धकयोः बाधकत्वम् इत्यतः आहुः सावधानेऽपि भोग-प्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव **प्रतिबन्धकौ** सम्मतौ इति अर्थः. **बाधकानाम्** इति श्लोकः एवं योजनीयः : **बाधकानां परित्यागः** कर्तव्यः. **भोगेऽपि एकं परम्** उत्कृष्टम् एकं भोगं विहाय **तथा**

परित्यागः कर्तव्यः इति अर्थः. यतो **निष्प्रत्यूहं** यथा स्यात् तथा **महान् भोगः प्रथमे** प्रविशति. पूर्वं व्याख्यातम् एतत्. **ज्ञानस्थिति...** इति, ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तदभावार्थम् इति अर्थः. अत्र अयं भावः : पूर्वं **ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्** इति उक्तम्. अधुना श्रीकृष्णप्रसादाभावाद् मुक्तिरपि न भवति इति स्वस्य **संसारनिश्चयात्** फलार्थं **चिन्ता** न कर्तव्या इति अर्थः. ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेद् इति आशंक्य आहुः **आद्ये** इति, **आद्येन** भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन **फलाभावे** काय-वाङ्-मनोभिः तत्परतया कृतत्वाभावात् सा **सेवा न आधिदैविकी.** काय-वाङ्-मनोभिः तत्परतया कृतत्वेऽपि भक्तापराधादिना भगवान् चेत् तां न मन्येत **तदा सा सेवा न आधिदैविकी** भवति. भगवद्गामिनी न भवति, आधिदैविक्याएव एतत्फलसाधकत्वात्. **भोगे** इति, **गृहपरित्यागः** गृहासक्तिपरित्यागः इति अर्थः. **द्वितीये** इति, द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धः. तस्मिन् सति "फलं कथं स्याद्?" इति **चिन्ता संसारनिश्चयात् सर्वथा त्याज्या** इति अर्थः *॥४-५॥

ननु प्रतिबन्ध-साधारणभोगयोः सत्त्वेऽपि साधनकरणे फलं स्याद् इति आशंक्य आहुः **नतु आद्ये** इति, **आद्ये** भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति. **तृतीये** साधारणभोगे गृहासक्तिः बाधिका इति अर्थः॥२-५१/२॥

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वम् अन्यद् मनोभ्रमः ॥६॥
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्॥
गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यम् एतदेवेति मे मतिः ॥७॥
कुसृष्टिर् अत्र या काचिद् उत्पद्येत स वै भ्रमः ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं सेवाफलं सम्पूर्णम्

*परवर्तिसर्वासु टीकासु चतुर्थ-पञ्चमश्लोकौ व्यत्यासेन योजितौ (सम्पा.)

विवृतिः

अवश्या इयम् इति, **इयं** रीतिः **अवश्या** कर्तुम् अशक्यापि फलार्थं **सदा** कर्तव्यत्वेन **भाव्या. अन्यत्** सर्वसाधनं **मनोभ्रमः** स्वान्तर्भ्रान्तिः इति अर्थः. ननु भगवदीयानां स्वतएव एतत् फलं भविष्यति; किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यम् इति आशंक्य आहुः **तदीयैः** इति. भगवदीयैरपि **(तत्!)** पूर्वोक्तसाधनं **कार्यं,** मर्यादायाम् अंगीकारात्. ननु भक्तिमार्गप्रवेशमात्रेण क्वचित् फलं दृश्यते इत्यतः आहुः **पुष्टौ** इति. पुष्ट्यंगीकारे तु भगवान् विलम्बं नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिः इति अर्थः. रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेऽपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यम् इति आहुः **गुणक्षोभेऽपि** इति. मम निश्चयः एतावानेव इति आहुः **मे मतिः** इति. ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनम् इत्यतः आहुः **कुसृष्टिः अत्र** इति. **अत्र** अस्मिन् फले **कुसृष्टिः** कुत्सितानां साधनानां या सृष्टिः = कल्पना उत्पन्ना स्यात् सा **भ्रम**एव इति अर्थः॥६-७१/२॥

सेवाफलोक्तिविवृतेः स्वाचार्याणां यथामति॥
कृता कल्याणरायेण विवृतिः स्वसुखाय च॥२॥

इति श्रीवल्लभचरणैकतान-श्रीकल्याणरायविरचिता
सेवाफलोक्तिविवृतेः विवृतिः
समाप्ता



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ सप्रकाशः तत्त्वार्थदीपनिबन्धः ॥

॥ शास्त्रार्थप्रकरणम् ॥

[प्रकाशः] सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह ॥
तथात्वं येन संसिद्ध्येत् तदर्थं व्यासः उक्तवान् ॥१॥
श्रीभागवतम् अत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम् ॥
तस्यापि तत्त्वं येनैव सिद्ध्येद् इति विचार्य हि ॥२॥
अग्निश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत् ॥
तच्चापि येन संसिद्ध्येद् व्याख्यानं तन्निरूप्यते ॥३॥

॥ टिप्पणी ॥
(श्रीकल्याणरायकृता)

यः स्वीयभावेन विलज्जितानां मोदं दधानो विविधैर्विलासैः ॥
दुग्धादिचौर्यैरपि सर्वसिद्ध्यै श्रीगोकुलेशोऽस्तु स मे प्रसन्नः ॥१॥
वन्दे श्री व ल्ल भा चा र्य च र णा ब्ज द्वयं लसत् ॥
यतो विन्दे व्रजाधीशपादाम्बुजमया[1]वहम् ॥२॥

[प्र] श्रीभागवततत्त्वार्थं प्रकटीकरिष्यन् प्रथमं शास्त्रार्थोपनिबन्धन-लक्षणं मंगलम् आचरति :

[कारिका] नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे ॥
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः[2] ॥१॥

[प्र] नमः इति. भगवति जीवैः नमनमेव कर्तव्यं, न अधिकं

---

१. मयावहम् इति, शब्दकल्पद्रुमे 'मय'शब्दः सुखवाचकः.
२. टिप्पणिव्याख्यानुसारेण सप्रकाशनिबन्धकारिकाः संकलिताः

शक्यम् इति सिद्धान्तः. ''किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय, लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किं ते वचनीयम् अस्ति'' (गरु.पुरा.३।७।३६) इत्यादिवाक्यैः परमकाष्ठापन्नं वस्तु नमस्यत्वेन निर्दिशति **भगवते** इति, पुरुषोत्तमाय इति अर्थः. तत्सिद्धये लोकवेदप्रसिद्धिम् आह **तस्मै** इति. मतभेदेन तस्य अन्यथाकल्पनाव्यावृत्त्यर्थम् आह **कृष्णाय** इति. सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः 'कृष्णः' इति उच्यते.

ननु पूर्वं साधनानि सिद्धान्येव सर्वत्र, तत्र अनधिकारेण साधनाभावे भगवानपि अवतीर्य किं करिष्यति इति आशङ्कायाम् आह **अद्भुतकर्मणे** इति. भगवतो अद्भुतकर्मत्वम् अग्रे व्युत्पाद्यम्, असाधनं साधनं करोति इत्यादि. एवं साक्षाद् भगवत्त्वे हेतुम् उक्त्वा तस्य लीलाम् आह **रूप... इति. रूपनाम-विभेदेन यः क्रीडति, रूपनाम-विभेदेन यो जगद्, रूपनाम-विभेदेन यतो जगद्** इत्यनेन क्रीडायां स्वातन्त्र्यम् उक्तम्. **निर्लेपत्वाय** आह **एतादृशं जगद् यतः** इति. एवं ज्ञानेन मुच्यन्ते इति संक्षेपः ॥१॥

[टिप्पणी] **रूपनाम-विभेदेन** इति. व्यवहारतो भिन्नैः रूपैः नामभिः (च!) इति अर्थः. यद्वा विभेदो वैलक्षण्यं ; विलक्षणैः तैः जगति क्रीडति इति अर्थः. **जगद्** इति अकर्मकधातुयोगे सप्तम्यर्थे द्वितीया. **निर्लेपत्वाय** इति प्रपञ्चस्य इति शेषः. निर्लेपत्वम् अमायिकत्वम् ॥१॥

[प्र] विस्तरेण वक्तुं प्रथमतः अधिकारिणम् आह :

[का] सात्त्विकाः भगवद्भक्ताः ये मुक्तावधिकारिणः ॥
भवान्तसम्भवाः दैवात् तेषाम् अर्थे निरूप्यते ॥२॥

[प्र] **सात्त्विकाः** इति, स्वभावप्रकृत्यपेक्षया अधिकं विहितम्

अलौकिकं ये कुर्वन्ति ते सात्त्विकाः, तत्रापि भगवत्सेवकाः सेवापराः, तत्रापि ये निष्कामाः तएव मुक्तौ अधिकारिणः, तत्रापि ईश्वरेच्छया अन्तिमजन्मनि जाताः शरीरं गृहीतवन्तः, तेषां यथा अन्तिमत्वं सिद्ध्यति तथा उपायो निरूप्यते इति अर्थः ॥२॥

[टि] **स्वभाव**...इति. स्वस्य भावो = धर्मः प्रकृतिः तदपेक्षया. यद्वा स्वस्य भावो = धर्मो ब्राह्मणत्वादिः, **प्रकृतिः** सात्त्विक्यादिः, **तदपेक्षया अधिकं** तीर्थसेवनादिकम् इति अर्थः ॥२॥

[प्र] तदेव आह :

[का] एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्रएव ॥
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥४॥

[प्र] **एकं शास्त्रम्** इति. अत्र आख्यायिका पारम्पर्यादेव अवगन्तव्या. देवकीपुत्रेण गीतं गीता. गीतायां भगवद्वाक्यान्येव शास्त्रम् इति अर्थः. वेदानामपि तदुक्तप्रकारेणैव अर्थनिर्णयः. उपास्यनिर्धारम् आह **एको देवः** इति, मूलभूतो अयम् इति अर्थः. सर्वदा स्मरणार्थं साधनम् आह **मन्त्रोऽपि एकः** इति. कर्तव्यम् आह **तस्य** इति. न मनुष्यत्वेन ज्ञातव्यः इति आह **देव**... इति. सेवैव कर्तव्या. शास्त्रम् अवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः इति अर्थः ॥४॥

[टि] **अत्र (आख्यायिका !)** इति. आख्यायिकातु ईदृशी : मोहकशास्त्रोत्पत्त्यनन्तरम् एकदा केनचित् पण्डितेन पुरुषोत्तमक्षेत्रे आगत्य भगवद्भजनादि सर्वं दूषयितुम् आरब्धम्. तदा विवदमानेषु पण्डितेषु निश्चयार्थं पृष्टो भगवान् "एकं शास्त्रम्" इति श्लोकं लिखित्वा दत्तवान् इति ॥४॥

[प्र] अस्मिन् शास्त्रे परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह :

[का] वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।।७।।

[प्र] **वेदाः** इति. शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं **प्रमाणं वेदाः** सर्वएव काण्डद्वयस्थिताः अर्थवादादिरूपाऽपि. स्मृतित्वेन **कृष्णवाक्यानि** वेदत्वेऽपि पृथग् उक्तानि. **व्याससूत्राणि** चकाराद् जैमिनिसूत्राणि च. एवकारेण व्याससूत्राविरोधेनैव तदंगीकरणम्. हि युक्तश्च अयम् अर्थः, उपजीव्यत्वात्. **व्यासस्य समाधिभाषा** भागवतम्. तत्रापि यद् न लौकिकरीत्या वदति, यथा "अथ ऊषसि उपवृत्तायाम्" (भाग.पुरा.१०।७०।१) इत्यादि, नापि परमतरीत्या, (यथा!) "श्रुतं द्वैपायनमुखाद्" (भाग.पुरा.६।१४।९) इत्यादि. यावत् समाधौ स्वयम् अनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा. एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम् इति अर्थः ।।७।।

[टि] **स्मृतित्वेन** इति, व्यासैः स्मरणाद् गीतायाः स्मृतित्वम्. कृष्णवाक्यानि वेदत्व-स्मृतित्वाभ्यां प्रमाणगणनायां पृथगुक्तानि इति अर्थः. **एकवाक्यतापन्नम्** इति, एकार्थबोधकम् इति अर्थः ।।७।।

[प्र] अत्र प्रमाणचतुष्टये श्रुतिः सूत्राणि एकाः कोटिः, गीता भागवतञ्च अपरा स्पष्टैव. तत्र उभयत्र प्रमेयभेदाभावे द्वयनिरूपणार्थं भेदे विरोधइति कथम् एकवाक्यता इति आशंक्य द्वयं समर्थयितुम् आह :

[का] यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे ।।
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते ।।११।।

[प्र] यज्ञरूपः इति. "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" (द्र.मुण्डकोप.

१।१।९) इति श्रुतेः ज्ञानक्रियोभययुतः सर्वेषाम् अर्थः. तत्र क्रियायां प्रविष्टः क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थः, ज्ञाने प्रविष्टो ज्ञानात्मा ब्रह्मरूपो उत्तरकाण्डार्थः. तनुशब्दः साकारब्रह्मप्रतिपादनाय. परे उत्तरस्मिन् काण्डे. क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते. अतः खण्डशो निरूपणं वेदे, भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधा निरूप्यन्तइति एकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तम् इति अर्थः ॥११॥

[टि] **अत्र** इति. श्रुत्यर्थम् आदाय सूत्रकरणात् श्रुति-सूत्राणाम् एककोटित्वम्. श्रीभागवतस्य गीताविस्तरत्वाद् गीता-भागवतयोः एककोटित्वम्. "**चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्**" (त.दी.नि.-प्र.१।७) इति उक्तत्वाद् उभयत्र कोट्योः **प्रमेयभेदाभावे** सिद्धे सति **द्वयनिरूपणार्थं** प्रमेयभेदे अंगीक्रियमाणे **कथं** चतुर्णाम् एकार्थबोधकत्वं स्याद् **इति आशंक्य** कोटिद्वयनिरूपणम् एकार्थबोधकत्वं च **समर्थयितुं** धर्म-धर्मिभेदेन विशिष्टनिरूपणम् **आह** इति अर्थः ॥११॥

[प्र] ननु एवं सति कथं न सर्वे सेवन्ते इति आशंकायाम् आह :

[का] बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः ॥
नानामतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम् ॥
यथाकथञ्चित् कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि ॥१५॥

[प्र] बुद्धावतारे इति. तुशब्दः शंकां वारयति. कलिकालः स्वभावतः सर्वोत्कृष्टः स्वल्पसाधनेनापि महाफलप्रदः. अतो दैत्यव्यामोहार्थं भगवान् बुद्धो अवतीर्णः सर्वप्रमाणमूलभूतं वेदं दूषितवान्. ततः पुराणादिमार्गदूषणार्थं तद्वशगाः सुराः अपि तथा अनिषिद्धवेषम् आश्रित्य ब्राह्मणानां बुद्धिनाशार्थं तेष्वेव अवतीर्य मोहनार्थं नानामतानि

कुर्वन्ति काणाद-न्याय-मायावादादिरूपाणि. वाक्पेशलत्वाद् मोहनरूप-त्वम्. ननु तेषां शास्त्राणां मुक्तिः फलं, तथैव तत्र-तत्र प्रतीयते, तत्कथं मोहनफलम् इति चेत्, तत्र आह **यथाकथञ्चिद्** इति. वैदिके मार्गे जागरूके पौराणिके च तेनैव मार्गेण स्वयम् ऋषित्वं देवत्वं च प्राप्ताः किमिति अन्यथा वेदविरोधेन शास्त्रम् अवादिषुः, यदि मुक्तिरेव सम्पाद्या स्याद्! अतः सिद्धे राजमार्गेऽपि पुनः स्वयम् अतिक्लेशेन यत् शास्त्राणि कृतवन्तः अतो ज्ञायते मोहार्थमेव शास्त्रकरणम्. नापि तथाकरणे भगवतो विसम्मतिः, भगवतैव तथा ज्ञापनात् :

> ''त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय, अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज!, प्रकाशं कुरु च आत्मानम् अप्रकाशञ्च मां कुरु' (वारा.पुरा.७०।३६-३७) इति वाराहवचनम्. ब्रह्माण्डोक्तं तथा अपरम् 'अमोहाय गुणाः विष्णोः आकारः चिच्छरीरता, निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि च उच्यते, एतद् विरुद्धं यत्सर्वं तन्मोहाय इति निश्चयः/निर्णयः...' उक्तं पद्मपुराणे च शैवएव शिवेनतु, यदुक्तं हरिणा पश्चाद् उमायै प्राह तद् हरः 'त्वाम् आराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा, द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु, स्वागमैः कल्पितैः त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु, माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिः एषा उत्तरोत्तरा' (पद्मपुरा. ६।७१।१०६-१०७)''
> (महाभा.ता.नि.१।४९-५८).

एतद् अभिसन्धाय आह **यथाकथञ्चित् कृष्णस्य** इति. तेहि अलौकिकद्रष्टारः ''एवं मायावादाद्यनुसारेण शास्त्रे कृते लोकाः भगवद्बहिर्मुखाः भविष्यन्ती''ति तथा कृतवन्तः इति अर्थः ॥१५॥

[टि] **अमोहाय** इति. पुरुषोत्तमस्य **गुणाः** ऐश्वर्यादयः, **आकारः** चिदानन्दमयदेहः. एवं ज्ञानं प्रमारूपं भगवद्भजनतारतम्यात्. **तथा** निर्दुष्टाः जीवन्मुक्ताः परममुक्ताः च भवन्ति, यद्भजनेन निर्दोषत्वं तस्य निर्दोषत्वे कः सन्देहः इति भावः. **उक्तम्** इति. **शैवएव तु शिवेन** समं **हरिणा यद् उक्तं तत् पश्चाद् उमायै हरः प्राह** इदं **पद्मपुराणे उक्तम्** इति अन्वयः ॥१५॥

[प्र] ननु तानि शास्त्राणि ज्ञानप्रतिपादकानि, क्वचित् कर्मप्रतिपादकानि चित्तशुद्ध्यर्थं, क्वचिद् भक्तिप्रतिपादकानि च ; कथं मोहप्रतिपादकानि इति आशंक्य आह :

[का] ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत् ॥
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति ॥
भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति ॥१७॥

[प्र] **ज्ञाननिष्ठा** इति सार्धेन. यत् ''तत्त्वमस्या''दिवाक्योपदेशेनैव (छान्दो.उप.६।८।७) अपरोक्षं ज्ञानम् उत्पद्यते इति ज्ञानदुर्बलान् व्यामोहयितुम् उक्तवन्तः, तद् न ज्ञानम्. तथा सति सर्वज्ञता स्याद्, ''यस्मिन् विदिते सर्वम् इदं विदितम्'' (छान्दो.उप.६।४।१) इति कर्मणीव ज्ञानेऽपि निदर्शनानाम् उक्तत्वात्. यथा कारीर्याम् अश्वमूत्रणादिकं, यथावा दीर्घसत्रारम्भे अपूपदाहः तथा ज्ञानेऽपि सर्वज्ञत्वं, तेजोऽपि निदर्शनम्. तस्माद् न एतज्ज्ञानम् इति ज्ञातव्यम् इत्येतदर्थम् आह **सर्वज्ञो हि यदा भवेद्** इति. नापि तदुक्तप्रकारेण कर्माणि फलं प्रयच्छन्ति, 'यज्'धातोः भगवत्पूजार्थस्य स्वरूपाज्ञानेन वृथाकरणाद्, यज्ञादीनाम् अनित्यत्वभावनाच्च, श्रुत्युक्तप्रकारेण पदार्थज्ञाननिराकरणाच्च. अतो यागादिकमपि कृत्वा लुब्धाएव भवन्ति, न चित्तशुद्धिं लभन्ते. तथा भक्तिमार्गमपि ज्ञानशेषतया उपदिशन्ति, ज्ञानपर्यन्तञ्च तत्करणम् इति आहुः, भावनाकल्पितत्वं विषयस्य आहुः.

अतो भगवदर्थं भगवान् न सेव्यतइति न कृष्णः तुष्यति. यदि सा भक्तिः भवेत् कृष्णः तुष्येद्, ''भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति'' (महाभा.ता.नि.१।११६) इति वाक्यात्. तस्मात् तदुक्तप्रकारो व्यर्थः इति अर्थः ॥१७॥

[टि] यथावा दीर्घसत्रारम्भे इति. ''अह्नां विधान्याम् एकाष्टकायाम् अपूपं चतुःशरावं पक्त्वा प्रातः एतेन कक्षम् उपोषेद् ... यदि दहति पुण्यसमं भवति. यदि न दहति पापसमम्. एतेन ह स्म वा ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रम् उपयन्ति'' (बोधा.श्रौ.सू.१४।१३) इति श्रुतेः. विषयस्य इति, भक्तिविषयस्य स्वरूपस्य इति अर्थः ॥१७॥

[प्र] एवं स्वप्रवृत्तिम् उपपाद्य बाधकशास्त्राणां निवृत्त्यर्थं शास्त्रम् आरभते :

[का] प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया ऽभवत् ॥
तच्छक्त्या ऽविद्यया त्वस्य जीवसंसारः उच्यते ॥२३॥

[प्र] प्रपञ्चः इति, प्रपञ्चमेव मिथ्या इति उक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति, तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा. अतः उभयनिराकरणार्थं जीव-जडयोः स्वरूपम् उच्यते. अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टादिद्वारा जातः, नापि असतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तु-कृतिसाध्यः. तादृशोऽपि भगवद्रूपः, अन्यथा असतः सत्ता स्यात्. साच अग्रे वैनाशिकप्रक्रियानिराकरणे निराकरिष्यते. वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः, वैष्णवानुसारेण किञ्चित् साधनम् अधिकम् आह मायया अभवद् इति. माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता, यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्. तेन स्वसामर्थ्येन अन्यानुपजीवनेन

स्वात्मरूपं प्रपञ्चं कृतवान् इति फलितम्. अत्र संसार-प्रपञ्चयोः भेदाज्ञानात् केचिद् मुग्धाः भवन्ति, तन्मोहनिराकरणाय भेदं निरूपयति अविद्यया इति. अविद्यापि तच्छक्तिः, मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात्, ''श्रिया पुष्ट्या गिरा'' (भाग.पुरा.१०।३९।५५) इति वाक्यात्. एवं सति ''स वै नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छत्, स ह एतावान् आस'' (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुतौ रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भावोक्तेः, वैचित्र्यं विना तदसम्भवो यतः, तस्माद् हेतोः अस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवस्य संसारः उच्यते, नतु जायते, अभिमत्यात्मकत्वाद्, असत्त्वेन अस्य गणनात्. 'अज्ञानं' 'भ्रमः' 'असद्' इत्यादिशब्दाः अहं-मम-इतिरूपे संसारएव प्रवर्तन्ते, नतु प्रपञ्चे इति अर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्.

इदम् उक्तं भवति : वस्तुतस्तु ''स वै नैव रेमे'' (बृह.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यो रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भावात् तदन्तःपातिपुरुषरूपेण तत्कृतसाधनरूपेण आविर्भूय तत्फलरूपेण च आविर्भवन् क्रीडति भगवान्. एवं सति ''अहम् एतत् कर्मकर्ता'', ''एतज्जनितं फलञ्च मम'', ''अहम् एतस्य भोक्ता'' इत्यादिज्ञानानि स्वस्य स्वक्रियायाः तत्फलस्य च अब्रह्मत्वेन ज्ञानाद् भ्रमरूपाणि इति मन्तव्यम्. सच अहन्ता-ममतात्मकः अविद्यया क्रियते, तत्त्वज्ञाने सति उक्तरूपत्वज्ञानाद् निवर्तते ; नतु प्रपञ्चो, ब्रह्मात्मकत्वात्.

ननु *प्रपञ्चात्मकस्य घटादेः दण्ड-मुद्गरात्मकेन तेन तिरोभाववत् तत्त्वज्ञानात्मकेन तेन संसारात्मकस्य तस्य तिरोभावः इत्यपि सुवचम्. अतो न अविद्याहेतुकत्वम् असत्त्वं वा संसारस्य वाच्यं, प्रपञ्चमध्यपातित्त्वेन ब्रह्मात्मकत्वात्. नच एवं संसारस्य नित्यतापत्त्या मुक्त्युच्छेदः इति वाच्यं, यत्कालावच्छेदेन यस्मिन् पुरुषे संसाररूपेण आविर्भावः तदवच्छेदेन संसारित्वं तस्य उच्यते, मुक्तिरूपेण आविर्भावेतु मुक्तत्वम् इति उपपत्तेः. यथा घटादिषु आमदशायां श्यामरूपेण

आविर्भावे तथात्वव्यवहारः, पक्वे रक्तत्वव्यवहारः, तद्रूपेण आविर्भावात्, तथा इति.

नच अविद्यया बन्धः इति श्रुत्यादिप्रसिद्धेः न एवम् इति वाच्यं, दण्डघटादि-समानयोगक्षेमत्वात् प्रसिद्धेः.

एवं शुद्धो ब्रह्मवादः सिद्धो भवति सन्मते।
अन्यस्य अणोरपि प्राप्तौ मायापक्षो न किं भवेत्* ?॥

न भवेत्, श्रुतितो हि प्रपञ्चस्य ब्रह्मता उच्यते, तस्य नित्यत्वाद् आविर्भाव-तिरोभावौ उच्येते. तौ च विद्यमानस्यैव वस्तुनः सम्भवतो, न असतः ; सतश्च न असत्त्वम्. तथाच संसारस्य अविद्याहेतुकत्वमेव श्रुतिः वदति, न प्रपञ्चवद् ब्रह्मरूपताम्. प्रपञ्चरूपेण आविर्भावम् उक्त्वा यद् अविद्यया संसारम् आह, विद्यया तदभावं च आह, अतः प्रपञ्चभिन्नत्वम् अवश्यम् उररीकार्यम्. तथा सति असत्त्वमेव सम्पद्यते संसारस्य. यच्च उक्तं ''दण्ड-मुद्गर-घटादिसमानयोगक्षेमत्वम् अविद्याविद्याकृत-बन्धमोक्षयोः'' इति, तत्रापि उच्यते : स्याद् एवं यदि प्रपञ्चमध्यपातित्वं स्यात् संसारस्य. नच एवं, कारणभेदात्. नहि यौक्तिकम् इदं शास्त्रे किन्तु श्रौतमिति आस्तिकैः तथैव मन्तव्यम् इति॥२३॥

[टि] **विवर्तात्मा** इति. अतात्त्विको अन्यथाभावो विवर्तः, तत्स्वरूपः इति अर्थः॥२३॥

[प्र] अस्य स्वरूपं ज्ञानपर्यन्तमेव तिष्ठति इति वक्तुम् आह :

[का] संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित्॥
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः॥
पञ्चपर्वा त्वविद्या हि जीवगा मायया कृता॥२४॥

[प्र] संसारस्य लयो मुक्तौ इति. उत्पत्ति-प्रलययोः भिन्नप्रकारत्वाद् उभयोः भेदः. मुक्त्यर्थं प्रपञ्चविलयाभावे कदापि न विलयः स्याद् इति आशंक्य आह **कृष्णस्य आत्मरतौ** इति. यदा स्वरतीच्छा तदा प्रपञ्चस्वरूपं स्वस्मिन् विलाप्य रमते. ननु एवं सति जीव-ब्रह्मणोः मुक्तिप्रकारइव उक्तः इति चेत्, तत्र आह **सर्वसुखावहः** इति. जीवानां तदा सुखार्थे प्रलयं करोति, यथा रात्रिम्.

एवं भगवदिच्छां प्रपञ्चजनन-प्रलयकारणत्वेन निरूप्य जीवानाम् उत्पत्तिपूर्वकं मोक्षं निरूपयितुम् आह **पञ्चपर्वा** इति. जीवसंसारहेतुभूता अविद्या पञ्चपर्वा तेन सर्वांशनिराकृतेन निराकृता भविष्यतीति तदर्थं भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति वक्तुं तान् प्रथमम् उक्तवान्. जीवमेव गच्छति, नतु अंशान्तरम्. तस्याः दुर्बलत्वाय आह **मायया कृता** इति ॥२४॥

[टि] **उत्पत्तिप्रलययोः** इति, प्रपञ्च-संसारयोः उत्पत्ति-प्रलययोः प्रकारभेदात् प्रपञ्च-संसारयोः **भेदः** इति अर्थः. **ननु एवम्** इति, प्रपञ्चस्य भगवति लये जीवन्मुक्तिप्रकारइव स्याद्, जडमुक्तौ प्रयोजनाभावाद् इति भावः. **तान्** अंशान् इति अर्थः ॥२४॥

[प्र] एवं त्रैविध्यम् उपपाद्य चिदंशानां जीवानां संसारप्रकारम् आह :

[का] विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती मायय़ैव विनिर्मिते ॥
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ॥३१॥

[प्र] विद्याऽविद्ये इति, मोक्षोऽपि एकः सर्गः इति विद्यायापि निरूपणम्. आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया, देहलाभो अविद्यया इति.

उभयोः जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति हरेः शक्ती इति. तेन भगवदिच्छयैव तयोः आविर्भावतिरोभावयोः हेतुत्वम् इत्युक्तम्. अनयोः मायाधीनत्वम् आह मायय्रैव विनिर्मिते इति. तेन ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता.७।१४) इति वाक्याद् भक्तौ सत्याम् अविद्यादि निवर्तते विद्यापि. अन्यथा नित्यमुक्तता न स्यात्. ते उभे जीवरूपस्यैव अंशस्य भवतः न अन्यस्य जडांशस्य अन्तर्यामिणो वा. जीवस्यैव दुःखित्वम् अनीशत्वं च॥३१॥

[टि] जीवधर्मत्वम् इति, जीवाधीनत्वम् इति अर्थः॥३१॥

[प्र] वैदिकीम् अपरामपि सृष्टिम् आह :

[का] वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतः॥
जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचित्॥३९॥

[प्र] वियदादि इति, आकाशं सृष्ट्वा तद्द्वारा वायुम् इत्यादि. अस्मिन्नपि पक्षे जडानां पूर्ववदेव व्यवस्था. जीवान्तर्यामिभेदे भिन्नं-भिन्नं प्रकारम् आह तदाविश्य इति. पूर्वकल्पेषु जीवान्तर्यामिणोः प्रवेशः, अस्मिन् कल्पे प्रविष्टस्य जीवान्तर्यामिभावः इति. एवं षड्भेदानुक्त्वा षड्गुणैः भगवतो लीला इयम् इति आह क्रीडति स्म इति॥३९॥

[टि] पूर्ववद् इति, मायासृष्टिभिन्न-पूर्वसृष्टौ इति अर्थः॥३९॥

[प्र] एवं स्वमते जीवस्वरूपम् उक्त्वा ''एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्'' (ब्र.बि.उप.१२, त्रिपु.उप.५।१२) इति वाक्याद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो ब्रह्माभासो वा जीवः इति कश्चिद् मन्यते तन्मतनिराकरणाय आह :

[का] आभास-प्रतिबिम्बत्वम् एवं तस्य न चान्यथा।।
आनन्दांशतिरोधानात् तत्तद्वत् तेन भासते।।५७।।

[प्र] आभासप्रतिबिम्बत्वम् इति, यद्यपि तद्वाक्यं ब्रह्मवाक्यं, तेन एकं ब्रह्मैव नानारूपं चन्द्रवद् दृष्टान्तेन उच्यते. एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थो, न प्रतिबिम्बत्वम्. ''प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः'' (भाग.पुरा.७।९।११) इत्यत्रापि तथा. रूप-स्पर्शादियुक्तस्य द्रव्यस्य रूपमात्रोपलम्भः प्रतिबिम्बः, क्रियायाश्च, नतु धर्मस्पर्शो वा. तथा सति जलेन्दुः तं प्रक्षिप्य तं स्पृशेत्. तत्र स्वाधारस्वभावानुविधायित्वे सति सम्मुखस्थितार्थानुविधायित्वेन प्रतीतियोग्यो हि प्रतिबिम्बः. सच इतरविलक्षणः. अतः प्रतिबिम्बरूपम् एकं भगवतः स्वतन्त्रम् इति मन्तव्यं, तत्रापि मानाद्यभावात् तदर्थं प्रयत्नाकरणात्. अतएव ''समो मशकेन समो नागेन'' (बृह.उप.१।३।२२) इति श्रुतेः सर्वानुविधायकत्व-मपि संगच्छते. अतो ''मूलसेकः शाखायामपि गच्छति'' इतिवत् प्रतिबिम्बेऽपि तथा भानम् अस्तीति एतावन्मात्रम् अभिप्रेत्य उच्यते. आभासत्वं प्रतिबिम्बत्वं, नतु मुख्याभासवत् तस्य अलीकं स्वरूपम् इति अर्थः. ''यद् अस्ति यद् न अस्ति'' (विष्णुपुरा.२।१२।३८) इति वाक्याद् भगवतः सर्वं रूपम् उपपद्यते, नतु अन्यस्य इति भावः. यथा महाराजस्य सर्वरूपं सर्वाः च कृतिः न दोषाय. आभासप्रतिबिम्बत्वे प्रयोजकं रूपम् आह आनन्दांशतिरोधानाद् इति. जीवरूपं तत्. एतत्तिरोधानाद् जीवत्वं भासते. तेन आनन्दांशेन आविर्भूतेन युक्तं यत् तद्वद् ब्रह्मवद् अवभासते इति अर्थः, अंशद्वयस्य विद्यमानत्वात्. सदंशस्फूर्तौ आभासत्वम्, उभयोः स्फूर्तौ प्रतिबिम्बत्वं, त्रितयस्फूर्तौ ब्रह्मत्वम् इति निर्णयः. नतु लौकिकाभासत्वं, तथा सति अलीकता स्यात्।।५७।।

[टि] **प्रतिमुखस्य** इति, यथा ''**एकधा**'' (ब्र.बि.उप.१२)

इति श्लोके एकस्य नानात्वं दृष्टान्तार्थः, न प्रतिबिम्बत्वम्. तथाच सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्ये भगवति कृतं जीवे फलतीति बिम्ब-प्रतिबिम्बदृष्टान्तेन उच्यते, नतु जीवस्य प्रतिबिम्बत्वम् इति अर्थः. **तत्रापि** इति, प्रतिबिम्बरूपे नियतपरिमाणाद्यभावात् प्रयत्नाजन्यत्वात् च भगवतः स्वतन्त्रं नित्यं रूपं दर्पणादिसामग्र्या दृश्यते इति अर्थः ॥५७॥

[प्र] ननु जीवब्रह्मणोः ऐक्यान्यथानुपपत्त्या ''तत्त्वमसि'' (छान्दो.-उप.६।८।७) इत्यादिवाक्यानुरोधेन बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः ऐक्यं युक्तमिति तथात्वं कल्प्यते इति आशंकां तिरस्कुर्वन् ''तत्त्वमसि'' इति वाक्यं न महावाक्यम् इति आह :

[का] तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः ॥
न विद्याजनने शक्तिः अन्यार्थं तच्च कीर्तितम् ॥६१॥

[प्र] तत्त्वमसि इति, इदं वाक्यं श्वेतकेतूपाख्याने वर्तते. तत्र उपक्रमे ''अपिवा तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति'' (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्. तद् एकमेव चेत् सर्वं तदा उपपद्यते. यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यञ्च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञाने तज्ज्ञानं भवति. तदर्थं ''सदेव सोम्य!'' (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यारभ्य निरूपितम्, ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वम् उक्तम्. जडगतदोषाश्च तत्र परिहृताः ''तत् सत्यम्'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति. पूर्वोत्तरयोः जड-जीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुम् आह ''स आत्मा'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति. एवं जडस्य तदात्मकत्वम् उक्त्वा जीवस्यापि आह ''तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति. उपदेशश्च अयम्, ''आवृत्तिः असकृदुपदेशाद्'' (ब्र.सू.४।१।१) इति ब्रह्मसूत्रात्. अतः सम्पूर्णं महावाक्यम् उपदेशः. तत्र यथा ''ऐतदात्म्यम्''

(छान्दो.उप.६।८।७) इत्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे ; तथा, उत्तरत्रापि चिदंशे अवगन्तव्यम्. नापि श्वेतकेतुः अवतारः, पूर्वं स्तब्धत्वादि-दोषकीर्तनाद्, विरोधाच्च. अतो ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशः ''तत्त्वमसि'' इति जीव-ब्रह्मणोः ऐक्यं न बोधयति, वाक्यभेदप्रसंगाद् उपक्रमविरोधाच्च. केचिद् अष्टपदानि महावाक्यम् इति आहुः, तदपि तथा. ''अतत्त्वमसि'' इति छेदस्तु न वैदिकानां सम्मतः. अतो न अस्य विद्याजनने शक्तिः, अन्यार्थकीर्तनात् ॥६१॥

[टि] **उपक्रम...** इति, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य उपक्रान्तत्वाद् जीवस्य ब्रह्माभेदमात्रबोधने तद् न सिद्ध्येद् इति भावः. **केचिद्** इत्यारभ्य **तथा** इत्यन्ते. ''**तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि श्वेतकेतो**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्येतस्य महावाक्यत्वे पूर्वोक्तदूषणद्वयं स्याद् इति अर्थः ॥६१॥

[प्र] तदेव आह :

[का] ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम् अवयुज्य निरूपितम् ॥
अलौकिकं तत् प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥६२॥

[प्र] **ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम्** इति, **अवयुज्य** जड-जीवौ पृथक्कृत्य. सर्वं ब्रह्म इति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता. ननु अस्तु वाक्यभेदः ! तथा सति एतावन्मात्रं जीवस्य ब्रह्मतां बोधयति. तच्च साक्षाद् अनुपपन्नं सद् भागत्यागलक्षणया अखण्डमेव वाक्यार्थं बोधयति इति चेत्, साधु बुद्धिमतां बकबन्धप्रयासो वृत्तः ; उपदेशफलम् आयुष्मतां किं वृत्तम् इति अनुसन्धेयं, ब्रह्मभावेन अधिकधर्माभावाद्, देहादिभेदबोधनेनापि दोषनिराकरणसम्भवात् च. ततो व्यर्थः प्रकरणभेदमपि अंगीकृत्य महावाक्यत्वेन उपदेशप्रयासः. तर्हि श्रुतिः

कथम् उपदिशति? इति चेत्, तत्र आह **अलौकिकं तत् प्रमेयम्** इति. लौकिकंहि लोकयुक्त्या अवगम्यते, ब्रह्मतु वैदिकम्. वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्दसाधारणविद्यया भवति॥६२॥

[टि] **देह...** इति, जीवात्मनो देहादितो भेदबोधनेनापि शोकादिनिराकरणसम्भवाद् इति अर्थः॥६२॥

[प्र] तत्र व्यापकत्वं नाम देशाद्यपरिच्छिन्नत्वम्. तद् वस्तुपरिच्छेदे न उपपद्यते इति त्रितयपरिच्छेदाभावाय आह :

[का] **सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वैतवर्जितम्॥**
सत्यादिगुणसाहस्रैः युक्तम् औत्पत्तिकैः सदा॥६६॥

[प्र] **सजातीय...** इति, **सजातीयाः** जीवाः, **विजातीयाः** जडाः, **स्वगताः** अन्तर्यामिणः. त्रिष्वपि भगवान् अनुस्यूतः त्रिरूपः च भवतीति तैः निरूपितं द्वैतं भेदः तद्वर्जितम्. अत्र बुद्धिः अवतारेष्विव कर्तव्या. एवं भगवत्त्वम् उपपाद्य तन्त्रोक्तान् गुणान् आह **सत्यादिगुणसाहस्रैः** इति. "सत्यं शौचं दया क्षान्तिः" (भाग.पुरा.१।१६।२६) इत्यादिश्लोके सत्यादयो गुणाः निरूपिताः. तेच **औत्पत्तिकाः सदा** सृष्टि-प्रलयादावपि॥६६॥

[टि] **अत्र** इति, जीवादिषु अंश-कलादाविव बुद्धिः कार्या, न पूर्णपुरुषोत्तमबुद्धिः इति अर्थः॥६६॥

[प्र] एवं पूर्वस्थितिम् उक्त्वा पश्चात्स्थितिम् आह :

[का] **यः सर्वत्रैव सन्तिष्ठन् अन्तरः संस्पृशेद् न तत्॥**
शरीरं तं न वेद इत्थं यो अनुविश्य प्रकाशते॥
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्॥७०॥

[प्र] यः सर्वत्रैव इति, सर्वेष्वेव पदार्थेषु कार्येषु स्वयं तिष्ठन् तानि अन्तरयति = स्वमध्ये स्थापयति इति अर्थः. तथा स्वयम् आधाराधेयभावं प्राप्नुवन्नपि तद् न स्पृशति. तर्हि अज्ञानेन तथा भवति इति चेद्, न इति आह शरीरम् इति, तत् सर्वमेव शरीरत्वेन मन्यते, तस्य च ज्ञापकं भवति सर्वं, तथापि न स्पृशति. तर्हि शरीरमेव भगवन्तम् आनन्दनिधित्वात् स्पृशेद् इति चेत्, तत्र आह शरीरं = कर्तृ न ब्रह्म वेद इति. इत्थम् अमुना प्रकारेण यो अनुविश्य प्रकाशते "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (बृह.उप.३।७।३) इत्यादिश्रुतेः. (ननु!) श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह सर्ववादानवसरम् इति. वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता, सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्. न एवं वादिनां वाक्यानि तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुम् अर्हन्ति, तेषां तथाहृदयाभावात्. अतः सर्वे वादाः स्वभ्रान्तिपरिकल्पितत्वेन वस्तुस्पर्शाभावाद् अनवसरपराहताएव. अस्तु वादिनां हृदयं यथा तथा, वाक्यानां सरस्वतीरूपत्वात् कथं न एकवाक्यता? इति आशंक्य आह नानावादानुरोधि तद् इति. एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकैकैक-वाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति॥७०॥

[टि] न एवं वादिनाम् इति, ब्रह्मणः तत्तदंशबोधक-वाक्यार्थप्रतिपादकानि वादिनां वाक्यानि एवं भवितुं सर्वधर्मविशिष्ट-धर्मिणं बोधयितुं न अर्हन्ति इति अर्थः॥७०॥

[प्र] ननु रूपवद् द्रव्यं चाक्षुषम् इति महत्त्वाद् उद्भूतरूपत्वाच्च कुतो न चाक्षुषत्वम्? तत्र आह :

[का] आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदा॥
तदा मरकतश्यामम् आविर्भावे प्रकाशते॥७३॥

[प्र] आनन्दरूपे इति, आनन्दरूपे आनन्दएव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः तत्र शुद्धस्य सत्त्वस्य देवतारूपस्य भगवदिच्छया श्रीभगवदासनत्वेन स्फुरितस्य श्यामत्वात् तस्य प्रतिफलनेन आनन्दो नीलमेघवद् भासते इति अर्थः, यथा स्फटिको जपाकुसुमेन श्वेतपाषाणेषु प्रविष्टोऽपि स्फटिको जपाकुसुमलौहित्यं गृह्णन् पाषाणेभ्यो वैशिष्ट्यम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा ब्रह्मापि जगति पुराणेषु प्रकटीभवत् तच्छ्यामत्वादि गृह्णद् ब्रह्मत्वमपि ख्यापयतीति भावः. सत्त्वरजस्तमसां नीलरक्तश्वेत-रूपता इति गुणावतारवाक्यैः निर्णीयते ॥७३॥

[टि] सत्त्व... इति, "सत्त्वं रजस्तमः इति प्रकृतेः गुणाः" (भग.गीता.१४।५) इत्यादिश्लोकेषु ब्रह्मादीनां तत्तद्गुणयुक्तत्वकथनात् तादृशरूपमत्त्वप्रसिद्धेः सत्त्वादीनामपि तादृशरूपत्वं निश्चीयते इति अर्थः ॥७३॥

[प्र] उपपत्त्यन्तरम् आह :

[का] चतुर्युगेषु च तथा नानारूपवदेव तत् ॥
उपाधिकालरूपं हि तादृशं प्रतिबिम्बते ॥७४॥

[प्र] चतुर्युगेषु च तथा इति, "कृते शुक्लः चतुर्बाहुः" (.पुरा.) इति वाक्यात्. अन्यथा नियतं रूपं न स्यात्. तत्रापि हेतुम् आह उपाधि... इति, उपाधिकालः सत्यादि-देवतारूपः, तस्य रूपं ब्रह्मणि प्रतिबिम्बते कालविशेषे रूपविशेषः तदाधारत्वेन ब्रह्मणि स्फुरितो ब्रह्मत्वं सम्पादयति इति अर्थः ॥७४॥

[टि] तत्रापि इति , नियतरूपत्वे इति अर्थः ॥७४॥

[प्र] ननु अस्तु सापेक्षएव कर्ता सगुणत्वाद् इति आशंक्य आह :

[का] सएव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि।।
गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः ।।
कर्ता स्वतन्त्रएव स्यात् सगुणत्वे विरुद्ध्यते।।७७।।

[प्र] **सएव हि जगत्कर्ता** इति. यस्तु उच्चावचं सृजति **सएव जगत्कर्ता नापि सगुणः**. हेतुसिद्ध्यर्थं सगुणस्य लक्षणम् आह **गुणाभिमानिनः** इति, **गुणैः** कृत्वा अभिमानिनः. अनेन देहेन्द्रियाभिमानाभावेऽपि गुणाभिमानमात्रेणैव सगुणत्वम्. ते गुणाः सृष्ट्यादिहेतवः अनधिष्ठिताः पुनः न कुर्वन्तीति गुणाधिष्ठात्र्यो देवताः ब्रह्मादयः **सगुणाः** उच्यन्ते. तेषां स्वातन्त्र्यम् आशंक्य आह **तदंशाः** इति. तत्र प्रमाणं **स्मृताः** इति, स्मृति-पुराणेषु तथा प्रसिद्धेः इति अर्थः. भगवाँस्तु सर्वात्मा सर्वनियन्ता मूलकर्तेति न सगुणः. बाधकम् आह **कर्ता स्वतन्त्रएव स्याद् इति**।।७७।।

[टि] **नापि सगुणः** इत्यत्र **हेतुसिद्ध्यर्थम्** इति. सगुणत्वाभावे साध्ये गुणाभिमानित्वाभावाद् इति हेतुसिद्ध्यर्थं व्यतिरेकदृष्टान्तम् आह इति अर्थः. अत्र गुणाभिमानित्वं = गुण-तत्कार्याभिमानित्वम्।।७७।।

[प्र] **तर्हि किं कारणम् इति आकांक्षायाम् आह :**

[का] अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत् किल कारणम्।।
स्वाविद्यया संसरति मुक्तिः कल्पितवाक्यतः ।।७९।।

[प्र] **अनाद्यविद्यया** इति, *अनादिः अविद्या. ''अहम् अज्ञः'' इति अनुभवसिद्धा भावरूपा, तेन बद्धं चैतन्यं तदध्यासाद् एतादृशं जगत्कारणं, कार्यानुरूपस्यैव कारणस्य युक्तत्वात्. कार्यन्तु जगद् जडात्मकं हेयं तुच्छनिष्ठम् अतः कारणेनापि तथायुक्तेन भाव्यम्* इति युक्त्याभासः. वस्तुतस्तु ''सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्''

(तैत्ति.उप.२।६) इति, ''स आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) इति, ''प्रजायेय'' (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिवाक्यैः स्वतःप्रमाणभूतैः निःसन्दिग्धं प्रतिपाद्यते कार्यरूपस्य जगतो ब्रह्मत्वम्. कुत्सितत्वं न क्वचिदपि ब्रह्मविदां हृदये भासते, यथा स्वांगे पुरुषस्य, पृथग्भानएव तथाप्रतीतेः. अन्यथा बीजादीनां ब्रह्मत्वकथनं मलदृष्टान्तेन बाधितं स्यात्, तथा सति सर्वसन्मार्गनाशः. तथा वाक्याभासाः ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते'' (बृह.उप.२।५।१९), ''अनृतापिधानाः'' (छान्दो.उप.८।३।१), ''वाचारम्भणं विकारः'' (छान्दो.उप.६।१।४), ''मायां तु प्रकृतिं विद्याद्'' (श्वेता.उप.४।१०) इत्यादयः. एतेषां पदार्थप्राया माया वाक्यविरोधेन न वाक्यार्थे संगच्छते. तथाच यथायथं 'माया'शब्देन क्वचिद् इन्द्रियवृत्तिः, क्वचित् प्रथमं कार्यं सूक्ष्मम्; 'अनृत'शब्देन देहेन्द्रियादिकम्. ''सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्'' (तैत्ति.उप.२।६) इति ब्रह्मणएव देहेन्द्रियादिरूपत्वम् आत्मरूपत्वं च. नतु अत्र स्वप्नादिदृष्टान्तेन मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यते. बाधश्रवणाच्च ''मिथ्यादृष्टिः नास्तिकता'' (अम.को.१।५।४), ''माया इति असुराः'' (मुद्गलोप.३), ''असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुः अनीश्वरम्'' (भग.गीता.१६।८) इत्यादिवाक्यैः. साधकानि च सहस्रशो वाक्यानि सन्ति ''स भूतभव्यम्'' (महा.ना.उप.२४।१) इति, ''हरिरेव जगद्'' (मध्वकृत द्वा.स्तो.३।१) इत्यादीनि. अतो बाधितोऽपि अविद्यावादः केषाञ्चिद् हृदये शमादिरहितानां चित्तदोषेण ''जगद् दुष्टम्'' इति पश्यतां प्रतिभातीति आह **किल** इति. तन्मते बन्ध-मोक्षौ निरूपयति **स्वाविद्यया** इति, चैतन्यमात्रनिष्ठया जलावरणमलरूपया आत्मानं बहिर्मुखः संसारिणं मन्यते. तस्यच मोक्षः तेनैव विद्यावत्त्वेनैव कल्पितगुरोः उपदेशवाक्याद् इति॥७९॥

[टि] **अन्यथा** इति, कुत्सितत्वभाने प्रपञ्चस्य मलदृष्टान्तेन बीजादीनां ब्रह्मत्वकथनं बाधितं स्याद् इति अर्थः. **तथा सति** इति, कार्य-कारणयोः

तुच्छत्वे सति इति अर्थः. **एतेषाम्** इति, प्रपञ्चसत्यत्वबोधक-वाक्यविरोधेन 'माया'पदं पदान्तरैः सह मिथ्यात्वं न बोधयति इति अर्थः. **बाध...**इति, अग्रिमवाक्यैः मायावादस्य असुरकल्पितमतत्वेन हेयत्वश्रवणाद् इति अर्थः ॥७९॥

[प्र] ननु एवमेव अस्तु शास्त्रार्थः, को दोषः इति चेत्, तत्र आह :

[का] एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्॥
उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृति-विरोधतः॥
कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः॥८०॥

[प्र] **एवं प्रतारणाशास्त्रम्** इति. यथा प्राणिनो भगवद्विमुखाः भवन्ति तथोपायो रचितो, नतु अत्र किञ्चिद् ज्ञातव्यम् अस्ति. तत्र हेतुम् आह **सर्वमाहात्म्यनाशकम्** इति. यद्धि सर्वोपास्यं तस्य माहात्म्यं नाशयति : 'सर्वेश्वरः सर्वकर्ता सर्वकारणरूपः' इत्यादिरूपम्. तर्हि एतन्मतं सर्वं लिखित्वा दूषणीयम् इति चेद्, न इति आह **उपेक्ष्यम्** इति, असद्भावनया स्वस्यापि बुद्धिनाशः स्यात्. अतः तत्र उपेक्षैव कर्तव्या सुतरां भगवद्भक्तैः, भक्तिमार्गे विरोधात्. दूषणम् आह **श्रुतिस्मृति-विरोधतः** इति. स्वप्रकरणपठितैः ''आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'' (तैत्ति.उप.३।६) इति, ''अहं सर्वस्य(कृत्स्नस्य) जगतः प्रभवः प्रलयः तथा'' (भग.गीता.७।६) इति वाक्यसहस्रैः मायावादो विरुद्ध्यते. सर्वेषाम् आदरान्यथानुपपत्तिं परिहरति **कलौ तदादरो मुख्यः** इति. तत्रापि हेतुः **फलं वैमुख्यतः** इति, भगवद्वैमुख्यात् **तमो** भावि॥८०॥

[टि] **स्वप्रकरणपठितैः** ब्रह्मप्रकरणपठितैः इति अर्थः. **तत्रापि** इति, आदरे तमस्यपि वैमुख्यमेव हेतुः ॥८०॥

[का] ज्ञाननाश्यत्वसिद्ध्यर्थं यद् एतद् विनिरूपितम् ॥
तद् अन्यथैव संसिद्धं विद्याऽविद्यानिरूपणैः ॥८१॥

[प्र] ननु स्वात्मज्ञानाद् मोक्षः सिद्ध्यत्विति प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं प्रपञ्चस्य अज्ञानकार्यत्वम् उच्यते, यतो ज्ञानम् अज्ञानस्यैव नाशकमिति सकार्याम् अविद्यां विद्या नाशयत्विति जगतो मायिकत्वं प्रतिपाद्यते इति चेत्, तत्र आह **तद् अन्यथैव संसिद्धम्** इति. नहि ब्रह्मविद्यायां प्रपञ्चविलयो अपेक्ष्यते, तथा सति प्रलयवत् सर्वेषाम् अनादरणीयता स्यात्. अतो **विद्याऽविद्यानिरूपणैः** साधनशास्त्रैरेव अन्यथासिद्धमिति न तदर्थं प्रपञ्चविलयो वक्तव्यः. "विद्याञ्च अविद्याञ्च" (ईशा.उप.१।११) इत्यादि श्रुतयोः अत्र अनुसन्धेयाः. हृदये स्वयं भासमानो भगवान् मोक्षं दास्यति, किं प्रपञ्चविलयेन इति भावः ॥८१॥

[टि] **तद् अन्यथैव संसिद्धम्** इत्यत्र. स्वात्मज्ञानाद् मोक्षः सिद्ध्यत्विति प्रपञ्चनिवृत्त्यर्थं प्रपञ्चस्य अज्ञानकार्यत्वम् उच्यते, यतो ज्ञानम् अज्ञानस्यैव सकार्यस्य नाशकम् इति मतम्. तत्र उच्यते **तद्** इत्यादि **भावः** इत्यन्तम्. तत्सर्वं प्रकारान्तरेण सिद्धम्. तथाहि — नहि मोक्षार्थं प्रपञ्चनिवृत्तिः अपेक्षिता किन्तु संसारनिवृत्तिः. संसारस्य अविद्याजनितत्वेन अविद्यानिरूपकैः शास्त्रैः अविद्यां ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं विद्यासाधननिरूपकैः शास्त्रैः साधनानि ज्ञात्वा तत्करणेन विद्यासम्पत्तौ मोक्षसिद्धेः, "**मां च यो अव्यभिचारेण**" (भग.गीता.१४।२६) इति वाक्याद् अनन्यभक्त्यापि मोक्षसिद्धेः न एतदन्यथानुपपत्त्यापि प्रपञ्चस्य मायिकत्वं सिद्ध्यति इति अर्थः. इदमेव उक्तं **ज्ञाननाश्यत्व...** इति श्लोकेन. **विद्याञ्च** इति. "**विद्याञ्च अविद्याञ्च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते**" (ईशा.उप.१।११) इति माध्यन्दिनी श्रुतिः एवमादयः प्रसिद्धाएव इति भावः. "अविद्या" अत्र कर्म ॥८१॥

[प्र] ननु पुराणेषु मायिकत्वं श्रूयते प्रपञ्चस्य "विद्धि मायामनोमयम्" (भाग.पुरा.११।७।७), "त्वयि उद्धव आश्रयति" (भाग.पुरा.११।१९।७) इत्यादिषु, ततो लाघवाद् मायावादएव बुद्धिसौकर्याद् अंगीकर्तव्यः इति आह :

[का] यद् मायिकत्वकथनं पुराणेषु प्रदृश्यते॥
तद् ऐन्द्रजालपक्षेण मतान्तरम् इति ध्रुवम्॥
नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित्॥८२॥

[प्र] यद् मायिकत्वकथनम् इति. एवम् अनूद्य परिहरति तद् ऐन्द्रजालपक्षेण इति. सृष्टिप्रभेदेषु ऐन्द्रजालपक्षो निरूपितः सएव पुराणेषु वैराग्यार्थं निरूप्यते. अतो न वस्तुनिरूपकं किन्तु तद् मतान्तरम् असुरव्यामोहजनकम्. पुराणानि भगवल्लीलाप्रतिपादकानि भगवच्चरित्रवद् दैत्यानां मोहम् उत्पादयन्ति. एवमेव इत्यत्र उपपत्तिम् आह नास्ति श्रुतिषु इति. यदि जगतो मायिकत्वं ज्ञानार्थं कर्मार्थं वा अभिमतं स्यात् तदा काण्डद्वयमध्ये क्वचिद् उक्तं स्यात्. ननु सर्वे वेदाः त्वया न ज्ञायन्तेइति कथं ज्ञायते न उक्तम् इति चेत्, तत्र आह दृश्यमानासु इति. एकादशशाखाः साम्प्रतं प्रचरन्ति, तासु न दृश्यते इति अर्थः॥८२॥

[टि] विद्धि मायामनोमयम् इति, पूर्वपक्ष्यभिप्रायेण इदम् उक्तं, वस्तुतः प्रथमस्य व्यामोहविषयकत्वात्. "त्वयि उद्धव आश्रयति यः त्रिविधो विकारो, मायान्तरापतति नाद्यापवर्गयोः यद्, जन्मादयो अस्य यद् अमी तव तस्य किं स्युः, आद्यन्तयोः यद् असतोः अस्ति तदेव मध्ये" (भाग.पुरा.११।१९।७) इत्यनेनापि प्रपञ्चस्य आद्यन्तयोः ब्रह्म अस्ति तदेव मध्यसमयेऽपि अस्ति. रज्जौ मालावत् प्रतीयमानः आध्यात्मिकादिः 'त्रिविधो विकारो' देहादिः तेषां 'जन्मादयो' मध्ये प्रतीयमानत्वाद् 'माया' इति वदता ब्रह्मात्मकत्वमेव प्रतिपादितं प्रपञ्चस्येति न इदमपि प्रपञ्चमायिकत्व-बोधकम्. यत्रापि मायिकत्वबोध-

कम् अस्ति तद् मतान्तरेण वैराग्यार्थम् इति अर्थः. **किन्तु** इति, ''न सत्यं तेषु विद्यते'', ''असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुः'' (भग.गीता.१६।७,८) इत्याभ्यां जगन्मायिकत्वस्य कल्पितासुरमतत्वात् न सदुपादेयम् इति अर्थः ॥८२॥

[प्र] ननु अस्ति सामशाखायाम् उत्तरकाण्डे वाचारम्भणवाक्यम् इति चेत्, तत्र आह :

[का] वाचरम्भणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात् ॥
न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतो व्यासगौरवात् ॥८३॥
ज्ञानार्थम् अर्थवादश्चेच्छ्रुतिः सृष्ट्यादिरूपिणी ॥
अनङ्गीकरणाद्युक्तं विधिमाहात्म्योर्न तत् ॥८४॥

[प्र] **वाचारम्भणवाक्यानि** इति. अत्र उपक्रमे ''कतमः/कथन्नु भगवः स आदेशः'' (छान्दो.उप.६।१।३) इति प्रश्ने ''यथा एकेन मृत्पिण्डेन'' (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादिदृष्टान्तैः सामान्यलक्षणाप्रत्या-सत्तिरिव निरूपिता. दृष्टान्ते कार्य-कारणयोः उभयोरपि प्रत्यक्षत्वम्. दार्ष्टान्तिकेषु कार्यं प्रत्यक्षसिद्धं, कारणं श्रुतिसिद्धं, कारणताप्रकारश्च. तत्र कार्य-कारणयोः अभेदो बोधनीयः, अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं न स्यात्, प्रकारभेदानाम् अज्ञानात्. अतः कार्यप्रकाराः व्यवहारार्थं वाचा संकेतिताः 'घटः'-'पटः' इत्यादयः, नतु तेन रूपेण तेषां वस्तुत्वं, तथा सति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं न भवेत्. सत्यता तु ''मृत्तिका इत्येव'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति कारणत्वेनैव. अतः कार्याणां तदनन्यत्वमेव श्रुत्या बोध्यते, नतु मिथ्यात्वं, शुक्ति-रजतवत्. अन्यथा शुक्ति-रजतादिकमेव दृष्टान्तीक्रियेत. नापि तत्र सामान्यलक्षणा सम्भवति, भ्रमाणाम् अनन्तरूपत्वात्. तस्माद् **वाचारम्भण-वाक्यानि जगतो मिथ्यात्वाय न कल्पन्ते.** तथैव आह सूत्रकारः ''तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः'' (ब्र.सू.२।१।१४) इति. ननु यथा व्यासो

महान् तथा शंकरादिरपि, ततः तद्विरोधात् कथम् एवं निर्णयः? तत्र आह **व्यासगौरवाद्** इति. व्यासो अस्माकं गुरुः अतो व्यासाभिप्रेतविरुद्धं न अंगीक्रियते इति अर्थः ॥८३॥

[टि] **सामान्यलक्षणा** इति, एकस्मिन् उपस्थिते धूमे धूमत्वेन सम्बन्धेन सकलधूमोपस्थितौ सत्यां यथा सकलधूमनिष्ठा व्याप्तिः गृह्यते तथा एकस्मिन् मृण्मये ज्ञाते मृण्मयत्वेन सर्वं मृण्मयं ज्ञातं भवति इति अर्थः. **नापि तत्र** इति. मिथ्यात्वपक्षे घटादिरूपाणां भ्रमाणां बहुरूपत्वाद् एकस्य सामान्यस्य अभावाद् सामान्यलक्षणयापि सर्वविज्ञानं न भवति इति भावः. विधिनातु एकवाक्यत्वात् "**स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**" (जै.पू.मी.सू.१।२।७) इति ॥८३-८४॥

[प्र] तत्र हेतुः :

[का] मुख्यार्थबाधनं नास्ति कार्यदर्शनतः श्रुतेः ॥
ऐन्द्रजालिकपक्षेऽपि तत्कर्तृत्वं नटे यथा ॥८६॥

[प्र] **मुख्यार्थबाधनम्** इति, अपवादार्थं जगत्कथने तस्य सती प्रतीति न स्यात्. नहि जगत्प्रतीतिः वेदसिद्धा येन प्रथमं बोधयति पश्चात् निषेधति ; लोकसिद्धाहि एषा. तथाच तत्कर्तारमेव आह. जगद् अनूद्य तत्कर्तृत्वं बोधयित्वा यदिहि निषेधं कुर्यात् तदा कार्यस्य विद्यमानत्वात् कर्त्रन्तराभावाच्च बाधितविषया स्यात्. सर्वतो बलवती हि अन्यथानुपपत्तिः. वेदोऽपि स्वभ्रान्तिकल्पितः इति महत्साहसम्. किञ्च स कल्पको न अस्मदादिः, तथा सति पारम्पर्यं न उपपद्येत, "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र.सू.२।२।२९) इति न्यायविरोधश्च. अतः प्रपञ्चप्रतीतेः विद्यमानत्वाद् **मुख्यार्थबाधनं नास्ति**. अथ ग्रहिलतया मायासहितस्यैव कर्तृत्वम् अंगीक्रियेत, प्रपञ्चस्य च मायिकत्वं, तदा लौकिकमायिनो दृष्टान्तीकर्तव्याः. तत्रच तादृशप्रदर्शन-सामर्थ्यरूप-मन्त्रादिना कर्तृत्वं नटे वर्ततएव इति आह **ऐन्द्रजालिकपक्षे-**

ऽपि इति. दर्शन-न्याय-श्रुतिभिः न जगतो मिथ्यात्वम् इति भावः ॥८६॥

[टि] **वैधर्म्याद् (च न स्वप्नादिवद्!)** इति. ननु प्रपञ्चस्य प्रतीतिमात्रेण न वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यं, स्वप्न-माया-भ्रमेषु अन्यथा भावोपलम्भाद् न तथा दृष्टत्वाद् इति चेद्, 'न, वैधर्म्यात्' स्वप्नादिषु तदानीमेव स्वप्नान्ते वा वस्तुनो अन्यथाभावोपलम्भात्. न तथा जागरिते. वर्षानन्तरमपि दृश्यमानः स्तम्भः स्तम्भएव. स्वस्य मोक्षप्रवृत्तिव्याघातः 'च'कारार्थः ॥८६॥

[प्र] मिथ्यात्वांगीकारे बाधकम् आह :

[का] मुक्तिस्तदातिनष्टा स्यात् स्वप्नदृष्टगजेष्विव॥
मायादीनाञ्च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते॥८७॥

[प्र] मुक्तिः तदा इति. कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य कल्पितत्वे तन्मध्यपातात् मनुष्यादीनां मुक्त्यर्थं प्रयत्नो व्यर्थः स्यात्. नहि मायायां प्रतीताः पारावताः कदाचिदपि मुच्यन्ते, नापि स्वप्नदृष्टाः गजाः. अतो अखिलजगत्साक्षी भगवानेव मुच्यते, नतु अस्मदादयः, तन्मायापरिकल्पितत्वात्. तथा सति व्यर्थः पारलौकिकप्रयासः. अस्मदज्ञान-परिकल्पितत्वन्तु मोहार्थम् इति पक्षद्वयेऽपि मायावादो बाधितः ; उपहितचैतन्यरूप-भगवन्मायापक्षे, तथा अस्मदज्ञानपरिकल्प-नापक्षे च.

स्वप्रवृत्तिविघातेन गुर्वादीनां च दूषणाद्।
मायावादो न मन्तव्यः सर्वव्यामोहकारकः॥

ननु अस्तु मायैव कर्त्री तदुपहितो जीवो वा, ब्रह्मतु उभयबिम्बरूपम् इति श्रुतौ तत्कर्तृत्वं बाध्यते इति आशंक्य आह **मायादीनाञ्च कर्तृत्वम्** इति. ''कथम् असतः सद् जायेत'' (छान्दो.उप.६।२।२), ''ईक्षतेः न अशब्दम्'' (ब्र.सू.१।१।४), ''कामाच्च न अनुमानापेक्षा''

(ब्र.सू.१।१।१७), "न इतरो, अनुपपत्तेः" (ब्र.सू.१।१।१५) इत्यादिश्रुति-सूत्रैः मायायाः प्रकृतेः जीवस्य च कर्तृत्वं निषिद्ध्यते ॥८७॥

[टि] **उभय**पक्षे माया तदुपहितजीवस्य कर्तृत्वे इति अर्थः **बिम्बरूपम्** इति, बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः ऐक्यांगीकाराद् इति भावः. **ईक्षतेः** इति. न विद्यते शब्दो यत्र इति **अशब्दं** सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म **न** भवति. कुतः ? **ईक्षतेः**. "**सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति उपक्रम्य "**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति तत् तेजो असृजत**" (छान्दो.उप.६।२।३). तथा अन्यत्र "**आत्मा वा इदम् एकएव अग्रे आसीत् न अन्यत् किञ्चन मिषत्**" (ऐत.उप.१।१), "**स ऐक्षत लोकानुसृजा**" (ऐत.उप.१।१) इति. "**स इमान् लोकान् असृजत**" (ऐत.उप.१।२) इति, "**स ईक्षाञ्चक्रे**" (प्रश्नोप.६।३), "**स प्राणम् असृजत**" (प्रश्नोप.६।४) इत्येवमादिषु सृष्टिवाक्येषु ब्रह्मणः ईक्षा प्रतीयते. किम् अतो यदि एवम् ? एवम् एतत् स्यात्— सर्वव्यवहार-प्रमाणातीतोऽपि ईक्षाञ्चक्रे "लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामि" इति. अतो यथा-यथा कृतवान् तथा-तथा स्वयमेव उक्तवान्. पूर्वरूपं फलरूपं च सृष्टस्वांशपुरुषार्थत्वाय. ततः च प्रमाणबलेन अविषयः स्वेच्छया विषयः च इति उक्तम्, "**ईक्षतेः न अशब्दम्**" (ब्र.सू.१।१।४) एतत्सूत्रव्याख्याने 'ईक्षति'श्रुत्या ब्रह्मणएव सृष्टिकर्तृत्वबोधनाद् इति भावः. तर्हि जडो भवतु आनन्दमयो, न, आन्तरत्वाद् न कार्यरूपो भवति किन्तु कारणरूपः. स स्वमते नास्त्येव. मतान्तरे प्रकृतिः भवेत् ; तद् निवारयति **कामात् च न अनुमानापेक्षा.** जडा प्रकृतिः नास्तीति कारणत्वेन निराकृतैव. अथ एतद्वाक्यान्यथाऽनुपपत्त्या सत्त्वपरिणामरूपा सा कल्प्येत. सा कल्पना न उपपद्यते. कुतः ? **कामात्**. आनन्दमयनिरूपणानन्तरं "**सो अकामयत**" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रूयते. स कामः चेतनधर्मः अतः

चेतनएव आनन्दमयः इति. चकारात् ''**स तपो अतप्यत**'' (प्रश्नोप.१।४) इत्यादि. अतो अनुमानपर्यन्तम् अर्थम् अबोधयद् वाक्यं न तिष्ठति इति अर्थः. ''**न इतरो, अनुपपत्तेः**'' (ब्र.सू.१।१।१५). **इतरो** जीवो **न** आनन्दमयो न भवति. कुतः? **अनुपपत्तेः**. जीवस्य फलरूपत्वमात्रेण आनन्दमयत्वं न उपपद्यते. तथा सति तस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वे अत्यलौकिकमाहात्म्यवत्त्वेन निरूपणं न उपपद्येत. अतो न जीवः आनन्दमयः ॥८७॥

[प्र] ननु *ब्रह्मणि कर्तृत्वनिषेधः श्रूयते ''अस्थूला''दिवाक्यैः (बृह.उप.३।८।८). तथा 'निरञ्जन'...श्रुतिः 'अकर्ता अभोक्ता च' इति, ''अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते'' (भग.गीता.३।२७) इत्येतदन्यथानुपपत्त्या, कर्तृत्वस्य भ्रान्तिसमानाधिकरणत्वं लोके दृष्टमिति दूषणभयाद् (च!), ब्रह्मणि कर्तृत्वं न अंगीक्रियते* इति आशंक्य आह :

[का] अकर्तृत्वञ्च यत् तस्य माहात्म्यज्ञापनाय हि॥
विरुद्धधर्मबोधाय न युक्त्यैकस्य वारणम्॥८८॥

[प्र] अकर्तृत्वञ्च इति. ब्रह्मणि अलौकिकं कर्तृत्वं वदन् अकर्तृत्वम् आह लौकिककर्तृत्व-निषेधार्थम्. अन्यथा ''अहं सर्वस्य(कृत्स्नस्य) जगतः प्रभवः प्रलयः तथा'' (भग.गीता.७।६) इति स्वस्य पश्चात् कर्तृत्वम् उच्यमानं विरुद्ध्येत. एतदेव अभिसन्धाय केनचिद् उक्तं ''न प्रमाणम् अनाप्तोक्तिः नादृष्टे क्वचिद् आप्तता अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञः'' (न्यायकुसु.३।१६) इति. अतो माहात्म्यज्ञापनार्थमेव अकर्तृत्वकथनम्. यथा ''पुरुषएव इदं सर्वम्...उत अमृतत्वस्य ईशानः... एतावान् अस्य महिमा'' (ऋक्.संहि.१०।९०।२-३) इति हिशब्दार्थः. माहात्म्यबोधनप्रकारम् आह **विरुद्धधर्मबोधाय** इति. यत्र एवं परस्परविरुद्धाः धर्माः बोध्यन्ते सएव महान्. ते धर्माः उभये सत्याः,

अन्यथा माहात्म्यं न सिद्ध्येद्, नटवत्. अतो युक्त्या अन्यतरस्य न बाधः ॥८८॥

[टि] **न प्रमाणम् अनाप्तोक्तिः** इति कुसुमाञ्जलौ उदयनाचार्येण उक्तम्. अर्थस्तु "**प्रकृतेः क्रियमाणानि**" (भग.गीता.३।२७) इत्यस्य वक्ता प्रकृतवाक्यार्थगोचर-यथार्थज्ञानवान् नवा? न चेत्, तदा आप्तोक्तत्वाभावाद् न इदं वचः प्रमाणम्. यदि अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञः तदा विमूढत्वा-ऽभिमानौ न सम्भवतः. तस्माद् जीवविषयकत्वाद् अस्य वाक्यस्य जीवस्यैव अतिस्वातन्त्र्यं निषेधति, न ब्रह्मणः कर्तृत्वनिषेधकम् इति अर्थः ॥८८॥

[प्र] पुराणन्तु मित्रसम्मतमिति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचिद् मायिकत्वं बोधयति इति आह :

[का] मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थम् उदीर्यते ॥
तस्माद् अविद्यामात्रत्वकथनं मोहनाय हि ॥८९॥

[प्र] **मायिकत्वं पुराणेषु** इति, आसक्तिनिवृत्त्यर्थं तथा बोध्यते, अवान्तरप्रकरणानुरोधात् च तथा अवसीयते. उपसंहरति **तस्माद्** इति ॥८९॥

[टि] **मित्रसम्मतम्** इति. मित्रवत् सम्मतं; मित्रं यथा हितार्थम् अन्यथापि वदति तथा इति अर्थः. **अवान्तर...** इति. शोकनिवृत्त्यादि-प्रकरणानुरोधाद् इति अर्थः ॥८९॥

[का] असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसम्भूतं किम् अन्यत् कामहैतुकम् ॥९०॥

[प्र] अस्मिन् अर्थे भगवद्वाक्यं सम्मतिरूपम् आह **असत्यम् अप्रतिष्ठं ते** इति. अतो यत्र क्वचिद् जगतो मिथ्यात्वम् असत्यत्वं

मायिकत्वम् इति बोध्यते तद् आसुरम् इति निश्चयः ॥९०॥

[टि] **असत्यम्** इति. **ते** आसुराः जनाः इदं **जगद् असत्यम्** अनृतप्रायम् **अप्रतिष्ठं** धर्माऽधर्मप्रतिष्ठारहितम् **अनीश्वरम्** ईश्वरवर्जितम् **अपरस्परसम्भूतम्** अपरः च परः च इति अपरस्परतः अन्योन्यतः स्त्री-पुरुषयोः अन्योन्यसंगाद् जातं **कामहैतुकं** स्त्री-पुरुषयोः कामएव हेतुः, **(किम्!)** न **अन्यत्** कारणान्तरम् अस्ति इति अर्थः ॥९०॥

[प्र] अन्येषां दूषणप्रकारम् आह :

[का] अन्ये सूत्रे निषिद्ध्यन्ते योगोऽप्येकः सदादृतः ॥
यस्मिन् ध्यानं भगवतो निर्बीजेऽप्यात्मबोधकः ॥९४॥

[प्र] **अन्ये** इति, "अन्येषां/इतरेषां च अनुपलब्धेः" (ब्र.सू.२।१।२). नहि महत्तत्वं प्रकृतिः वा जगति प्रतीयते. नित्या वा प्रकृतिः निरवयवा च कथं परिणमति? अतः स्वभाववादेएव प्रकृतिवादोऽपि प्रविशति इति. अन्यद् दूषणं भाष्ये विस्तरेण उक्तम्. योगं निराकरोति **योगोऽप्येकः** इति. चित्तवृत्तिनिरोधो योगः ; सच भगवद्ध्यानार्थम् अंगत्वेन उपयुज्यते स प्रामाणिकः. यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तः तथा सिद्धिहेतुः ज्ञानात्मा च, तथा अन्ये देहेन्द्रियादिसाधकाः, ते अप्रामाणिकाः. सूत्रे च निषिद्ध्यन्ते "एतेन योगः प्रत्युक्तः" (ब्र.सू.२।१।३) इति. तदाह **यस्मिन् ध्यानं भगवतो** इति. **अन्ये सूत्रे निषिद्ध्यन्ते** इति अनुषंगो ध्यानाभावेऽपि आत्मबोधांगभूतः प्रामाणिकएव ॥९४॥

[टि] **ध्यानाभावेऽपि** इति. भगवद्ध्यानाभावेऽपि जीवात्मनोः ब्रह्मत्वभावनया जीवस्वरूपज्ञाने योगांगभूतो योगः स प्रामाणिकएव इति अर्थः ॥९४॥

[प्र] एवम् उत्पत्तिप्रकारेणापि परमतनिराकरणपूर्वकं स्वमतं स्थापयित्वा काल-द्रव्य-गुणैः त्रेधैव प्रलयः इति प्रलयप्रकारेणापि परमतं निराकर्तुम् आह :

[का] ज्ञाने लयप्रकाराः हि जगतो बहुधोदिताः ॥
मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थम् एकः सांख्यानुलोमतः ॥९६॥

[प्र] **ज्ञाने लयप्रकाराः हि** इति, ज्ञानमार्गे जगतो लयप्रकाराः बहवः उक्ताइति ते सर्वे प्रकरणाभावाद् मनसः शुद्ध्यर्थं ज्ञेयाः. यतः त्रिविधएव संक्रमः : [१]कालेन नित्यः, [२]द्रव्येण संकर्षणमुखाग्निना नैमित्तिकः, [३]गुणैः प्राकृतिकः. तएव प्रकारान्तरम् आपन्नाः भावनया साधिताः 'आत्यन्तिक'शब्दवाच्याः भवन्ति, नतु आत्यन्तिको अतिरिक्तः, अहन्ता-ममतानाशएव विषयाणां नाशोपचारात्. ततो अतिरिक्तकल्पनायां प्रमाणाभावः. भावनया फलं भवतीति तद् आह **फलं मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थम्** इति. **एकः सांख्यानुलोमतः** इति, "अन्ने प्रलीयते मर्त्यः" (भाग.पुरा.११।२४।२२) इत्यादिना निरूपितः ॥९६॥

[टि] **कालेन नित्यः** इति, परिणामभेदेन प्रत्यहं जायमानः इति अर्थः. तद् उक्तं द्वादशे चतुर्थाध्याये "**नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप! उत्पत्तिप्रलयौ एके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते, कालस्रोतोजवेन आशु ह्रियमाणस्य नित्यदा, परिणामिनाम् अवस्थाः ताः जन्मप्रलयहेतवः -**" (भाग.पुरा.१२।४।३५-३६) इति. **द्रव्येण संकर्षणमुखाग्निना** इति. भगवतः शयनेन निमित्तेन ब्रह्मणो दिनान्ते संकर्षणमुखाग्निना जातो न सूर्यशतवर्षवृष्ट्यादिभिः नैमित्तिकः इति अर्थः. तद् उक्तं तत्रैव "**तदन्ते प्रलयः तावान् ब्राह्मी रात्रिः उदाहृता, त्रयो लोकाः इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि, एषः नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्, शेते अनन्तासनो विश्वम् आत्मसात्कृत्य च आत्मभूः**"

(भाग.पुरा.१२।४।३-४) इति. **गुणैः प्राकृतिकः** इति, गुणैः गन्धादिभिः लीयमानैः निरूप्यः प्राकृतिकः इति अर्थः. "**मूलप्रकृतिः अविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त**" (सां.का.३) इति वाक्यात् प्रकृतिरूपैः महदादिभिः जायमानत्वात् प्रकृतिभिः निर्वृत्तः प्राकृतिको भवति यद्यपि तथापि विशेषतो अस्य निरूपणे गन्धादिभिरेव निरूपणाद् **गुणैः प्राकृतिकः** इति उक्तम् आचार्यचरणैः. सच उक्तः तत्रैव : "**द्विपरार्धे तु अतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः, तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै, एषः प्राकृतिको, राजन्! प्रलयो यत्र लीयते, आण्डकोशस्तु संघातो विघातः उपसादितः**" (भाग.पुरा.१२।४।५-६) इति श्लोकद्वयेन सामान्यतः प्राकृतिकं प्रलयम् उक्त्वा "**पर्जन्यः शतवर्षाणि**" (भाग.पुरा.१२।४।७) इत्यारभ्य स प्रकारो "**लयः प्राकृतिको हि एषः पुरुषाव्यक्तयोः यदा, शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः**" (भाग.पुरा.१२।४।२२) इत्यन्तेन निरूपितः. **तएव** इति, वक्ष्यमाणप्रकारेषु कञ्चित् प्रकारं **भावनया** प्राप्ताः **ते** प्रलयाः **'आत्यन्तिक'शब्दवाच्याः भवन्ति**, तत्तन्ममतानाशे ब्रह्मनिष्ठतया ब्रह्मानुभवेन तेन-तेन रूपेण तत्तद्वस्तुभानाभावे तं प्रति तेषां नष्टप्रायत्वाद् इति अर्थः. तद् उक्तं द्वादशस्कन्धे "**यदा एनम् एतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनं, छित्त्वा अच्युतात्मानुभवो अवतिष्ठते तम् आहुः आत्यन्तिकम् अंग सम्प्लवम्**" (भाग.पुरा.१२।४।३४). **अन्ने प्रलीयते** इति. एकादशे चतुर्विंशाध्याये "**अन्ने प्रलीयते मर्त्यः अन्नं धानासु लीयते**" (भाग.पुरा.११।२४।२२) इत्यारभ्य "**मय्यजे**" (भाग.पुरा.११।२४।२७) इत्यन्तेन निरूपितः इति अर्थः ॥९६॥

[का] इन्द्रियाणां देवतात्वभावनाप्रापणे तथा॥
गोविन्दासन्यसेवातः प्रापणं नान्यथा भवेत्॥९७॥

[प्र] प्रकारान्तरम् आह **इन्द्रियाणाम्** इति. "वाचम् अग्नौ

सवक्तव्याम्'' (भाग.पुरा.७।१२।२६) इत्यादिना प्रापणेन तदंशमात्रलयो भिन्नो भवतीति तत्प्रकारम् आह **गोविन्दासन्यसेवातः** इति. अयं लयो रूपान्तरापादकः कार्यरूपः उत्पत्तिरेव, न लयः इति भावः ॥९७॥

[टि] ''**वाचम् अग्नौ सवक्तव्याम्**'' इत्यादि सप्तस्कन्धे द्वादशाध्याये निरूपितं ज्ञेयम्. **प्रापणेन** इत्यारभ्य **भावः** इत्यन्ते. प्रापणं भगवत्परत्वम्. तेन भगवत्परांशमात्रस्य चक्षुरादेः आधिदैविकस्वरूपोत्पत्तिरूपो लयो भिन्नो भवति. स यथा गोविन्दसेवातः तथा आसन्यसेवातोऽपि (न!) भवति, ''तं भजन् निर्गुणो भवेद्'' (भाग.पुरा.१०।८८।५) इति वाक्याद् इति भावः ॥९७॥

[प्र] प्रकारान्तरम् आह :

[का] अद्वयात्मदृढज्ञानाद् वैराग्यं गृहमोचकम्॥
वागादिविलयाः सर्वे तदर्थं मनआदिषु॥९८॥

[प्र] अद्वय...इति. ''वाचं जुहाव मनसि'' (भाग.पुरा.१।१५।४१) इत्यादिना संघातस्य लयभावनया अद्वयात्मदृढज्ञानं भवति. तस्य वैराग्यहेतुत्वं, रागाभावस्य च संन्यासोपयोगः. अतएव न कारणे लयः उक्तः ॥९८॥

[टि] प्रथमस्कन्धे पञ्चदशाध्याये ''वाचं जुहाव'' (भाग.पुरा. १।१५।४१) इति ॥९८॥

[का] भावनामात्रतो भाव्या नहि सर्वात्मना लयः॥
मनोमात्रत्वकथनं तदर्थं जगतः क्वचित्॥९९॥

[प्र] एवं लयत्रयम् उक्त्वा प्रकृतोपयोगम् आह **भावनामात्रतो** इति. **सर्वात्मना** कालादिनेव न लयः. ''देहं मनोमात्रम् इमं गृहीत्वा''

(भाग.पुरा.११।२३।५०) इति वाक्यानां बाधकत्वम् आशंक्य तेषामपि वैराग्योपयोगित्वम् इति आह **मनोमात्रत्वकथनत्वम् इति**॥९९॥

[टि] **लयत्रयम्** इति, तत्तदिन्द्रियस्य तत्तदधिष्ठातृदेवतायां लयभावनया एको, गोविन्दसेवया आधिदैविकत्वसम्पादनेन द्वितीयो, अद्वितीयात्मज्ञानार्थं संघातस्य लयभावनया तृतीयः इति अर्थः॥९९॥

[प्र] एवं मतान्तराणि निराकृत्य तेषां फलाभावं वक्तुं, येन केनापि मार्गेण भगवद्भजनं चेत् फलाय भवेत् तदा न एकान्ततः स्वमतं साधकं भवतीति मार्गान्तरवर्तिनां भगवद्भजनेऽपि फलाभावम् आह :

[का] **भक्तिमार्गानुसारेण मतान्तरगता नराः॥**
भजन्ति बोधयन्त्येवम् अविरुद्धं न बाध्यते॥
नैकान्तिकं फलं तेषां विरुद्धाचरणात् क्वचित्॥१००॥

[प्र] **भक्तिमार्गानुसारेण** इति सार्धेन. नहि मायावादादिमते श्रीकृष्णादिः व्यवहार्यत्वाद् ब्रह्म भवितुम् अर्हति. तेतु सदानन्दचित्स्वरूपम् इति च आहुः. अतः स्वमते यथा तथा पदार्थसिद्ध्यभावात् चेद् भक्तिमार्गानुसारेणैव वदन्ति इति ज्ञातव्यम्. तदा तेषां प्रतितन्त्रन्यायाभ्युपगमसिद्धान्तो भवति. तावता तेषां फलं भविष्यति इति आशंक्य आह **न एकान्तिकम्** इति. कस्यचिद् भक्तेरेव अतिशये नाममात्रेण मायावादित्वे बिल्वमंगलादीनामिव मोक्षो भवेद् इति, नतु स्वमतपक्षपाते. अतो **न एकान्तिकं फलम्**. तत्र हेतुः **विरुद्धाचरणाद्** इति, भगवति कदाचिद् अन्यथाभावनया स्वाज्ञानकल्पितत्वादिना॥१००॥

[टि] **तथा पदार्थ...** इति, केवलचिद्रूपत्वांगीकाराद् इति भावः॥१००॥

[प्र] एवं परमतं निराकृत्य स्वमते यथा भजनं तथा संकलीकृत्य आह :

[का] एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः ॥
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥१०१॥

[प्र] एवं सर्वम् इति. एवं सर्वं निश्चित्य सर्वं (ततः !) भगवतएव, सएव च सर्वम् इति वैदिक-गौणमुख्यज्ञानयुक्तः प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते सः भक्तिमार्गे उत्तमः ॥१०१॥

[टि] **संकलीकृत्य** इति, ज्ञान-योग-मर्यादाभिः एकीकृत्य इति अर्थः ॥१०१॥

[का] प्रेमाभावे मध्यमः स्याद् ज्ञानाभावे तथादिमः ॥
उभयोरप्यभावेतु पापनाशस्ततो भवेत् ॥१०२॥

[प्र] शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः, **प्रेमाभावे मध्यमः** इति वा. **ज्ञानाभावे तथा मध्यमः** इति अर्थः, **आदिमो** वा. **उभयोः अभावे** श्रवणादीनां पापनाशकत्वं धर्मत्वं वा, नतु भक्तिमार्गः इति अर्थः ॥१०२॥

[टि] ''**मयि आवेश्य मनो ये माम्**'' (भग.गीता.१२।२) इति भगवद्वाक्याद् ज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजतः उत्तमत्वमेव इति आशयेन आहुः **आदिमो वा** इति, उत्तमो वा इति अर्थः ॥१०२॥

[का] तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति ॥
योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततोऽन्यथा ॥१०३॥

[प्र] तपो-वैराग्यसहितं चेत् श्रवणादिकं भवेद्, अन्यतरसहितं वा, तदा जन्मान्तरे ज्ञानं भविष्यति इति ज्ञातव्यं, ''बहूनां जन्मनाम्

अन्ते'' (भग.गीता.७।१९) इति वाक्यात्. योगसहितभजने प्रेम. प्रथमस्य मध्यमत्वं, मध्यमस्य उत्तमत्वम् इति क्रमः. मार्गांगाभावे केवलश्रवणादीनां यत् परमपुरुषार्थसाधकत्वं निरूप्यते तद् भगवत्स्तोत्र-निरूपणं, ''धन्यो अहम्'' इत्यादिवत्. प्रमेयबलेन तेषां सिद्धिः भवति चेद् भवतु, न अन्यथा इति अर्थः ॥१०३॥

[टि] **प्रथमस्य** इति, तपो-वैराग्याभ्यां सह श्रवणादिकर्तुः प्रेमफलाभावात् मध्यमत्वं, मध्यमस्य योगसहित-भजनकर्तुः प्रेमप्राप्तेः उत्तमत्वम् इति भावः ॥१०३॥

[प्र] एवं शास्त्रार्थम् उक्त्वा उपसंहरति.

[का] अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः ॥
रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ॥
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः ॥
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥१०४॥

इति श्रीकृष्ण-व्यास-विष्णुस्वामिमतवर्ति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वार्थदीपनिबन्धे शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्

[प्र] अर्थोऽयमेव इति सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता, अन्येषु वाक्याभासाएव. रामायणानां बहुत्वं सर्वकल्पेष्वपि एवमेव प्रतिपादयन्ति इति ज्ञापनार्थम्. भारत-पञ्चरात्रयोः रामायणशेषत्वं, चरित्रप्रतिपादकत्वाविशेषात्. अन्यानि शास्त्राणि पुराणरूपाणि; तच्छेषत्वं वा भारतादेः. तत्त्वसूत्राणि चतुर्लक्षणी मीमांसा. तैः सर्वैरपि ज्ञानं प्रेमसहितं कर्तव्यम् इति निर्णीयते. अन्यथा चतुर्दशविद्यानां सरस्वतीरूपत्वाद् एकनिष्ठता न स्यात्. तत्रापि सहृदयं, भावोऽपि तस्याः एकत्रैव इति. अयम् अर्थः सरस्वतीभर्त्रैव ज्ञायतइति हरिणा

इत्युक्तम्. कदाचिद् अन्यथा केचिद् वक्ष्यन्तीति तन्निराकरणार्थं **सदा** इति ॥१०४॥

प्रमाणबलम् आश्रित्य शास्त्रार्थो विनिरूपितः ॥
प्रमेयबलम् आश्रित्य सर्वनिर्णयः उच्यते ॥

इति श्रीतत्त्वदीपनिबन्धटीकायां प्रकाशाख्यायां
श्रीवल्लभाचार्यकृतायां प्रथमं प्रकरणम्

[टि] **चतुर्लक्षणी मीमांसा** इति. कर्म-ज्ञानोपासना-भक्तिरूपैः मीमांसा लक्ष्यते इति चतुर्लक्षणी. तत्र सूत्रकाराः व्यास-शाण्डिल्य-जैमिनयः. उपासनाकाण्डस्य ज्ञानकाण्डान्तर्भूतत्वात् त्रयएव सूत्रकाराः. सूत्रमूलकत्वात् **तत्त्वसूत्र**पदेन मीमांसा उच्यते इति भावः. यद्वा **लक्षण**शब्दो अध्यायवाची. तथाच **चतुर्लक्षणी** चतुरध्यायी उत्तरमीमांसा इति अर्थः ॥१०४॥

इति श्रीमत्कल्याणरायविरचितायां तत्त्वदीपनिबन्धविवृतिटिप्पण्यां
प्रथमं प्रकरणं समाप्तम्

****

।। सर्वनिर्णयप्रकरणम् ।।

[प्रकाश] प्रमाणेन प्रमेयेण फलतः साधनेन च ।।
सर्वनिर्णयबोधाय द्वितीया प्रक्रियोच्यते ।।

[प्र] तत्र प्रथमं वेदार्थरूपं भगवन्तं मंगलार्थं स्तौति :

[कारिका] **पञ्चात्मकं द्विरूपं च साधनैर्बहुरूपकम् ।।**
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः ।।१।।

[प्र] **पञ्चात्मकम्** इति, अग्निहोत्रादिभेदेन पञ्चरूपत्वम्. तेषां प्रकृति-विकृतिभेदेन द्विरूपत्वम्. उभयोः अनेकरूपत्वं वक्तुं साधनैः बहुरूपत्वम् आह **साधनैः** इति. सर्वेषां समुदायफलम् आह **स्वानन्ददायकम्** इति. धर्मरूपेणैव फलदानं भविष्यति इति आशंक्य ईश्वररूपेणैव फलदानम् इति आह **कृष्णम्** इति. उत्तरकाण्डार्थम् आह **ब्रह्मरूपम्** इति. **स्वानन्ददायकं कृष्णम्** इत्यत्रापि तयोः रूपयोः उत्तरं श्रेष्ठम् इति आह **परम्** इति. **स्तुमः** स्तोत्रमेव यथाज्ञानं कुर्मः, नतु स ज्ञायते इति अर्थः ।।१।।

[टिप्पणी] **समुदायफलम्** इति, कर्मज्ञानफलम् इति अर्थः. **स्वानन्ददायकम्** इति. 'स्व'शब्दस्य आत्मवाचकत्वाद् धर्मि-धर्माभ्याम् ईश्वर-जीवात्मसम्बन्ध्यानन्ददायकम् इति अर्थः. **धर्मरूपेण** इति, पुण्यरूपेण इति अर्थः. **अत्रापि** इति. **ब्रह्मरूपम्** इत्यनेन सामानाधिकरण्यात् विशेषणाभ्याम् उत्तरकाण्डेऽपि ईश्वररूपेणैव फलदानम् इति अर्थः. **उत्तरं** कृष्णरूपम् इति अर्थः ।।१।।

[प्र] साधन-साध्यरूपता न एकस्य इति आशंक्य सर्वत्र भगवतएव द्विरूपत्वम् इति वक्तुम् आह :

[का] **तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्॥**
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतम्॥३॥

[प्र] **तत्साधनञ्च स हरिः** इति, साध्यरूपएव स हरिः साधनरूपोऽपि, चकारात् साध्य-साधनरूपोऽपि. साधनद्वैरूप्यं निरूपयति **प्रयाजादि स्रुगादि** इति. यत्किञ्चित् तत् फलोपकारि स्वरूपोपकारि वा, न अतो अन्यद् अस्ति इति अर्थः. गणितानां नाम्ना प्रसिद्धानां प्रकृतिरूपत्वम् इति आह **प्राकृतम्** इति. एतदेव **नित्यं** कर्म. नित्य-काम्यव्यवस्था एषैव यद् यावदुक्तकर्तव्यं नियतफलं तद् नित्यं, नतु फलरहितम्. अकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायः. नहि राजसेवायां फलाभावः. एतत्प्रतिपादकत्वमेव मुख्यतया वेदस्य. द्वितीयं रूपम् आह **काम्यन्तु वैकृतम्** इति, कामनायामेव फलदम्. विकृतत्वात् स्वभावतो न नित्यफलं प्रयच्छति॥३॥

[टि] **यद्** इति, यावदुक्तं कर्तव्यं यस्य तद् इति अर्थः. **एतद्** इति, नित्यकर्मप्रतिपादकत्वम् इति अर्थः. **कामनायामेव** इति. केवलकाम्ये कारीर्यादौ कामनायाः अधिकाररूपत्वात् कामनाभावे अनधिकारिकृतत्वाद् निष्फलत्वमेव इति भावः॥३॥

[प्र] एवम् उद्देशतो रूपद्वयं निरूप्य फलं निरूपयति :

[का] **ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद् भवेत्॥**
अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु द्विरूपं तत् क्रमाद् भवेत्॥४॥

[प्र] **ज्ञानिनः** इति. भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव. तत्र हेतुः **तदभिव्यक्तौ** सत्याम्. षोढा विहितः चेद् अभिव्यक्तो भवति. ''षोढा विहितो पुरुषः'' (तैत्ति.संहि.५।६।९।१) इत्यत्र उक्तं पञ्चात्मकं ब्रह्म च तदैव फलं प्रयच्छति इति भावः. मर्यादायां क्रममोक्षएव फलं, सद्योमुक्तिस्तु अतिकृपया. ब्रह्मज्ञानाभावे तु पञ्चात्मकत्वाद् भगवतः स्वर्गसुखं भवति, भिन्नवाक्येष्वपि फलत्वेन निरूपणात् ॥४॥

[टि] **षोढा विहितः** इति. अग्निहोत्रादि-पञ्चप्रकारैः विकृतिरूपेण च विहितो यज्ञः इति अर्थः ॥४॥

[प्र] तद् आह :

[का] **स्पर्धाऽसूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम् ॥**
प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वाद् न ध्रुवोपरि तद्गतिः ॥६॥

[प्र] **स्पर्धा...** इति, स्वर्गलोके विद्यमानानाम् इन्द्रादीनां स्पर्धादिकं श्रूयते, तच्च दुःखरूपम्. नच ब्रह्मलोकः 'स्वर्ग'शब्दवाच्यः, प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वात्. ज्ञानाभावेन केवलकर्मकरणं प्रवृत्तिमार्गः. अतएव क्रममुक्तिमार्गे ते न गच्छन्ति इति आह **न ध्रुवोपरि तद्गतिः** इति ॥६॥

[टि] **अतएव** इति. यतः आत्मसुखमेव 'स्वर्ग'शब्दार्थो, न भगवत्सुखम्, अतः स्वसाधने जीवात्मस्वरूपालाभसाधने सत्त्वगुणे '' **स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः** '' (भाग.पुरा.११।१९।४२) इति भगवता 'स्वर्ग'शब्दः प्रयुक्तः इति अर्थः. भगवाँस्तु भक्त्या प्राप्तुं शक्यः इति भावः ॥६॥

[का] नच स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते ॥
अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत् सत्त्वतो भवेत् ॥
शुद्धे सत्त्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥७॥

[प्र] नापि इन्द्रलोकेषु वाक्योक्तं सुखं सम्भवति, अनुपपत्तेः उक्तत्वात्. अतः पारिशेष्याद् आत्मसुखमेव वाक्यार्थः. अतएव 'स्वर्ग'शब्दः स्वसाधने भगवता प्रयुक्तः इति आह **तत् सत्त्वतो भवेत्** सत्त्वगुणप्रवृद्धावेव तद् आत्मसुखं भवेत्. सत्त्वबुद्धिश्च शुद्ध्या अतः पञ्चानाम् आवृत्तेश्च उपयोगः. भगवद्वाक्यम् आह **स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः** इति. सत्त्वगुणाद् वा उदयो यस्य इति ॥७॥

[टि] **पञ्चानाम्** अग्निहोत्रादीनाम्, **सत्त्वगुणाद् वा** इति. उदितः सत्त्वगुणः इति प्रथमः पक्षः, ''कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते'' (द्र.पाणि.सू.भा.३।१।६७) इति ॥७॥

[प्र] एतद् आत्मसुखरूपं फलं नित्यम् आह :

[का] अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति ॥
यागादेर्भगवद्रूपात् कामितं फलति स्फुटम् ॥८॥

[प्र] अतः तदेव इति. तैः स्वभावतएव शुद्धिः सम्पाद्यतइति भोजने तृप्तिवद् न कामना अपेक्षते. तर्हि विकृते कथं कामनापेक्षा ? तत्र आह **यागादेः भगवद्रूपाद्** इति. आधिभौतिकं वा फलं कथम् इति आकांक्षायाम् आह **यागादेः** इति. भगवद्रूपत्वात् काम्यो नित्यो वा यागादिः **कामितं फलति स्फुटम्** इति लौकिकं फलम्. यतः स्पष्टमेव कारीर्यादेः फलम् अनुभूयते ॥८॥

[टि] तृप्तिवद् इति, तृप्तौ इव इति अर्थः. ''सप्तमीसमर्थाद्

'इव'अर्थे वति'' (पाणि.सू.५।२।११६) ॥८॥

[प्र] ननु एवम् अर्थव्याख्याने को अभिप्रायः ? तत्र आह :

[का] दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्॥
मोक्षः कामस्तयोरंगं धर्मो ह्यर्थेन साधितः ॥१६॥

[प्र] दुःखाभावः इति. पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः, पुरुषार्थाश्च चत्वारः. तत्र साक्षात् पुरुषार्थद्वयं : सुखं दुःखाभावश्च इति. तत्र सुखं 'स्वर्गा'दिपदेन उच्यते, दुःखाभावो 'मोक्ष'पदेन. तयोः साक्षादंगं धर्मः, आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वाद् ज्ञानसाध्यत्वं धर्मयोगएव इति मतम्, अतएव न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना. धर्मस्य च साधनम् अर्थः. एवं साक्षात् परम्परया चत्वारः पुरुषार्थाः भवन्ति. अतः पश्वादिः अर्थो यागसाधनं, यागश्च धर्मः कामसाधनं, ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च. अतः एवं व्याख्यायते इति अर्थः ॥१६॥

[टि] आत्मचिन्तनस्य इति. विहितत्वेन आत्मचिन्तनस्यापि धर्मजनकत्वाद् ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निदिध्यासनसाध्यत्वं धर्मद्वारैव इति मतं सम्मतम् इति अर्थः. अतएव इति. ज्ञानस्य धर्मव्यापारत्वात् मिथ्याधीध्वंसस्य इव न पुरुषार्थत्वेन गणना इति भावः ॥१६॥

[प्र] तानेव प्रकारान् आह :

[का] भावस्याज्ञानतः कर्ममात्रं केचिद् वदन्ति हि॥
लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद् भगवान् वदेत् ॥२१॥

[प्र] भावस्य इति, उपक्रमादि-प्रकरणार्थस्य भावस्य अज्ञानात् केवलं वाक्यार्थमेव अनुभूय क्रियामात्रं वेदार्थः इति केचिद् आहुः.

ननु महतां वाक्यात् तथा न भविष्यति इति आशंक्य आह लोकप्रतीतम् इति वेदार्थः इति केचिद् आहुः. महान्तो हि भगवदनुगुणाः, भगवांश्च सर्वमार्गप्रवर्तकः, अतः कर्ममार्गवक्तॄन् अनुसरति ''एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः'' (भग.गीता.९।२१) इति, ''वेदवादरताः पार्थ!'' (भग.गीता.२।४२) इति च, ''त्रैगुण्यविषयाः वेदाः'' (भग.गीता. २।४५) इति च. अतो योगादि-प्रचारार्थं प्रकारान्तरापन्न-श्रुत्यर्थनिन्दया तथा बोधयतीति महान्तोऽपि तम् अर्थं न निवारयन्ति इति अर्थः ॥२१॥

[टि] उपक्रम... इति. उपक्रमोपसंहारसहितस्य प्रकरणार्थस्य इति अर्थः. तथा न इति, महतां तादृशवचनाद् भावाज्ञानं न इति अर्थः.

एवं त्रयीधर्मम् इत्यारभ्य इति अर्थः इत्यन्ते. 'एवं' यथोक्तप्रकारेण 'त्रयीधर्मं' केवलं वैदिकं कर्म 'अनुप्रपन्नाः' आश्रिताः कामान् कामयन्ते इति ''कामकामाः गतागतं लभन्ते'' (भग.गीता.९।२१) नतु स्वातन्त्र्यं मोक्षं लभन्ते इति अर्थः. सांख्ययोगबुद्धौ प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं इतरस्यां काम्यकर्मबुद्धौ प्रवर्तमानानां सांख्ययोगबुद्धिप्राप्त्यभावलक्षणं दोषम् आह ''याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति अविपश्चितः, वेदवादरताः पार्थ न अन्यद् अस्ति इति वादिनः'' (भग.गीता.२।४२). 'हे पार्थ! वेदवादरताः' बह्वर्थवाद-फल-साधन-प्रकाशकेषु रताः 'अविपश्चित-:' अविवेकिनः सन्तो 'याम् इमां पुष्पितां' पुष्पितवृक्षमिव शोभनां 'वाचं प्रवदन्ति' स्वर्ग-पश्वादि-फल-साधनेभ्यः कर्मभ्यो 'अन्यद् नास्ति इति वादिनः'. तेच ''कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदां, क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति'' (भग.गीता.२।४३). 'कामात्मा-नः' कामपराः, स्वर्गः परः पुरुषार्थो येषां ते 'स्वर्गपराः', किंलक्षणां वाचं 'जन्मकर्मफलप्रदां' – कर्मणः फलं कर्मफलं, जन्मैव कर्मफलं, तत् प्रददाति इति जन्मकर्मफलप्रदा, तां = स्वर्ग-पशु-पुत्रादिलक्षणाः अर्थाः यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यते सा तां – 'भोगैश्वर्ययोः' प्राप्तिं

प्रति साधनभूताः ते 'क्रियाविशेषाः' तद्'बहुलां' वाचं प्रवदन्तो मूढाः संसारे परिवर्तन्ते इति अभिप्रायः. ''**त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन**'' (भग.गीता.२।४५). ''हे अर्जुन! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः'' त्रैगुण्यं = संसारो विषयः = प्रकाशितव्यो येषां ते संसारविषयाः. त्वन्तु 'निस्त्रैगुण्यो' निष्कामो 'भव'. सर्वमार्गप्रवर्तकत्वात् कर्ममार्गवतानपि अनुसरति तत्रैव तानि वचनानि सन्ति. कर्ममार्गे ''एवं त्रयीधर्मम्'' इति, योगमार्गे ''याम् इमाम्'' इति, ''त्रैगुण्यविषयाः'' इति. **योगादिमार्गप्रचारार्थं (प्रकारान्तरम्!)** भगवत्तात्पर्यविषयप्रकाराद् भिन्नप्रकारं ''कर्मैव कर्तव्यं, न अन्यद्'' इत्येवम्भूतम् **आपन्नः** प्राप्तः, **प्रकारान्तरेण आपन्नो** विपन्नो वा यः **श्रुत्यर्थः तन्निन्दां** कृत्वा भगवान् **तथा** योगादिकमपि कर्तव्यम् इति **बोधयति**. तेन तन्मार्गीया **महान्तोऽपि** तदेव कर्तव्यम् इति बोधयन्ति इति अर्थः ॥२१॥

[प्र] ननु फलविसम्वादात् स्वयमेव त्यक्ष्यन्ति इति आशंक्य आह :

[का] फलन्तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद् भविष्यति॥
अतः कामनिषेधो हि क्वचिद् भगवतोदितः॥२२॥

[प्र] फलन्तु इति, यागानां भगवदंशत्वात् सर्वमेव कामितं फलं भवति. नतु नित्यं तद्, अन्यथा भगवता कामनिषेधो न उच्येतेति आह अतः इति. ''एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च'' (भग.गीता.१८।६) इति वाक्यात्॥२२॥

[टि] **एतानि** इति. अस्य अर्थः : हे पार्थ! एतानि यज्ञ-दान-तपांसि 'कर्माणि'. तेषु कर्मसु 'संगम्' आसक्तिं प्रीतिं 'त्यक्त्वा' अनु च 'फलानि त्यक्त्वा' कर्तव्यानि. एवं 'मे' मम 'निश्चितम्' उत्तमं 'मतम्' ॥२२॥

[प्र] ननु वेदार्थः चेद् एकएव स्यात्, कथं सहजाः फलत्वेन मार्गाः भिन्नाः स्युः : अर्चिरादिमार्गो, धूमादिमार्गः, तृतीयो मार्गः च इति? अतो वेदएव तथा-तथा वदति इति मन्तव्यम् इति आशंक्य आह :

[का] यथोक्ते ह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरुद्भवः ॥
तदर्चिरादि-धूमादि-मार्गद्वयम् उदीरितम् ॥
वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ ॥२३॥

[प्र] यथोक्ते इति. न अत्र वेदानुसारेण मार्गद्वयं किन्तु एकएव मार्गो वेदोक्तः, तम् आह यथोक्ते हि अपुनर्जन्म. अयथाज्ञानतः कर्मकरणाद् धूमादिमार्गः इति आह अन्यथा इति. अनेन 'जायस्व' इत्यपि मार्गः संगृहीतः, ''येन स्यात् सृष्टिः एषा उत्तरोत्तरा'' (पद्मपुरा.६।७१।१०७) इति. एवमेव शास्त्रकारैः भगवता च अभिप्रेत्य मार्गद्वयम् उदीरितं नतु उभयमपि साक्षाद् वेदाभिप्रेतम् इति अर्थः. ननु अस्य धूमादिमार्गस्य कथने किं फलम्? नहि भ्रममार्गाः केनचिद् उच्यन्ते! किञ्च धूमादिमार्गीयकर्मणो अविहितत्वे तत्फलं न स्याद्; नहि अविहितस्य भ्रमप्रतिपन्नस्य फलं सम्भवति इति आशंक्य आह वैराग्यार्थम् इति. तदपि भ्रमत्वेन प्रतिपन्नमपि, जगति तस्य मार्गस्य प्रतीयमानत्वात्. किञ्च पञ्चाग्निख्यापने श्रुतौ पञ्चाग्निख्यापनार्थं तद् उक्तं पञ्चाग्न्युपासकस्य फलसिद्धये. यथा वेदे लोकसिद्धो अनूद्यते ''धन्वन्निव प्रपा असि'' (ऋक्.संहि.१०।४।१) इत्यादौ तथा भ्रमसिद्धोऽपि अनूद्यते इति. यद् उक्तं 'किञ्च' इत्यादिना तत्र उच्यते : नहि अत्र अवैदिकत्वम् उच्यते किन्तु ''कर्मण्येव पश्वादावेव तात्पर्यं श्रुतेः'' इति प्रकारकः तात्पर्यभ्रमः. एतस्य भ्रमत्वं ''वेदवादरताः'' (भग.गीता.२।४२) इत्यादिवाक्यैः निन्दितत्वेन ज्ञायते. एवं सति तदुक्तिस्तु सर्वथा सन्मार्गविमुखस्य अतिरागिणः पुंसः

कथञ्चित् सन्मार्गे प्रवृत्त्यर्था. तद् उक्तं ''रोचनार्था फलश्रुतिः'' (भाग.पुरा.११।३।४६), ''यथा भैषज्यरोचनम्'' (भाग.पुरा. ११।२१।२३) इत्यादि. तथाच तत्फलस्य निरूपणे तुच्छत्वज्ञानेन वैराग्यार्थं तन्निरूपणम् इति ॥२३॥

[टि] अनेन इति. धूमादिमार्गेण जन्म-मरणपरम्परायाः तुल्यत्वाद् धूमादिमार्गेण प्रवाहमार्गोऽपि संगृहीतः इति अर्थः ॥२३॥

[का] अल्पज्ञत्वाद् आधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमाः द्विजाः ॥
मन्दाः सुमन्दमतयोः मन्दभाग्याः ह्युपद्रुताः ॥२५॥
द्वापरान्ते हरिर्व्यासस्तदर्थं प्रथमं पृथक् ॥
चातुर्होत्रविभागेन व्यस्तवान् वेदरूपतः ॥
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैस्तेनैव प्रेरितैः कृताः ॥२६॥

[प्र] आधुनिकानां तथा सामर्थ्याभावात् शाखाप्रणयनम्. तत्रापि एका मूर्तिः यावता वेदभागेन निरुक्ता भवति तावतोऽपि अध्ययनं दुर्लभमिति प्रथमतः चतुर्धा मूर्तेः चतुर्थो अंशो यावता प्रतिपाद्यते तावन्तं व्यासः पृथक् कृतवान्. तस्य खण्डस्य सहस्रमूर्तावपि उपयोगइति सएव अंशः एको यावता निरुक्तः स ऋगादीनाम् एका शाखा इति तथा व्यासशिष्यैः कृतम् इति अर्थः ॥२५-२६॥

[टि] तस्य खण्डस्य इति. व्यासविभक्तांशानाम् एकैकस्य सहस्रमूर्तिप्रतिपादकत्वाद् यावता वेदभागेन यदंशस्य एका मूर्तिः उच्यते स वेदभागः तदीया एका शाखा इति अर्थः ॥२५-२६॥

[का] कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः ॥
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि ॥
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि ॥२८॥

[प्र] पुरुषः षोढा विहितःइति पञ्चात्मके कर्मणि निरुक्ते षष्ठांशस्य अपेक्षा भवति, तत्प्रतिपादकम् उत्तरकाण्डम्. तच्च ब्रह्म. तदपि अनन्तरूपम्, अन्यथा अनन्तमूर्तित्वं न स्यात्. अतो यत्रैव पञ्चात्मके यच्छिरो भवितुं युक्तं तत्प्रतिपादकोपनिषत् तत्रैव योजिता. तथैव हौत्रादिकमपि ज्ञातव्यम्. तदेतद् आह **कर्मवद् ब्रह्मभेदाः** इति. इदम् अलौकिकं भवति इत्यत्र प्रमाणमेव आह **गीयन्ते बहुधर्षिभिः** इति. तेषाम् अध्ययनसिद्ध्यर्थम् आह **तेषाम्** इति. तावतैव सम्पूर्णशाखाध्यायित्वे विध्यभावाद् उच्छेदो भवेत्. (ननु!) तर्हि एकएव अर्थः प्रयोजनं वाच्यं च स्यात्, अन्यथा एकवाक्यता न भवेद् इति! तत्र आह **निर्णयः पृथगेव हि** इति. तेषां पाठार्थमेव एकवाक्यता, निर्णयस्तु पृथगेव व्यासेन कृतः. अतो ज्ञायते वाच्यैकत्वं प्रयोजनैकत्वं च काण्डद्वयस्य नास्ति इति. द्वितीयस्यापि अर्थावबोधपर्यन्तम् अध्ययनं, स्वाध्यायविधिनैव तस्यापि परिग्रहात्. अन्यथा ब्रह्मणि सन्देहाभावाद् निर्णयो व्यर्थः स्यात्. अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि एकत्र पठितम्. अंशतः परस्परोपकारार्थं च : आधिभौतिकैः यज्ञैः चित्तशुद्धिः, वेदान्तैः जीवस्वरूपविज्ञानम् इति. मुख्यरूपत्वसिद्ध्यर्थन्तु पृथङ्निर्णयः इति हिशब्दार्थः ॥२८॥

[टि] पुरुषः इति. "**षोढा विहितो वै पुरुषः आत्मा च शिरः च चत्वारि अंगानि**" (तैत्ति.संहि.५।६।९।१) इति श्रुतेः इति अर्थः. **तावतैव** इति. उपनिषद्भागं विनैव सम्पूर्णशाखाध्ययनसिद्धौ उपनिषदध्ययने विध्यभावात् तदुच्छेदएव स्याद् इति अर्थः. अथच ऋग्वेदोपनिषदि उपनिषदां शिरोरूपत्वं श्रूयते, ताभिः विना शाखाध्ययने दोषोऽपि. तथाहि "**ऋचां मूर्धानं यजुषाम् उत्तमांगं साम्नां शिरो अथर्वणां मुण्डमुण्डं न अधीते अधीते वेदम् आहुः तम् अङ्गं शिरः छित्त्वा असौ कुरुते कबन्धम्**" (सांख्याय.आर.१४।१) इति. **ब्रह्मणि सन्देहाभावाद्** इति. अर्थानुबोधाभावे ब्रह्मानुपस्थितेः इति भावः. अतः

इति, एकमूर्तिप्रतिपादने नैकार्थत्वाद् भिन्नार्थमपि काण्डद्वयम् एकत्र पठितम् इति अर्थः. **वेदान्तैः** इति, उपनिषद्भिः जीवानां ब्रह्मज्ञानम् इति अर्थः ॥२८॥

[प्र] तस्य स्मरणस्य अनुभवएव मूलं, सतु अनुभवो बहुधा जायते इति आह :

[का] **तदाचाराद् लोकतश्च न्यायाद् नित्यानुमेयतः ॥**
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता ॥३४॥

[प्र] **तदाचाराद्** इति, पूर्वकल्पे यथा आचारः स्थितः ऋषिणां, यथा वा (**लोकतः** !) लोकव्यवहारः. तत्रापि देशभेदेन यो देशाचारो येन ऋषिणा स्मृतः तेन तथा उपनिबद्धः इति **चकारार्थः**. **न्यायोऽपि** मूलं, सोऽपि पूर्वकल्पस्थितः. एते त्रयोऽपि व्यवहारोपयोगिनः. धर्मोपयोगिनीं स्मृतिम् आह **नित्यानुमेयतः** इति. योगबलेन नित्यानुमेयवेदं स्मृत्वा यद् अवादिषुः तद् अवश्यकृत्यम्. चतुर्णां फलम् आह **प्रवृत्तिः** इति. आचारात् **लोके प्रवृत्तिः** प्रकर्षेण स्थितिः भवति, लोकानुसरणे **जीविका** भवति, न्यायेन व्यवहारः, नित्यानुमेयवेदोक्तेन **विशुद्धता** भवति. अनेनैव वेदार्थे तस्याः उपयोगः. ननु प्रत्यक्षएव वेदो मूलम् अस्तु, किं नित्यानुमेयवेदेन? अनुपलब्धेः इति चेद्, उच्छन्नशाखा-प्रच्छन्नशाखा वा मूलं भविष्यति इति. मा एवं, व्यासादिभिरपि सर्ववेदद्रष्टृभिरपि अनुमानत्वेन निरूपणात्. ''अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणम् अनुमानं स्याद्'' (जै.पू.मी.सू.१।३।२) इति प्रत्यक्षवेदमूलत्वेन अनुमानं भवेत्. अतः स्मृत्या अनुमेयएव वेदो भवतीति नित्यानुमेयएव वेदो मूलम्. अन्यथा वेदव्यासः ''स्मृतेश्च'' (ब्र.सू.४।३।१२) इति न वदेत्. विद्यमाने प्रत्यक्षवेदे किमिति

द्व्यन्तरिताम् उदाहरेत्!॥३४॥

[टि] द्व्यन्तरिताम् इति. वेदाद् अर्थम् आदाय स्मृतिप्रवृत्तेः वेद-वेदार्थाभ्याम् अन्तरिता स्मृतिः इति अर्थः॥३४॥

[प्र] ननु दृश्यते स्मृतिसम्वादी वेदभागः, यथा "धन्वन्निव प्रपा असि" (ऋक्.संहि.१०।४।१), "न अप्सु मूत्र-पुरीषं कुर्यात्...न विवसनः स्नायाद्" (तैत्ति.आर.१।२६।१३) इत्यादि! तत्र आह :

[का] सम्वादे चान्यशेषत्वाद् न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः॥
गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः॥
उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो न चान्यथा॥३५॥

[प्र] सम्वादे च अन्यशेषत्वाद् इति. वेदे हि प्रकरणं सर्वत्र नियामकम्. "तस्माद् आहिताग्निः न अनृतं वदेद्" (तैत्ति.ब्राह्म. १।१।४।२) इति. नहि आहिताग्नेः अनृतनिषेधकं सर्वेषां भवति. नाऽपि अधिविष्टकोपधानकर्तुः जलनिष्ठीवनादिनिषेधः सर्वेषां भवति. नापि प्रपायाः लोकसिद्धायाः दृष्टान्तार्थं कीर्तितायाः तदेव वाक्यं विधायकं भवति, वाक्यभेदप्रसंगात्. यथा वेदेषु क्वचित् सम्वादो भिन्नशेषाणां नाभागोपाख्यानादीनां तथा नित्यानुमेय-वेदार्थेनापीति न स्मृत्यर्थं श्रुतिः प्रत्यक्षा स्पृशति इति अर्थः. ननु किं स्मृत्या इति आशंक्य आह गृहादिरिव इति. देहस्थानीयो वैदिको धर्मः, गृहस्थानीयः स्मार्तः, उभाभ्यां जीवः सुखी, न अन्यथा॥३५॥

[टि] वाक्यभेद-(प्रसंगाद्!) इति, अग्निस्तुति-प्रपाविधानयोः भेदाद् अर्थैक्याभावाद् इति अर्थः॥३५॥

[प्र] इदानीम् आचारः कुत्र मूलम् इति आकांक्षायाम् आह :

[का] कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा ।।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्तिः पुराविदाम् ।।३९।।

[प्र] कृष्यादि... इति, षड्गवादि-भागदानादि-विधानं पूर्वर्ष्या-चारतः प्राप्तं तथैव कर्तव्यं (प्रमा!) प्रमाणम् इति अर्थः. करदण्डादेः युक्तिः मूलम्. करो अत्र कृषिव्यतिरिक्तः ।।३९।।

[टि] षड्गवादि... इति. एकस्मिन् दिवसे एकहले वृषभाणां युग्मत्रयं क्रमेण योज्यम् ; एवम् एकहले षड् वृषभाः भवन्ति. आदिपदात् समये तृण-जलादिकं गृह्यते. भागः षष्ठांशादिः ।।३९।।

[का] सर्वशेषेयम् आख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः ।।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मो ह्यन्यथा भवेत् ।।४१।।

[प्र] सर्वशेषत्वाद् न वेदो मूलम् इति अभिप्रायेण आह सर्वशेषा इयम् इति. बाधकम् आह धर्मः इति ।।४१।।

[टि] सर्वशेषत्वाद् इति, बाधकम् आह इति. शुद्धेः अङ्गत्वाभावे शुद्धिं विना षड्भिः धर्मो न स्याद् इति बाधकम् आह इति अर्थः ।।४१।।

[प्र] एवं श्रौतस्य बलिष्ठत्वाय असहायशूरता निरूपिता. क्वचित् तथा स्मार्तस्यापि भविष्यति इति आशंक्य आह :

[का] स्मार्तमात्रस्य करणाद् आभासो ब्राह्मणो भवेत् ।।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेऽपि चाऽखिलम् ।।४६।।

[प्र] स्मार्तमात्रस्य इति. ब्रह्म = वेदः, तद् वेत्तीति ब्राह्मणः. स्मृतिरपि वेदमूलिकेति द्व्यन्तरितत्वात् प्रतिबिम्बवद् आभासो भवति.

अतो ब्राह्मणोऽपि तादृशः आभासः. फलं च तथा इति आह स्वर्गाभास... इति, चित्तशुद्धौ वासनाक्षयाभावो(वे!) दैत्योपहतलोके च स्थितिः इति. श्रौते तद्विपरीतम् आह श्रौतमात्रे इति, अखिलं मुख्यम्॥४६॥

[टि] आदि पदाद् आह चित्तशुद्धौ इति, कामनाभावेऽपि वासनासत्त्वात् चित्तशुद्धिः आभासरूपैव इति अर्थः॥४६॥

[प्र] स्मृतौ ब्रह्मनिरूपणं प्रत्यक्षोपनिषन्मूलकं भविष्यतीति प्रकारान्तरम् आह :

[का] ब्रह्मप्रकरणं स्मार्तं कल्पसूत्रवदेव हि॥
पुराणमूलकं वाऽपि ह्याश्रमाचारतोदितम्॥४७॥

[प्र] ब्रह्मप्रकरणम् इति. तावान् भागः कल्पसूत्रवद् इति तेनापि ब्रह्मज्ञानं फलाय इति गौणः पक्षः. मुख्यम् आह पुराणमूलकम् इति. ननु स्मृतिः मुख्या पुराणापेक्षया बलिष्ठा वेदसमानाधिकरणा कथं पुराणम् उपजीवेद् इति आशंक्य आह आश्रमाचारत... इति. सर्वे आश्रमाः स्मार्ताः. तेषाम् आचारनिरूपणप्रस्तावे चतुर्थाश्रमे ब्रह्मज्ञानं मुख्यमिति पुराणे च तद् उक्तमिति ततो गृहीतम्. उपनिषदर्थग्रहणे औपनिषत्त्वभंगाद् दोषः स्यात्, शाखाव्यवस्था च भज्येत. अतः स्मार्तं ब्रह्मज्ञानं न वैदिकवत् फलसाधकम्॥४७॥

[टि] औपनिषत्त्वभङ्गाद् इति, प्रत्यक्षेऽपि उपनिषन्निरपेक्षतया उपनिषदर्थग्रहणे केवलोपनिषत् वेदत्वाभावात् ''तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'' (बृह.उप.३।९।२६) इति श्रुतौ तद्वाचकस्य 'औपनिषत्'पदस्य

बाधितार्थकत्वं स्याद् इति अर्थः. **शाखाव्यवस्था...** इति. भगवतो अनन्तमूर्तेः **''एका मूर्तिः यावता वेदभागेन उच्यते सा एका शाखा''** (त.दी.नि.प्र.२।२४) इति निरूपितत्वात् शाखानां या शिरोरूपत्वेन ब्रह्मस्वरूपस्य व्यवस्था सा **भज्येत,** स्मृत्या तावद्धर्मकस्य ब्रह्मणो निरूपणाद् एकप्रकारकमेव ब्रह्म स्याद् इति अर्थः ॥४७॥

[प्र] एवं स्मृतिम् उपपाद्य पुराणनिर्णयम् आह :

[का] पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्॥
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नर-गेहयोः ॥४८॥

[प्र] पुराणम् इति. तस्य वेदधर्मातिदेशः, तेन धर्मार्थकाममोक्षाः भक्तिश्च इति पञ्च नित्याः, काम्याश्च विकृताः. तत्रापि देशादीनाम् अंगत्वम्. पञ्चानामपि देशादिषट्कम् अंगम्. पृथक्-पृथक् व्यासस्य कर्तृत्वम् आशंक्य निराकरोति **पूर्वसिद्धम्** इति, नित्यम् इति अर्थः. तस्य प्रयोजनम् आह **सर्वोपयोगि** इति. द्विविधा हि चत्वारोऽपि पुरुषार्थाः : ईश्वरविचारिताः जीवविचारिताः च. तत्र ईश्वरविचारिताः वैदिकाः, जीवविचारिताः पौराणिकाः इति. अतः सर्वोपयोगित्वम्. वैदिकेऽपि उपयोगम् आह **सर्वोपकरणानीव** इति. श्रौतो धर्मो देहस्थानीयः, स्मार्तो गृहस्थानीयः, उपकरणस्थानीयः पौराणिकः इति. उपकरणाभावे सर्वथा स्थितिः न भवतीति॥४८॥

[टि] **तत्र** इति. ईश्वरार्थं विचारिताः, जीवार्थं विचारिताः. वैदिकानां मुख्यतः ईश्वरफलार्थं विहितत्वात्, पौराणिकानां जीवाधिकारेण जीवसम्बन्धि-जीवयोग्यानामेव पदार्थानां पुराणेषु विहितत्वाद् इति भावः ॥४८॥

[प्र] तस्य आवश्यकत्वम् आह :

[का] तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद् हृदयं स्मृतम्।।
भावयुक्तस्य धर्मस्य प्रमितौ तत् प्रयुज्यते।।४९।।

[प्र] तदज्ञाने इति, पुराणार्थाऽज्ञाने **सर्वमौढ्यं**, बहिःपदार्थज्ञाना-भावात्. अतएव ''श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्'' (हारि.स्मृ.१।२५) इति हृदयत्वम्. उपयोगस्थानम् आह **भावयुक्तस्य** इति. वेदे यज्ञादयः उक्ताः, तेषाम् अभिप्रायज्ञानं पुराणादेव, कदाचित् कर्तव्यं कदाचिद् न कर्तव्यं ''कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्'' (भग.गीता.४।१७) इतिवत्. भावस्य ज्ञानं पुराणात्।।४९।।

[टि] **कर्मणो हि अपि** इति. अत्र यथा भगवद्वचनाद् भगवदभिप्रायज्ञानं तथा पुराणाद् भवति इति अर्थः।।४९।।

[का] **नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा।।**
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदितः।।५२।।

[प्र] तामसकल्पेषु शिवात् सृष्टिः, राजसेषु ब्रह्मणः, सात्त्विकेषु विष्णोः. तत्र उच्चनीचत्वम् अव्यवस्थितम् अतः समाधानम् आह **सर्वस्वरूपी कृष्णः** इति।।५२।।

[टि] **तत्र** इति, ब्रह्म-विष्णु-शिवेषु इति अर्थः।।५२।।

[प्र] सर्वत्र मुक्तिः इति पक्षे न कोऽपि सन्देहः ; सात्त्विकेष्वेव मोक्षः इति पक्षे विशेषम् आह :

[का] **सात्त्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः।।**
आचारान्मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः।।
धर्महीनः तत्सहितो राजसेषु सुखं ततः।।५३।।

[प्र] सात्त्विकेषु इति. (तत्प्रकारपुराणतः आचारात्!) तत्कल्पानुसारि-पुराणोक्त-धर्माचरणाद् मुक्तिम् आप्नोति (तत्सहितो!) तादृशो अधिकारी, नतु पाषण्डादिधर्मैः इति अर्थः. अन्येषु तामसेषु (भवः केवलः!) जन्म दुःखं च भवति, न सुखं नाऽपि मोक्षः. राजसेषु तु सुखं, न दुःखं नाऽपि मोक्षो यथोक्तधर्मकर्तृणाम् ॥५३॥

[टि] तत्कल्पानुसारि... इति, सात्त्विकपुराणोक्त-धर्माचरणाद् इति अर्थः. यथोक्तधर्मकर्तृणाम् इति, तत्कल्पानुसारियथोक्तधर्मकर्तृणाम् इति अर्थः ॥५३॥

[का] अपेक्षितन्तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित् ॥
इदानीं त्रिविधाः जीवाः तेन त्रितयमीर्यते ॥५४॥

[प्र] सर्वेषु कल्पेषु कल्पान्तरोक्ताः धर्माः पुरुषार्थाः वा परिग्राह्याः, यदि तत्कल्पानुसारिणो जीवाः भविष्यन्ति, यथा तीर्थे नानादेशवासिनाम्. तद् आह अपेक्षितम् इति. प्रकृते त्रिविधान्यपि पुराणानि सन्ति इति आह इदानीम् इति. राजसादीनां प्रकारान्तरेण पुराणं न हृदयारूढं भवति, अतः तेषां केवललौकिकत्वे कल्पान्तरे तेषां तामसत्वाद् राजसोच्छेदः स्यात्. राजसधर्मानुष्ठाने च उत्तरत्र सात्त्विकत्वं सम्पद्यते. तथा तामसेष्वपि ज्ञातव्यम्. अतितामसत्वनिवृत्त्यर्थम् उत्कर्षार्थं च तामसानि पुराणानि इति अर्थः ॥५४॥

[टि] कल्पान्तरोक्ताः इति, धर्माः पुरुषार्थाः च इति अर्थः. यदि तत्कल्प... इति, कल्पान्तरानुसारिणः सात्त्विक-राजस-तामसाः जीवाः भवन्ति इति अर्थः. प्रकृते त्रिविधान्यपि पुराणानि इति. तद् यथा तथा प्रदर्श्यते : "मात्स्यं कौर्मं तथा लैंगं शैवं स्कान्दं

तथैव च, आग्नेयं च षड् एतानि तामसानि निबोध मे, वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभं, गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनं, सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै, ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च, भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे'' (पद्मपुरा.६।२३६।१७-२१)॥५४॥

[प्र] ननु तत्तत्पुराणेषु तत्तदाचाराद् मुक्तिरेव निरूप्यते, किम् उत्कर्षेण? सात्त्विकाएव मुच्यन्ते इतितु सात्त्विककल्पव्यवस्था, यथा राज्ञां तत्तदवसरे तेषाम् अनुग्रह-निग्रहौ. अतः इदानीं त्रिविधानां मुक्त्यर्थमेव कथं न त्रिविधानि पुराणानि इति आशंक्य आह :

[का] प्रवृत्त्यर्थन्तु सर्वत्र मुक्तिः फलमुदीर्यते॥
तदवस्थापरित्यागाद् वचनं सत्यमेव हि॥५५॥

[प्र] प्रवृत्त्यर्थम् इति, मुक्तिः सर्वेषाम् अभिलषिता अतः तदर्थमेव सर्वोऽपि प्रवर्तते, न संसारार्थमिति सर्वेषां प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं बालानुशासनन्यायेन मुक्तिः फलम् उदीर्यते. नतु राजसकर्मणा मुक्तिः भवति, ''मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'' (भग.गीता.१४।१८) इति भगवद्वाक्यात्. परमानन्दलक्षणस्य मोक्षस्य वैजात्याभावात् सात्त्विकानां नैर्गुण्यं, तेन च मोक्षः. तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैव अवच्छिद्यते, नतु ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा, ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता.७।१४) इति वाक्यात्. ''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति'' (श्वेता.उप.६।१५) इत्यादि परम्परया इति ज्ञातव्यम्. सर्वथा सम्बन्धे पुनः बहूनि कारणानि, तत्र अवान्तरजातिभेदेऽपि न कदाचित् क्षतिः, दण्डवत्. अतः सएव परमपुरुषार्थः. तत्साधनेष्वपि 'मोक्ष'पदप्रयोगो, यथा लोके. नहि तादृशीम् अवस्थाम् आपन्नो मुच्यते, अतः तदवस्थापरित्यागो वक्तव्यएव. अतो मुक्तिप्रतिपादकं

वाक्यं सत्यमेव इति आह तदवस्था... इति ॥५५॥

[टि] **तत्र साधनता** इति, ज्ञानस्य स्नेहभजनस्य अन्यस्यापि वा भगवत्सम्बन्धिनएव मोक्षसाधनता, न अन्यस्य इति अर्थः. **तमेव** इति, "**तम् एवं विद्वान्**" (तैत्ति.आर.३।१२।७) इति "**ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरप्येकएवार्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः**" (भाग.पुरा.३।३२।३२) इति वाक्याद् भक्ति-ज्ञानयोः कारणत्वश्रवणात् तयोः प्रयोजकत्वेन परम्पराकारणत्वम्, अनुगतस्य भगवत्सम्बन्धस्यैव साक्षात्कारणत्वम् इति अर्थः. **तत्र** इति. अवान्तरजातिभेदेऽपि दण्डस्य घटकारणत्ववत् सम्बन्धस्यापि मोक्षहेतुत्वसम्भवात्. **सएव** इति, सर्वथा भगवत्सम्बन्धएव इति अर्थः. **तद्** इति. यथा लोके आरोग्यादौ 'सुख'पदप्रयोगः "आरोग्यं प्रथमं सुखम्" इति तथा राजसावस्थापादक-तामसावस्थात्यागे, सात्त्विकावस्थापादक-राजसावस्थात्यागे, नैर्गुण्यावस्थापादक-सात्त्विकावस्थात्यागे च परम्परयापि मोक्षसाधने 'मोक्ष'पदप्रयोगः इति अर्थः. अतएव अग्रे **नहि** इति. राजसीं तामसीं वा अवस्थाम् आपन्नो न मुच्यते इति अर्थः ॥५५॥

[प्र] **ननु एककल्पप्रतिपादकत्वं पुराणानाम् असङ्गतं यतः चतुर्युगवार्तामेव पुराणानि कथयन्ति, कलौ सर्वेषां पर्यवसानात्. अतो अष्टादशयुगवार्तैव पुराणानाम् अर्थः कुतो न भवेद् इति आशंक्य आह :**

[का] **चतुर्युगेषु व्यासानां नानात्वात् स्वस्वकालजम्॥**
वृत्तान्तम् आहुर्नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः ॥५६॥
सर्वनिर्धारणार्थाय व्यासो भारतम् उक्तवान्॥
एकं कल्पमुपाश्रित्य स्त्रीशूद्राणां हिते रतः ॥५७॥

[प्र] चतुर्युगे इति, एकस्मिन् कल्पे सहस्त्रं व्यासाः भवन्ति. तेषां द्वापरान्ते अधिकारः. ततः पुनः कृतौ सर्वविद्यानां पूर्णता पुनः अन्यस्य व्यासार्थं द्वापरान्ते निवेशनम् इति. अतः ते स्वचतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीति न दोषः. भारते भिन्नः प्रकारः इति तत्रापि कल्पभेदम् आह : **सर्वनिर्धारणार्थाय** इति. एकं यं कञ्चन, यत्र कल्पे तथा पदार्थाः. ततः स्त्री-शूद्राणां महत्त्वं सिद्ध्यति, यतः तत्र सर्वेषाम् आचारो निरूपितः. "न शूद्राय मतिं दद्याद्" (मनुस्मृ.४।८०) इत्यादिनिषेधः तत्र न भवति. कृतयुगे वा मानवाः धर्माः पराशरवाक्यात् ॥५६-५७॥

[टि] **ततः पुनः** इति. व्यासात् **पुनः** भागवत**कृतौ** सत्यां फलस्य जातत्वात् **सर्वविद्यानां पूर्णता** जाता इति अर्थः. **पुनः अन्यस्य** इत्यारभ्य **न दोषः** इत्यन्ते. **अन्यस्य** भगवदंशस्य **पुनः व्यासार्थं निवेशनम् इति** हेतोः तस्य सर्वज्ञत्वात् तेन एककल्पप्रकारकथनं पुराणे युज्यते. **अतः ते स्वचतुर्युगवार्तामेव कथयन्तीति** एककल्पप्रतिपादकत्वं पुराणानाम् असंगतमिति **दोषो न** भवति इति अर्थः. यद् वा **भारते** कल्पवृत्तान्तकथनं **प्रकारः. इति** हेतोः कल्पज्ञानस्य सत्त्वात् पूर्वोक्तदूषणं न भवति इति अर्थः. प्रथमपक्षे व्याख्यातार्थे प्रमाणं भारते इति. मूलार्थस्तु **चतुर्युगेषु** व्यासाः **स्वस्वकालजं वृत्तान्तम् आहुः , न अन्यस्य. तेन** भगवदंशेन व्यासेन **कल्पान्ताः** कल्पान्तपर्यन्तस्थिताः पदार्थाः **कीर्तिताः** इति अर्थः. वक्ष्यन्ति च मूले साम्प्रतमेव हि "**स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकार ह**" (त.दी.नि.२।६१) इति. **तत्र** इति, भारतोक्ते अर्थे इति अर्थः ॥५६-५७॥

[प्र] कल्पस्वरूपम् आह :

[का] धर्मनिर्धारणं तत्र सर्वेषां समुदाहृतम् ॥
प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः भुवनद्रुमरूपिणः ॥५८॥

[प्र] प्रत्यब्दम् इति.

[टि] **प्रत्यब्दम् इति** मूलम्. यथा काण्ड-पत्रादिभेदेन प्रत्यब्दं वृक्षो विलक्षणो भवति तथा कल्पाअपि विलक्षण-भुवन-द्रुमवन्तो भवन्ति इति अर्थः ॥५८॥

[प्र] ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णः. तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तं, तच्च सारस्वतकल्पानुसारि, मत्स्यपुराणे तथा प्रदर्शनात्. अयञ्च श्वेतवाराहकल्पः. अतो अत्रत्यानां कथं मुक्तिः इति आशंक्य आह :

[का] अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्।
कल्पेऽस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णस्तु सर्वतः ॥
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसंगाद् आह पाण्डवे ॥५९॥

[प्र] अन्यकल्प... इति, अन्यकल्पस्य रीतिरेव गृहीता, सर्वत्र पुराणे तथैव निर्णयाद्, नतु राजसानामेव मोक्षदः. ननु ''स्वरूपेणैव सर्वमुक्तिं करिष्ये'' इति किं भागवतेनैव ? इति आशंक्य भगवतोऽपि अभिप्रायकथनार्थम् आह **सर्वतत्त्वं सर्वगूढम्** इति. अर्जुनार्थं प्रसंगाद् गीताम् आह अतो ज्ञायते शास्त्रद्वारैव मोचकः इति. प्रवृत्तिं वा सम्पादयिष्यति इति ॥५९॥

[टि] अन्यकल्पस्य इति, सारस्वतकल्पस्य प्रकारएव उक्तो, नतु तस्मिन्नेव कल्पे भगवान् लीलां कृतवान् तत्कल्पस्थितानामेव मोक्षदः इति अर्थः ॥५९॥

[प्र] तर्हि पञ्चरात्रवत् स्वतन्त्रता भवतु इति आशंक्य आह :

[का] **विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम्॥**
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थं त्वतः पुनः॥६५॥

[प्र] **विश्वासार्थम्** इति, आगमापेक्षयाऽपि लोकानां पुराणे विश्वासः. हेत्वन्तरम् आह **भक्तिहेतुकम्** इति, तद्धि उपासनाविधायकम्. अन्यमपि हेतुम् आह **प्रतिपाद्य...** इति. **ईशलीला** सर्गादिरूपा. अन्यथा श्रोतुः तत्तद्भावापत्त्यभावे तत्तत्कर्मक्षयाभावाद् न मोक्षः स्यात्. अतो दशलीलाः पुराणलक्षणरूपाइति पुराणेषु प्रवेशः॥६५॥

[टि] **तद्** इति, पञ्चरात्रादिकम् इति अर्थः. **अन्यथा** इति, श्रीभागवते यदि दशलीलाः न निरूपिताः स्युः तदा श्रोतुः तत्र-तत्र तत्तत्-सर्गादौ भगवद्**भावापत्त्यभावे,** भगवद्रूपत्वाज्ञाने इति यावद्, अथवा ते-ते निरूपितेन सर्गादिना माहात्म्यद्वारा भगवति स्नेहोत्पत्त्यभावे, विविध**कर्मक्षयाभावाद् मोक्षो न स्याद्** इति अर्थः. **अतो दशलीलाः** इति, "**सर्गः अस्य अथ**" (भाग.पुरा.१२।७।९) इति द्वादशस्कन्धे मुख्यपुराणलक्षणत्वेन दशानां निरूपणात्॥६५॥

[प्र] ननु पूर्वसिद्धं वेदत्वमेव कुतो न उक्तवान्? तत्र आह :

[का] **सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य नोक्तवान्॥**
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति॥६६॥

[प्र] **सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थम्** इति, व्यासस्य एतावान् संकोचो अग्रिमावतारकार्यसिद्ध्यर्थं विश्वासाभावाय वेदत्वाकथनम्. पाक्षिकप्रयोजनसिद्ध्यर्थं वा, बुद्धावतारे वेदानां निराकरणात्. अतः पुराणार्थत्वेन वा तिष्ठतु इति युक्तम् उत्पश्यामः. विश्वासस्तु भविष्यति इति

आह वेद... इति. सतां दैत्यावेशरहितानाम् ॥६६॥

[टि] **संकोचः** इति, सर्वोद्धारे इति शेषः. **अग्रिमावतार...** इति, बुद्धावतार इति अर्थः ॥६६॥

[प्र] भागवतार्थस्तु न तान् अपेक्षते, नित्यत्वात् सर्वाधिकारत्वात् सुलभत्वात् च इति आह :

[का] **कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः ॥**
फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः ॥६९॥
योगसांख्येतु ये मुख्ये तयोः सत्त्वे प्रयोजनम् ॥
ज्ञानदुर्बलवादानां न मनोरथवार्तया ॥
सिद्धिं यान्ति नराः दुष्टाः व्यामोहस्तु ततः फलम् ॥७०॥

[प्र] **कालादिसाधनापेक्षारहितः** इति. ननु अन्योऽपि मार्गो योगः सांख्यं च कालाद्यपेक्षारहितः, योगेनैव सर्वाऽनर्थनिवृत्तिः ज्ञानेन च इति आशंक्य तद्द्वयं दूषयति **योगसांख्ये** इति. किं **मुख्ये योग-सांख्ये** तथाभूते आहोस्विद् यादृशे-तादृशे? तत्र आद्ये न अस्मिन् युगे भवतः, तत्साधनानां कालाद्यपेक्षणात्. साधनरहितयोस्तु अप्रयोजकत्वम्. **सत्त्वे** सत्यरूपत्वे ससाधने उत्कृष्टरूपे **योग-सांख्ये** सफले इति अर्थः. अन्ये पुनः ज्ञानदुर्बलवादसिद्धे अतः तेषां मनोरथकल्पितत्वाद् न ताभ्यां फलं किन्तु **व्यामोहएव** ताभ्यां जन्यते ॥६९-७०॥

[टि] **नित्यत्वाद्** इति, भागवतार्थस्य अविनाशित्वात् सर्वदा कर्तव्यत्वात् सर्ववर्णाश्रमविहितत्वात् सुकरत्वात् च इति अर्थः. **सत्यरूपत्वे** इति, सतिसप्तमी इयं, सत्येन कारणेन निरूप्यते इति. अस्य अर्थम् आहुः **ससाधने** इत्यनेन. कल्पितानाम् अमूलकत्वाद् अकारणकत्वाद्

इति भावः ॥६९-७०॥

[प्र] एवं श्रुतिस्मृतिपुराणानि निरूप्य षडङ्गानि निरूपयति :

[का] षडङ्गानि तथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि ॥
स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठानात् त्रिधा हि तत् ॥७२॥
शिक्षा छंदः स्वरूपेतु निरुक्तं व्याकृतिस्तथा ॥
अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः ॥
विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि ॥७३॥
साक्षाद्धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः ॥
दर्शादिकालनिर्धारो ज्योतिःशास्त्रफलं स्मृतम् ॥७५॥

[प्र] षडङ्गानि इति, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति. एतेषां सामान्यफलं वेदरक्षा, सा च त्रिविधा. वैदिकशब्दाः विसदृशाःइति ''भद्रं कर्णेभिः...'' (ऋक्.संहि.१।८९।८) इत्यादौ पण्डितैः अन्यथाकरणं सम्भवति. तन्निराकृत्य स्वरूपतो रक्षणीयः. अर्थतोऽपि रक्षणीयः, अन्यथा यागमेव न जानीयुः. अतएव साम्प्रतं दानमेव यागं मन्यन्ते. अनुष्ठानादपि रक्षा. अन्यथा, अन्यथानुष्ठानं स्यात् कल्पाद्यभावे. तत्र द्वयोः उपयोगम् आह : शिक्षा इति, स्वरादिविधौ. शब्देऽपि व्याकरणोपयोगः इति व्यभिचारम् आशंक्य आह विशेषतः इति.

ननु कल्पसूत्रे साङ्कर्यम् अङ्गत्वं स्मृतित्वं च इति आशंक्य आह : साक्षाद् इति. तत्र धर्मः प्रतीयते इति वेदत्वं च उक्तं, वस्तुतस्तु अङ्गत्वमेव. ज्योतिषः उपयोगम् आह दर्शादि इति ॥७२,७३,७५॥

[टि] अन्यथा इति, भिन्नेन-भिन्नेन प्रकारेण इति अर्थः. तत्र

इति, वैदिको धर्मः प्रतीयते इति वेदत्वम्, ऋषिणा स्मरणात् स्मृतित्वञ्च उक्तम् इति अर्थः. **वस्तुतः** इति, वेदरक्षाफलकत्वाद् इति भावः ॥७२,७३,७५॥

[प्र] निरुक्तस्य विवरणरूपस्य कथम् अंगत्वम् इति आशंक्य आह :

[का] पदनिर्वचनाद् वेदे निघण्टुविवृतावपि ॥
निरुक्तस्यांगता प्रोक्ता तथाऽल्पस्तस्य सञ्चरः ॥७६॥

[प्र] पदनिर्वचनाद् इति, निघण्टौ यद्यपि कोशवत् शब्दाः उक्ताः तथापि निर्वचनाभावाद् न अंगत्वम्. विवृतित्वेऽपि निर्वचनादेव निरुक्तस्य अंगत्वम्. व्याकरणापेक्षया तस्य अल्पो विषयः ॥७६॥

[टि] **विवृतित्वेऽपि** इति, निघण्टुविवृतित्वेऽपि वैदिकपदनिर्वचनात् निरुक्तस्य अंगता प्रोक्ता इति अर्थः. मूले **विवृतौ** इति भावप्रधानो निर्देशः ॥७६॥

[प्र] तेषाम् अंगे प्रवेशप्रकारम् आह :

[का] अनिंग्यादि प्रातिशाख्ये विशेद् व्याकरणेतु तत्।
छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञानोपयोगतः ॥७८॥

[प्र] अनिंग्यादि इति. सर्वाणि लक्षणानि प्रातिशाख्यं प्रविशन्ति, प्रातिशाख्यं व्याकरणे. छन्दसो अनुष्ठानेऽपि उपयोगो दृश्यतइति कथं पाठहेतुत्वम्? तत्र आह शब्दज्ञानोपयोगतः इति. अनुष्ठानेऽपि शब्दधर्मत्वेनैव तज्ज्ञानम् उपयुज्यते, न अन्यथा इति अर्थः ॥७८॥

[टि] **तेषाम्** इति, लक्षणानाम् इति अर्थः. मूलेतु लक्षणानाम्

आदिमत्त्वाद् ऋषिभिन्नवक्तृकत्वात् साक्षाद् अंगत्वं नास्ति इति अर्थः ॥७८॥

[प्र] उपवेदानां प्रयोजनम् आह :

[का] आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद् रक्षा च धनुषो भवेत्॥
उद्वेगहानिर्गान्धर्वे स्थापत्यं च स्रुगादिषु॥७९॥

[प्र] आरोग्ये इति, ऋग्वेदस्य आयुर्वेदः उपवेदः, तस्य आरोग्यं फलं, तेन धर्मः सिद्ध्यतीति आरोग्यद्वारा धर्मोपयोगः. एवं रक्षाद्वारा धनुर्वेदस्य, उद्वेगहानिद्वारा गान्धर्वस्य. स्थापत्यस्यतु स्रुगादिष्वपि उपयोगः. एवम् अष्टादशविद्यानां धर्मोपयोगः उक्तः. अर्थशास्त्रस्य अर्थद्वारैव तदुपयोगः, तच्च न्याये प्रविशति. तथा वात्स्यायनादीनां कामोपयोगः. सच दृष्टान्तो मोक्षसुखे अतो न अष्टादशविद्यासु निरूपितः. तच्छेषत्वमेव काव्यालंकार-नाटकादीनाम्. यथा अग्निमथनं योगे दृष्टान्तः तथा मोक्षे कामः इति सर्वम् अनवद्यम्॥७९॥

[टि] उद्वेगहानिद्वारा इति. तद् उक्तं "सुखिनि सुखनिधानं दुःखितानां विनोदः श्रवणहृदयहारी मन्मथस्य अग्रदूतः, अतिचतुरसुगम्यो वल्लभः कामिनीनां जगति जयति नादः पञ्चमः च उपवेदः" (संगीतभाष्य रागरागिणीस्वरूपाणि) इति. उपलक्षणम् एतद् मोक्षसाधकत्वमपि. तद् उक्तं लिंगपुराणे "ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानो भृशं नृप! हरेः सालोक्यम् आप्नोति रुद्रगानाधिको भवेद्" (लिंगपुरा.२।३।१०४) इति, "वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः, तालज्ञः च अप्रयासेन हरिं गायन् व्रजेद् हरिं, गीतज्ञो यदि गीतेन न आप्नोति परमं पदं, रुद्रस्य अनुचरो भूत्वा रुद्रेण सह मोदते" (याज्ञ.स्मृ.३।११५-११६) इति. स्थापत्यस्य इति, स्थपतिः शिल्पी,

तस्य कर्म स्थापत्यं स्रुक्-स्रुवादि-गृहादिनिर्माणे उपयुज्यते इति अर्थः. एवम् इति, ''पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः, वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश'' (याज्ञ.स्मृ.१।३) इति चतुर्दशविद्याः उपवेदसहिताः अष्टादश भवन्ति. **अर्थशास्त्रस्य** इति, नीतिशास्त्रस्य इति अर्थः ॥७९॥

[प्र] काव्यादीनां न धर्मोपयोगः इति आह :

[का] **काव्यादीनाम् असत्यत्वाद् नोपयोगः कथञ्चन ॥**
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिः नैपुण्यं पाठतः क्वचित् ॥८०॥

[प्र] **काव्यादीनाम्** इति, असत्यत्वम् उत्प्रेक्षाजन्यत्वात्. **कीर्तिः** धर्मवत् फलसाधिकेति फलांशे काव्यादीनाम् उपयोगम् आह **कर्तुः क्वचित् कीर्तिः** इति. **नैपुण्यं** नीतिशास्त्रेषु युज्यते, तच्च पाठात् ॥८०॥

[टि] **कीर्तिः** इति, ''यावत् कीर्तिः मनुष्याणां मर्त्यलोके महीयते, तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते'' (. । ।) इति धर्मवत् फलसाधकत्वम् ॥८०॥

[प्र] वाशिष्ठरामायणादेः न तथात्वम् इति आह :

[का] **वाशिष्ठादेस्तु सम्वादात् प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित् ॥**
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः ॥८२॥

[प्र] **वाशिष्ठादेः** इति, **सम्वादात् प्रामाण्यम्**. सम्वादः प्रमाणेन. (ननु!) ''पुराणन्याय...'' (याज्ञ.स्मृ.१।३) इत्यत्र साम्प्रतम् अक्षपादविरचितं धर्मोपयोगि भविष्यति इति आशंक्य समानशब्दत्वमेव तत्र इति आह **न्यायस्तु** इति. ''पुराणन्याय...'' इत्यत्र नीतिशास्त्रमेव

'न्याय'शब्देन उच्यते, नतु लोके प्रसिद्धम्. ''यः तर्केण अनुसन्धत्ते'' (मनुस्मृ.१२।१०६) इत्यत्र 'तर्क'शब्दो वेदानुकूलतर्कवाचक-मीमांसापरः ॥८२॥

[टि] यः इति, ''यः तर्केण अनुसन्धत्ते स धर्मं वेद न इतरः'' (मनुस्मृ.१२।१०६) इति ॥८२॥

[प्र] एवम् उक्ते सम्यज्ज्ञानं न भवतीति विशेषं वक्तुम् आह :

[का] बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते ॥
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः ॥८५॥

[प्र] बुद्धि... इति. यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते. तदैव तरतमभावो भवति ॥८५॥

[टि] तदैव इति, यदैव भेदेन वर्णनम् इति शेषः ॥८५॥

[का] अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः ॥
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात् तत्त्वानि तानि तु ॥८६॥

[प्र] प्रथमे अष्टाविंशतिभेदाः. तेषाञ्च कारणत्वं 'तत्त्व'पदवाच्यत्वं च समर्थयति भगवत्त्वम् इति ॥८६॥

[टि] प्रथमे इति, कारणे इति अर्थः ॥८६॥

[का] अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा ॥
कारणत्वं न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः ॥८७॥

[प्र] सच्चिदानन्दभेदेषु सद्भेदाएव एते, चिदानन्दयोः कारणत्वाभा-

वात्. एकस्य फलत्वम् अपरस्य स्वरूपत्वम् इति आह **कारणत्वं न चैव अस्ति इति**॥८७॥

[टि] **चिदानन्दयोः** इति. ब्रह्माण्डसृष्टिं प्रति तत्त्वानामिव तयोः कारणत्वाभावाद् इति अर्थः. **एकस्य** इति, **एकस्य** आनन्दस्य, **अपरस्य** चिदंशस्य. जीवस्वरूपात्मकत्वम् इति अर्थः॥८७॥

[का] आनन्त्यमेव भेदानां तयोः कार्ये तथैव च॥
अतस्तेषान्तु ये भेदाः नोक्तास्ते हि विशेषतः॥८८॥

[प्र] तयोः भेदाः अनन्ताः, तेन विशेषतो न वक्तव्याः इति भावः. कार्येऽपि भेदानाम् आनन्त्यं, घटादौ तथा दर्शनात्. ननु स्वस्य असामर्थ्याद् एतद् उच्यते! न इति आह **अतः तेषाम् इति, अतएव** भागवतादौ तेषां संख्या न उक्ता॥८८॥

[टि] **तयोः** इति, चिदानन्दयोः इति अर्थः. **तेषाम्** इति, सदंश-चिदंशकार्याणाम् इति अर्थः॥८८॥

[प्र] तत्त्वसहभावात् चिदानन्दयोः स्वरूपभूतयोरपि प्रथमपक्षएव निवेशनम् उक्त्वा तृतीयभेदान् आह :

[का] स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रिया-ज्ञानविभेदतः॥
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया-ज्ञानवतो हरेः॥८९॥

[प्र] स्वरूपेतु इति. क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञः एकः, तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः, ज्ञान-क्रियोभययुतः कृष्णः तृतीयः इति **त्रयो भेदाः**. यतः क्रिया-ज्ञानवान् हरिः॥८९॥

[टि] तत्त्व... इति, भगवत्स्वरूपात्मकयोरपि चिदानन्दयोः तत्त्वमध्ये पुरुषप्रवेशेन तत्त्वसहभावात् कारणेषु तत्त्वेष्वेव निवेशनम् उक्त्वा स्वरूपभेदान् आह इति अर्थः. यद्वा तत्त्वसहभावात् स्वरूपभूतयोः स्वरूपे स्थितयोः विशेषणीभूतयोः इति यावत्॥८९॥

[प्र] अस्य प्रमेयत्वसिद्ध्यर्थं प्रमेयबलविचारेण प्रमाणम् आह :

[का] विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च॥
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मः प्रवेशतः॥९०॥

[प्र] विशिष्टे वाचकम् इति. ननु काण्डद्वयेऽपि क्रिया-ज्ञानं प्रतिपाद्यते, नतु क्रियावान् ज्ञानवान् वा, तत् कथम् उच्यते ''एकैकस्मिन् अंशे एकैकं काण्डम्'' इति? तत्र आह धर्मः प्रवेशतः इति. क्रियावान् क्रियायां प्रविष्टः अतः क्रियैव प्रतीयते. वस्तुतस्तु क्रियावान्, ''यज्ञो वै विष्णुः'' (तैत्ति.संहि.१।७।४।४) इति श्रुतेः॥९०॥

[टि] अस्य इति. श्रीकृष्णस्वरूपस्य वेदादिवेद्यत्वसिद्ध्यर्थम् अन्यस्य भगवत्स्वरूपानभिज्ञत्वाद् भगवद्बलविचारेण भगवद्वचनमेव प्रमाणम् आहुः इति अर्थः. क्रियायामिव ज्ञानेऽपि ज्ञातव्यम्॥९०॥

[प्र] तत्र हेतुः :

[का] तस्यैवोद्भूतरूपत्वात् क्रियाज्ञाने अपि स्वतः॥
अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन्मते॥९१॥

[प्र] तस्यैव उद्भूतरूपत्वाद् इति, धर्मएव उद्भूतो, नतु धर्मी. ननु जन्यत्वाद् न तद् भगवत्स्वरूपम् इति आशंक्य आह क्रिया-ज्ञानेऽपि स्वतः इति, लौकिककक्रियया वृत्त्या च अभिव्यज्येतेएव, नतु जन्येते

इति अर्थः. तत्र हेतुः **अविकार्ये** इति. तर्हि लोकेऽपि क्रिया-ज्ञानयोः नित्यता स्याद् अतः आह **विकार्येतु** इति. किञ्च कार्यमपि अस्मन्मते अभिव्यक्तमेव अतो न इदं दूषणम् इति अर्थः ॥९१॥

[टि] तादृशयोः चिदानन्दयोरपि कारणत्वम्. स्वतो न कारणत्वम् इति उक्त्वा स्वरूपभेदान् आह. अतएव मूले **स्वतः**पदम् इति भावः ॥९१॥

[प्र] तर्हि लोकतुल्यत्वात् क्रियाज्ञानप्रतिपादनार्थं किं महता वेदेन इति आशंक्य आह :

[का] **वेदवाच्येतु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम् ॥**
अनुष्ठानाद् गुरोर्वापि लौकिके लौकिकं फलम् ॥
प्रेमसेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा ॥९२॥

[प्र] **वेदवाच्येतु ये रूपे** इति. तयोः अभिव्यक्तिमात्रेणैव उक्तं फलं भवति अतः फलार्थं कीर्तनम् इति अर्थः. अभिव्यक्तिहेतुम् आह **अनुष्ठानाद् गुरोः वापि** इति. गुरोः उत्तरकाण्डे. लौकिकेऽपि क्रिया-ज्ञानयोः सफलत्वात् को विशेषः इति आशङ्क्य आह **लौकिकं फलम्** इति, अन्यतः फलसिद्धिः इति अर्थः. विशिष्टाभिव्यक्तौ हेतुम् आह **प्रेमसेवातः** इति. 'भक्ति'शब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम, धात्वर्थः सेवा. ''भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति'' (महाभा.ता.नि.१।११७) इति वाक्यात्, ''पश्यन्ति ते मे'' (भाग.पुरा.३।२५।३५) इति च. विशिष्टस्य कृष्णस्य कृतार्थत्व-ज्ञापनाय अभिव्यक्तिः **उत्तमा**, नतु दैत्यवधार्थमिव ॥९२॥

[टि] **अन्यतः** इति, भगवतो अन्यस्मात् क्षयिष्णु फलं भवति इति भावः. **'भक्ति'शब्दस्य** इति. 'पंकजा'दिवद् योगरूढिः इति अर्थः. **पश्यन्ति** इति, ''न एकात्मनां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः, ये अन्यो अन्यतो भागवताः प्रसज्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि, पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस-प्रसन्नवक्त्राऽरुणलोचनानि, रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति'' (भाग.पुरा.३।२५।३४-३५) इति कपिलदेवैः निरूपितम्॥९२॥

[प्र] अक्षर-कर्म-स्वभावान् निरूपयन् प्रथमम् अक्षरम् आह :

[का] **प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा॥**
यद् रूपं समधिष्ठाय तदक्षरम् उदीर्यते॥९८॥

[प्र] **प्रकृतिः पुरुषश्च** इति. भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुम् इच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति. तत्र ज्ञानेन मोक्षो देयः इति यदा विचारयति तदा अक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य आधारभागः चरणस्थानीयः. तम् आदौ चतुर्मूर्तीकरोति : अक्षररूपं ब्रह्मरूपं कालरूपं स्वभावरूपं च. तत्र यस्य रूपस्य द्वैरूप्यं भवति प्रकृति-पुरुषभेदेन तद् अक्षरम्॥९८॥

[टि] **ब्रह्मरूपम्** इति, वेदरूपम् इति अर्थः. अतएव अग्रे ''**यथा कालो रूपम् अक्षरस्य तथा कर्मापि**'' (त.दी.नि.प्र.२।११०) इति व्याख्या, वेदबोध्य-विधि-निषेधात्मक-कर्मनिरूपणं च संगच्छते इति अर्थः॥९८॥

[प्र] ननु पुरुषोत्तमस्वरूपात् तत्र को विशेषः इति चेत्, तत्र आह :

[का] **आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि॥**
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः॥९९॥

[प्र] आनन्दांशतिरोभावः इति, ''अग्रे अहम् एवं भविष्यामि'' इति इच्छामात्रेण अन्तःसमुत्थितसत्त्वेन आनन्दांशः तिरोहितइव भवति. तेन सृष्टीच्छया व्यापृतो भगवान् 'मुख्यजीव'शब्द-वाच्योऽपि भवति. अतएव औडुलोमिमते जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः ॥९९॥

[टि] यतो अक्षराद् जीवसृष्टिः अतो अक्षरे स्वयोग्ये जीवानां प्रवेशः इति अर्थः. **अतएव** इति, यतो भगवान् 'मुख्यजीव'शब्दवाच्यो, अस्य आनन्दांशोऽपि तिरोहितइव नतु तिरोहितः, ततएव औडुलोमिमतवादिनः तस्मिन्नेव भगवति जीवानां प्रवेशं वदन्ति इति अर्थः ॥९९॥

[प्र] ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् यथा महदादीनाम् इति आशंक्य आह :

[का] इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्याऽयमुपचर्यते ॥
ब्रह्मकूटस्थाऽव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् ॥१००॥

[प्र] इच्छामात्राद् इति, इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या तिरोभावइव उच्यते, वस्तुतस्तु आनन्दमयएव. अतएव पुरुषो अवतारो भविष्यति. इच्छारूपायाः प्रकृतेः भिन्नत्वे वाचकैरपि तस्य न जीवत्वम् इति अभिप्रायेण आह ब्रह्म इति. आदिशब्देन 'असत्-तमः'शब्दादयो गृह्यन्ते. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरः एव ॥१००॥

[टि] **यथा** इति. ब्रह्मात्मकत्वेऽपि चिदंशानन्दांशतिरोभावे यथा महदादीनां जडत्वं तथा भगवति पुरुषेऽपि आनन्दांशतिरोभावे जीवः

स्याद् इति अर्थः. **प्रकृतेः भिन्नत्वे** इति, पुरुषस्य केवलत्वे जाते इति अर्थः. **'आदि'शब्देन** इति. "**असद् वा इदम् अग्रे आसीत्**" (तैत्ति.उप.२।७), "**सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीत्**" (छान्दो.उप.६।२।१), "**तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे प्रकेतम्**" (ऋक्.संहि.१०।१२९।३) इत्यादिश्रुतिषु विद्यमानाः इति अर्थः ॥१००॥

[प्र] **तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिम् आह :**

[का] **सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नण्डानि कोटिशः ॥**
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः ॥१०१॥

[प्र] **सर्वावरणयुक्तानि** इति, "**तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म**" (**भाग.पुरा.३।११।४१**) इति वाक्यात्. एतस्य अक्षरस्य पुरुषोत्तमे अभेदेन यथा निवेशः तथा प्रकाराः उच्यन्ते. तद् आह **मूलाविच्छेद...इति,** मूलेन = पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति. नतु कार्यत्वेन इति आह **तदाधारतया इति.** एषा स्थितिः सर्वदा ॥१०१॥

[टि] **तद् आहुः** इति, "**तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं, विष्णोः धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः**" (भाग.पुरा.३।११।४१) इति तृतीयस्कन्धे एकादशाध्याये निरूपणाद् इति अर्थः ॥१०१॥

[प्र] **कदाचित् पुनः पुरुषोत्तमः चेद् आविर्भवति तदा अक्षरमपि बहुधा भवति इति आह :**

[का] **प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः ॥**
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि ॥१०२॥

[प्र] **प्रभुत्वेन** इति, प्रभुः वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठः ;

जीव-जडाकारेण प्रादुर्भवति इति अर्थः. अतएव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः. ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्. अतएव ''अभेदश्च अस्मदादीनाम्'' (द्र.महा.ता.नि.१।५५) इति वाक्यं संगच्छते. अन्तः उपासनायाम् अन्तर्यामिरूपेण प्रकटो भवति. तदा सद्योमुक्तौ ज्ञानिनः तच्चरणारविन्द-मेव प्रविशन्तीति अक्षरस्य पादत्वम्. तथा अवतारेऽपि ''चैद्ये च सात्त्वतपतेः चरणं प्रविष्टे'' (भाग.पुरा.१०।७५।८) इति. आदिशब्देन आधिदैवादिरूपेष्वपि ॥१०२॥

[टि] अतएव इति. यतो अक्षरमेव जीव-जडाकारेण प्रादुर्भवति अतो वैकुण्ठस्थिताः पक्षि-वृक्षादयोऽपि मुक्ताएव इति अर्थः ॥१०२॥

[का] हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः ॥
तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वमस्य हि ॥१०३॥

[प्र] आनन्दमयनिरूपणे हंसाकृतित्वकथनं, तत्र ''ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'' (तैत्ति.उप.२।५) इति ब्रह्म = अक्षरम् आनन्दमयस्य पुच्छम् इति. निःसन्देहाय परमात्मपदम्. एवम् अनेकभावापन्नमपि ज्ञानमार्गे अक्षरत्वेनैव सेव्यम् इति आह तदुपासनया इति. प्रथमतः तस्यैव निदिध्यासनेन यद् ज्ञानम् उत्पद्यते तेन अस्य अधिकारिणः परमात्मत्वमेव, नतु अक्षरमात्रता इति भगवद्वचनाद् अवगम्यते. ''ते प्राप्नुवन्ति मामेव'' (भग.गीता.१२।४) इति हिशब्दार्थः ॥१०३॥

[टि] आनन्दमय... इति, तैत्तिरीयोपनिषदि अन्नमयादि-निरूप्यमाणेषु पुरुषोत्तमस्य हंसाकृतित्वकथनम् अस्तीति तत्र अक्षरस्य पुच्छत्वम् इति अर्थः. प्रथमतः इत्यारभ्य हिशब्दार्थम् आहुः ॥१०३॥

[का] ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः ॥
रूपान्तरन्तु तस्यैव सर्वसामर्थ्यसंयुतम् ॥१०४॥

[प्र] भक्तिमार्गेतु आरम्भतएव परमानन्दः, ज्ञानमार्गेतु अन्ततः इति विशेषः. तथापि ज्ञानमार्गे अक्षरमेव सेव्यम् — एवम् अभेदेऽपि वैलक्षण्यं निरूप्य यदर्थम् एतद् निरूपितं तद् आह **कृष्णः ततोऽधिकः** इति. ''अक्षरादपि च उत्तमः'' (भग.गीता.१५।१८) इत्यादिवाक्यं समर्थितं भवति. तस्यैव रूपान्तरं कालः इति आह **रूपान्तरम्** इति. तस्य रूपान्तरत्वे हेतुम् आह **सर्वसामर्थ्यसंयुतम्** इति. सर्वाकारेण भवनातिरिक्तं यावत् किञ्चित् सामर्थ्यं मायायाः विशेषः तत्संयुतम्. तेन अस्य सर्वाधिकारित्वं निरूपितम्॥१०४॥

[टि] **इत्यादिवाक्यम्** इति. ''**कृषिः 'भू'वाचकः**'' (गो.पू.ता.उ-प.१) ''**कृष्णस्तु भगवान्**'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इत्यादि. **तस्यैव** इति, अक्षरस्यैव इति अर्थः. **मायायाः** इति. मायातु सर्वरूपेण भवति इति ततो वैलक्षण्यम्॥१०४॥

[प्र] तस्य रूपम् आह :

[का] **चिदानन्दतिरोभावः तदनुद्गमएव च॥**
ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः॥१०५॥
चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः॥
क्रियाशक्तिप्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः॥१०६॥

[प्र] **चिदानन्दतिरोभावः** इति. सच्चिदानन्दरूपेषु द्वयोः तु स्वेच्छया तिरोभावः. उपासनायाम् अन्यथाकारणाभावाय आनन्दांशस्य सर्वथा अनुद्गमः, सजातीयत्वेन जीवसङ्कोचाभावाय चिदंशस्यापि अनुद्गमः. जडादपि वैलक्षण्यम् आह **ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यम्** इति, व्यवहारे सर्वानुभवसम्भवेऽपि सर्वाऽप्रत्यक्षत्वात्. तर्हि आकाशतुल्यता स्याद् इति आशंक्य आह **अन्तस्तु सर्वतः** इति. स बहिर्मुखाणां बहिर्व्यवहारे

पूर्वोक्तप्रकारएव. ज्ञानिनान्तु सच्चिदानन्दरूपो भगवानपि कदाचित् तद्रूपो भवति इत्यतः सच्चिदानन्दरूपो अन्तःप्रकटः. तस्य प्रयोजनम् आह **सकलोद्भवः** इति, सकलस्य उद्भवो यस्मात्. तस्य परमार्थदर्शने कार्यसिद्धिः न भविष्यतीति भगवान् तं क्रियाशक्तिप्रधानमेव कृतवान्. अतः सकलोद्भवहेतुः. **नित्यगः** च चलनैकस्वभावः. तथा सति सर्वनियामकं न भविष्यतीति विशेषम् आह **सकलाश्रयः** इति. सर्वं जगत् स्वस्मिन् स्थापयित्वा निरन्तरं गच्छति. अतएव नित्यप्रलयसिद्धिः ॥१०५-१०६॥

[टि] **उपासनायाम्** इति, उपासनायां कृतायां क्रियमाणायां वा कालः स्वोपासकस्य ज्ञानिनः स्वानन्दानुभवार्थं स्वानन्दं प्रकटयति इति सम्भावना स्यात् ; तदभावाय इति अर्थः. **सजातीयत्वेन** इति. चिदंशप्राकट्ये कालस्य आत्मतुल्यत्वाद् जीवसजातीयत्वेन जीवेषु संकोचः = प्रवेशः स्याद्, भिन्नत्वेन गणना न स्यात्, तदभावाय इति अर्थः. **ज्ञानिनाम्** इत्यारभ्य **प्रकटः** इत्यन्ते. सच्चिदानन्दरूपो भगवान् कदाचित् कालरूपः प्रकटो भवतीति तदुपासकैः ज्ञानिभिः तथा कालो निरूप्यते इति भावः ॥१०५-१०६॥

[का] मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत् फलसाधकः ॥
सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम् ॥
आध्यात्मिकन्तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका ॥१०९॥

[प्र] तस्य अन्यथाकरणं व्यावर्तयति **प्रभुवत् फलसाधकः** इति. तस्य परिज्ञानार्थं तद्भेदान् आह **सूर्यगत्या** इति. तस्याऽपि आध्यात्मिकादिरूपम् अस्ति इति आह **सूर्यः** इति. आधिभौतिकं रूपं तस्य सूर्यः, आध्यात्मिकं युगादिः. रात्रौ युगाद्यभावाद् भेदसिद्ध्यर्थम् आह **क्वचिद् इच्छापि** इति ॥१०९॥

[टि] **रात्रौ** इति, ब्रह्मणो रात्रौ सूर्याद्यभावाद् भगवदिच्छयैव तावत्कालं प्रलयो भवति इति अर्थः ॥१०९॥

[प्र] **तस्य प्रतिपुरुषं भेदो भविष्यति इति आशंक्य आह :**

[का] **तद् एकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम् ॥**
अग्र-पश्चाद्भावभेदाद् द्विधा प्रकटम् उच्यते ॥१११॥

[प्र] **तदेकं भगवद्रूपम्** इति. व्यापकं तद्रूपं, तथापि येन यावद्रूपं विधिप्रकारेण निषेधप्रकारेण वा प्रकटीक्रियते तस्य तावत् फलं दत्वा तदंशेन तिरोभवतीति साधारण्येनापि सर्वसम्भवाद् न प्रतिकर्मव्यवस्था इति अर्थः. तर्हि एकः कथं युगपत् सुख-दुःखे प्रयच्छति इति आशंक्य आह **अग्रपश्चाद्भावभेदाद्** इति ॥१११॥

[टि] **अग्रपश्चाद्भावभेदाद्** इति. ''**परार्ध्याग्रप्राग्रहर...**'' (अम.को.३।१।५८) इति कोशाद् 'अग्र'शब्दस्य श्रेष्ठवाचकत्वेन विधिवाचकत्वात् 'पश्चाच्'छब्दस्य हीनवाचकत्वात् विधिभाव-निषेधभावाभ्यां विहितत्व-निषिद्धत्वविशिष्टं कर्मापि भिन्नम् उच्यते इति अर्थः ॥१११॥

[प्र] **तस्य एकत्वे प्रमाणम् आह :**

[का] **सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा ॥**
कालवत् सकलं रूपम् अंगं तद्वशगं तथा ॥११२॥

[प्र] **सृष्टौ साधारणम्** इति. ''**कालं कर्म स्वभावं च**'' (भाग.पुरा.२।५।२१) इति वाक्यात् सृष्टिकाले यादृशं रूपं तेन परिच्छेद्यं सएव अंशः प्रकटः. अस्यापि चिदानन्दतिरोभावादिः कालवदेव इति

आह **कालवद्** इति. विशेषम् आह **तद्वशगम्** इति. यत्र यः कालवशे भवति तमेव व्याप्नोति, नतु अन्यम् इति अर्थः ॥११२॥

[टि] **सृष्टिकाले** इति, आद्यसृष्टिकाले. **तेन** भगवता अक्षरात् कर्मणो **यादृशं रूपं** भिन्नं कर्तव्यं **सएव** अक्षरांशः कर्मरूपेण **प्रकटो** भवति इति अर्थः. यद्वा सृष्टौ तेन अधिकारिणा कर्मणो यादृशं विहितं निषिद्धं वा रूपं प्रकटीक्रियते सएव अंशः प्रकटो भवति इति अर्थः ॥११२॥

[प्र] अस्य आविर्भाव-तिरोभावयोः उपपत्तिम् आह :

[का] **वस्तूद्गमतिरोभावैः तथा सत्त्वादिभिः पुनः ॥**
परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम् ॥११४॥

[प्र] **वस्तूद्गम...** इति, अस्य उद्गम-तिरोभावयोः वस्तु नियामकं, तथा सत्त्वादिगुणाः ज्ञानं कर्म च, अतो बहुधा उद्गमः. तस्य द्रव्याविर्भावेणाऽपि आविर्भावः. विरोधिगुणप्रादुर्भावे पूर्वस्वभावो निवर्तते, अन्यश्च उदेति. तथा मन्त्रशास्त्रादिभिरपि. अतो बहुधा उद्गम-तिरोभावौ. तस्य सद्भावे अर्थापत्तिं प्रमाणयति **परिणामस्तु** इति. स्वभावस्य परिणामएव कार्यम् ॥११४॥

[टि] **अस्य उद्गम...** इति, वस्तूद्गमे स्वभावोद्गमो , वस्तुतिरोभावे स्वभावतिरोभावः इति अर्थः. उक्तवस्तु-सत्त्वादिगुण-ज्ञान-कर्मणां नियामकत्वं विवृण्वन्ति **तस्य** इत्यारभ्य **अप्यन्तेन**. द्रव्ये आविर्भूते तत्स्वभावोऽपि आविर्भवति. तथा विरोधिनि तमोगुणे प्रादुर्भूते सात्त्विकस्वभावो निवर्तते, तामसः उदेति. एवम् अन्यत्र गुणेऽपि. तथा मन्त्रैः शास्त्रैश्च ज्ञाने जाते पूर्वस्वभावो निवर्तते, सत्कर्मणापि ॥११४॥

[प्र] तत्र उपपत्तिम् आह :

[का] अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिद् उदाहृतः ॥
सर्वसाधारणत्वेन न तत् तत्त्वं तदेव तत् ॥११६॥

[प्र] अतः तदुद्गमः इति. शास्त्रे भागवते. तथापि कारणत्वात् तत्त्वता भविष्यति इति आशंक्य आह सर्वसाधारणत्वेन इति. यथा भगवान् सर्वसाधारणत्वाद् न तत्त्वकोटौ प्रविशति तथा कालादिरपि. भगवत्त्वेनैव उपपत्तौ न पृथक्त्वम् ॥११६॥

[टि] शास्त्रे भागवते इति, भागवते तत्त्वेषु कालादिः न उक्तः इति अर्थः ॥११६॥

[प्र] एवं कारणं निरूप्य कार्यज्ञानार्थं तस्य अवान्तरभेदान् आह :

[का] आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः ॥
समष्टि-व्यष्टिभेदेन केवले जड-जीवता ॥११८॥

[प्र] आनन्त्येऽपि इति. यद्यपि घट-पटादिप्रकारेण ज्ञानम् अशक्यं तथापि सर्वं कार्यं राशिद्वयात्मकं : समष्टिरूपं व्यष्टिरूपं च. तच्च जीव-जडात्मकं ; न आनन्दांशः तत्र प्रविशति. अतः केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जडो जीवः च भवति, नतु ततो अतिरिक्तं किञ्चित् ॥११८॥

[टि] समष्टिरूपं समूहरूपं, व्यष्टिरूपं पृथग्रूपम्. यथा वृक्षसमूहो वनं समष्टिः, प्रत्येकं वृक्षादि व्यष्टिः इति. अतः इति, ईश्वरं विहाय उत्पन्नत्वेन धर्मेण विभागे क्रियमाणे इति अर्थः ॥११८॥

[प्र] कार्ये त्रैविध्यं निरूपयितुम् आह :

[का] **सर्वेषां त्रिगुणत्वाद् हि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः ॥**
आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृताः ॥११९॥

[प्र] **सर्वेषाम्** इति. गुणानामपि त्रैविध्ये हेतुः अग्रे वक्तव्यः. भेदान् आह **आधिदैविकम्** इति. अधिष्ठाता स्वतन्त्रो 'देवः' इति उच्यते, अभिमन्ता 'आत्मा' ; अनयोः मध्ये अभिसम्भवति सो अधिभूतः[१] ॥११९॥

[टि] **त्रिगुणत्वाद्** इति मूले, सच्चिदानन्दरूप-त्रिधर्मत्वाद् इति अर्थः ॥११९॥

[प्र] तत्रैव विद्यमानोऽपि अनभिमानित्वाद् ब्रह्मेति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्ततेइति प्रकारान् गणयति :

[का] **अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे ॥**
स्वभाव-कर्म-कालाः च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा ॥१२१॥

[प्र] **अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः** इति. यथा सारथी रथी तदन्तस्थितः च तथा **अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः**. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति. परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदाः. त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदान् आह **स्वभाव...** इति. अक्षरस्य स्वभाव-कर्म-कालाः भेदाः, रुद्रादयः कृष्णस्य. अन्तर्यामिणः सर्वत्र भिन्नतयैव स्थितत्वाद् न भेदान् आह ॥१२१॥

[टि] **तत्रैव** इति, शरीरे विद्यमानोऽपि अन्तर्यामी शरीराभिमानरहित-त्वाद् ब्रह्म उच्यते इति अर्थः. **यथा** इति, प्रेरकत्वाद् अन्तर्यामी सारथिः. पुरुषोत्तमाधारतया स्थितत्वाद् अक्षरं रथि. पुरुषोत्तमाधिक-

१.द्रष्ट.यो आध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः यः तत्र उभयविच्छेदः स स्मृतो हि आधिभौतिकः (भाग.पुरा.२।१०।८) (सम्पा.)

परिमाणाभाव-ज्ञापनार्थं ह्रस्वरथइव अक्षरं वर्ततेइति 'रथ'शब्दः स्त्रीलिङ्गः प्रयुक्तः, **''स्त्री स्यात् काचित् मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि''** (अम.को.३।५।७) इति नामलिंगानुशासनेन अल्पत्वविवक्षायां 'मृणाला'-दिशब्दानां स्त्रीलिङ्गाभिधानात्. तथाच माघकाव्ये **''रथी युयोज अविधुरां वधूमिव''** (शिशुपालवध १२।८) इति. रथमध्येइव अक्षरे स्थितः श्रीकृष्णः इति अर्थः ॥१२१॥

[प्र] त्रयाणां शक्तिभेदान् आह :

[का] अविद्या प्रकृतिर्माया निद्रा चिन्तेन्द्रजालता ॥
महत्तत्त्वं ब्रह्मरूपम् अस्मच्चित्तं तथैव च ॥१२२॥

[प्र] अविद्या इति, अविद्या जीवस्य, प्रकृतिः अक्षरस्य, माया कृष्णस्य. उपलक्षणविधया अविद्यायाः भेदान् आह निद्रा इति. एवं प्रकृति-पुरुषपर्यन्तम् उपरिस्थितानां भेदान् उक्त्वा महदादीनाम् आह महत्तत्त्वम् इत्यादिना. महत्तत्त्वम् आधिदैविकस्थानीयं, द्वितीयं ब्रह्मशरीरं, तृतीयम् अस्मदादीनां चित्तम्. अनेन ''अन्येषां च अनुपलब्धेः'' (ब्र.सू.२।१।२) इति भगवत्सिद्धान्ते दोषः परिहृतः ॥१२२॥

[टि] **उपरिस्थितानाम्** इति, श्रेष्ठानाम् इति अर्थः. **महत्तत्त्वम्** इति, **आधिदैविकस्थानीयम्** इति पदात् महत्तत्त्वादिषु तारतम्यज्ञानोक्तं, नतु तद्रूपमेव इति अर्थः. **अनेन** इति, साक्षात्परम्पराभेदेन प्रकृति-पुरुष-महत्तत्त्वादीनां ब्रह्मात्मकत्वनिरूपणेन व्यासैः **''अन्येषां च अनुपलब्धेः''** (ब्र.सू.२।१।२) इति सूत्रेण प्रकृत्यादीनाम् अभावः उक्तः. स दोषो भगवत्सिद्धान्ते ब्रह्मवादे कपिलदेवोक्त-सिद्धान्ते वा परिहृतो ज्ञेयः इति अर्थः ॥१२२॥

[प्र] अहंकारे भेदान् आह अहंकारः इत्यादिना.

[का] अहंकारो रुद्ररूपम् अहङ्कारोऽस्मदादिषु ॥
मनश्चन्द्रशरीरञ्च मनोऽस्माकं तथैव च ॥१२३॥

[टि] **मनः** इति मूले. अहंकाराद् उत्पन्नं मनः एकं, चन्द्रशरीरं[१] द्वितीयं रूपम्, अस्माकं मनः तृतीयम् इति ॥१२३॥

[का] अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयम् उदीरितम् ॥
चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनःप्रेरकएव नः ॥१२५॥

[प्र] त्रयाणाम् अवान्तरभेदाः सन्ति इति ज्ञापनार्थम् आह **चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च इति** ॥१२५॥

[टि] **चन्द्रः** इति, एकः चन्द्रो देवतारूपो, यो याग-पूजादौ सन्निहितो भवति. द्वितीयः चन्द्रमण्डले स्थितः तदभिमानी. तृतीयो अस्मदादिमनःप्रेरकः. एवं सूर्यादावपि ज्ञातव्यम् ॥१२५॥

[प्र] परिच्छेदं वारयति :

[का] अन्येऽप्यवान्तराः भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः ॥
लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः ॥१२९॥
दशदिक्षुतु ते त्वत्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः ॥
तादृशैरपरैर्देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक् ॥१३०॥

[प्र] **अन्येऽपि** इति. अस्मदाद्यधिष्ठिता पृथिवी, भाराक्रान्ता गोरूपा द्वितीया, भगवतः पार्श्वे वर्तमाना तृतीया इति. एवं जलादावपि ज्ञातव्यम्. ये दशेन्द्रियाणां देवाः उक्ताः अहंकाराद् उत्पन्नाः तएव लोकपालाः इन्द्रादयो, नामसाम्याद्, ब्रह्माण्डस्य च देहत्वात्. अतः

१. "चन्द्रमा मनसो जातः" (ऋक्.संहि.१०।९०।१३) इति वाक्यात्. (सम्पा.)

पिण्डपालाइव लोकपालाः इति अभिप्रायेण आह लोकपालास्तु इति. मित्रो निर्ऋतिः, अश्विनौ उत्तरतः, दिशो यमस्थानीयाः इति. तत्र पुरन्दरस्य मध्यस्वर्गे स्थितिः उपरिभागद्योतकः. तेषां यथेच्छं स्थितिं वारयितुम् आह दशदिक्षुतु इति. चन्द्रमसो मध्यपाते पुरन्दरो मध्यस्थः. एवं सति तत्त्वाधिक्यं न भवति. एते सर्वे सहोत्पन्नाः सहैव तिरोहिता भवन्तीति प्रतिमन्वन्तरं तदंशाः तन्नामानो भिन्नाः इति आह तादृशैः अपरैः इति॥१२९-१३०॥

[टि] अतः पिण्डपालाइव इति, पिण्डः = शरीरं, तत्पालकाः यथा इन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन तथा. अतएव लोकपालकत्वेन ब्रह्माण्डदेहपालकाः इति अर्थः. ''वैकारिकाद् मनो जज्ञे देवाः वैकारिकाः च ये, दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः'' (भाग.पुरा.२।५।३०) इति द्वितीयस्कन्धे इन्द्रियाधिष्ठातृषु 'मित्र'शब्दस्य सूर्यवाचकत्व-भ्रमनिरासाय आहुः मित्रो निर्ऋतिः इति. अश्विनौ इत्यारभ्य पुरन्दरो मध्यस्थः इत्यन्तो ग्रन्थः अतिदुरूहः (चिन्त्यः)॥१२९-१३०॥

[का] कैलासादिविभेदश्च तथा वैकुण्ठवासिनः॥
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च॥
एवम् एकप्रकारेण गुणतस्त्रिविधं मतम्॥१३३॥

[प्र] एवं रुद्रादीनामपि कैलासादिविभेदाः वक्तव्याः, वैकुण्ठास्यापि भेदाः, तान् गणयति कृत्रिमम् इति. ''वैकुण्ठः कल्पितो येन'' (भाग.पुरा.८।५।५) इति वाक्यात्. तद् आधिदैविकस्थानीयम्. चकारात् तद् अकृत्रिममपि, भगवदिच्छामात्रेण प्राकट्यात्. ध्रुवस्थानं ज्योतिश्चक्रस्थम्. अथवा ध्रुवं = निश्चलं स्थानं लोकत्रयोपरि महर्लोकाद् अर्वाक्. प्रकारान्तरं वक्तुं पूर्वोक्तम् उपसंहरति एवम् इति॥१३३॥

[टि] रुद्रादीनामपि स्थानैः सह रूपभेदाः वक्तव्याः इति आहुः एवम् इति ॥१३३॥

[प्र] एवं प्रकारत्रयं निरूप्य सर्वेषां निरूपयितुं, भगवत्त्वे जन्मादिभावाः न युक्ताः इति ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च वैयर्थ्यम् आशंक्य त्रैविध्यसमर्थनार्थं, ज्ञान-क्रिययोः उत्पत्तिं समर्थयते :

[का] भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः ॥
व्यवहारे तथा ज्ञानक्रिययोरपि निश्चयः ॥१३५॥

[प्र] भगवद्व्यतिरिक्तानाम् इति, भगवतोऽपि आविर्भाव-तिरोभावौ प्रायेण वैदिकानां सम्मतौ, तदतिरिक्ते सन्देहो अतः तत्र विचारः कर्तव्यः इति. घटादिनिर्णयेएव ज्ञान-क्रिययोरपि निर्णयो भविष्यतीति न इन्द्रियाणां वैयर्थ्यम् इति अर्थः ॥१३५॥

[टि] त्रैविध्यसमर्थनार्थम् इति. ज्ञान-क्रिययोः उत्पत्त्यभावे गुणाधीन-तारतम्याभावेन ज्ञान-क्रियोत्कर्षाधीना-ऽन्यपदार्थोत्कर्षाभावाद् निरूपितं प्रकारत्रयम् असङ्गतं स्यादिति त्रैविध्यसाधनार्थं ज्ञान-क्रिययोः उत्पत्तिं साधयति इति अर्थः ॥१३५॥

[प्र] ननु ज्ञाने प्रतिबिम्बएव भवतु, स्वरूपस्य नित्यत्वाद् इति आशङ्क्य तथा पक्षपातः त्रिष्वपि कर्तव्यः इति वक्तुं ज्ञाने प्रतिबिम्बपक्षं दूषयति :

[का] न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचन ॥
अविद्यायास्तथा बुद्धेः न शुद्धत्वं कदाचन ॥१३६॥

[प्र] न प्रतिस्फुरणम् इति, तत्र हेतुः रूपरहितस्य इति. कालान्तरे

देशान्तरेऽपि तथात्वं वारयति कदाचन इति. दोषान्तरम् आह **अविद्यायाः** इति, अविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवत्वं, बुद्धौ प्रतिबिम्बे व्यावहारिकज्ञानत्वम् इति. स्याद् एवं, यदि अविद्या बुद्धिः वा शुद्धा स्यात्, तथा सति सदंशानाम् इतिभावात्[१] सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्, सर्वेषां प्रतिबिम्बाभावे हेत्वभावात्. इन्द्रियाणाञ्च वैयर्थ्यम्. अतः इदं ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव, चिदादिभिः सह बुद्धेः कोशादिषु ऐकार्थ्यात् ॥१३६॥

[टि] **तथा पक्षपातः** इति. यथा त्वया उच्यते "चिद्रूपस्य ब्रह्मणो नित्यत्वाद् बुद्धितत्त्वे तत्प्रतिबिम्बएव ज्ञानम्" तथा ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयेष्वपि प्रतिबिम्बरूपत्वं वक्तव्यम् इति अर्थः. **अविद्यायाम्** इति, ब्रह्मणो अविद्यायां प्रतिबिम्बे जीवव्यवहारो, बुद्धितत्त्वे प्रतिबिम्बे ज्ञानव्यवहारः इति अर्थः. **तथा सति** इति, अविद्या बुद्धिः वा यदि शुद्धा स्यात् तदा घटादीनां प्रतिबिम्बभावात् सर्वेषां सर्वज्ञता स्याद् इति अर्थः. **अतः इदम्** इति. "**बुद्धिः मनीषा**" इत्यारभ्य "**चित्-सम्वित्-प्रतिपज्-ज्ञप्ति-चेतनाः**" (अम.को.१।५।१) इत्यन्ते कोशे बुद्धेः चिदादिपर्यायत्वं, न 'आत्म'शब्दपर्यायत्वम् इति चिद्रूपात्मनः **कार्यरूपं ज्ञानं भिन्नमेव** इति अर्थः ॥१३६॥

[का] बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मता ॥
अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः ॥१३७॥

[प्र] **बुद्धिवृत्तिः जन्यते** इत्यत्र **वृत्तिः** बुद्धेः पदार्थान्तरं न भवति किन्तु **स्थितिरेव (गुणतः!)** सत्त्वादिभिः. अतएव भ्रमादीनामपि सङ्ग्रहः. यदि इन्द्रियैः जन्या न स्याद् घटे क्वापि तदा भ्रमो न स्याद्, जीवस्य च गुणतो अवस्थात्रयं भिन्नहेतुकं स्यात्. अतो गुणवशाद् यथा बुद्धिः भवति तथैव मन्तव्यम् इति. अतएव जीवस्यापि न स्वातन्त्र्यं, गुणाधीनत्वात् ॥१३७॥

१.एवम्भावाद् इति अर्थः. (सम्पा.)

[टि] अतएव इति, यतो बुद्धिः जन्या अतो दोषसहकृतेन्द्रियजन्यत्वाद् भ्रमो, विशेषादर्शन-विरुद्धनानाकोटिस्मरण-सहकृतेन्द्रियजन्यत्वात् संशयः च उपपद्यते इति अर्थः. **जीवस्य** इति. तत्तद्गुणजन्य-बुद्धिमत्त्वेन जीवे सात्त्विकत्वादिकम् उच्यते, तद् न स्याद् इति भावः ॥१३७॥

[प्र] एवं ज्ञानस्य उत्पत्तिं निरूप्य सुख-दुःखयोरपि ज्ञानफलयोः उत्पत्तिं निरूपयति :

[का] सुखदुःखसमुत्पत्तिर्नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक् ॥
अन्धन्तमःप्रवेशाच्च ह्रीच्छादीनां च सर्वशः ॥१३८॥

[प्र] सुखदुःखसमुत्पत्तिः इति, नित्या, न विवादास्पदम्, इति अर्थः. ब्रह्मसुखमपि तथा भविष्यति इति आशङ्क्य आह **ब्रह्मसुखाद्** इति. दुःखार्थम् आह **अन्धन्तमःप्रवेशाद्** इति. अन्धन्तमो नित्यम् असुराणां फलम्. तथा **ह्रीच्छादीनामपि** भगवद्धर्मव्यतिरिक्तानाम् उद्भवएव ॥१३८॥

[टि] **ज्ञानफलयोः** इति. सुख-दुःखयोः ज्ञानफलत्वं विहित-निषिद्धकृतिद्वारा ॥१३८॥

[प्र] अनुक्तसमुच्चयार्थम् आह :

[का] मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्सङ्गवर्जिताः ॥
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव नान्यथा ॥१३९॥

[प्र] मनोधर्माः इति, भगवद्धर्माः मनोधर्माश्च तुल्याः भवन्ति, नतु एकविधाः, नित्याः भगवद्रूपाः भगवद्धर्माः, अनित्याः कार्यरूपाः मनोधर्माः इति. अनेन ''सो अकामयत'' (तैत्ति.उप.३।२।६) इत्यत्र दोषः परिहृतः ॥१३९॥

[टि] अनेन इति, भगवद्धर्माणां नित्यत्वनिरूपणेन नित्यायाएव इच्छायाः प्राकट्याद् जायमानेच्छावत्त्वेन तद् ब्रह्म सगुणं स्यादिति दोषः परिहृतः इति अर्थः ॥१३९॥

[प्र] एवं सर्वेषां तुल्यताम् उपपाद्य घटादीनामपि ब्रह्मत्वाद् नित्यता इति वक्तुं युक्तिम् आह :

[का] आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः ॥
भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदा ॥१४०॥

[प्र] आविर्भाव-तिरोभावौ इति, आविः = प्रकटं भावयति इति आविर्भावः, आविर्भवनं वा धर्मः ; तथा तिरोभवनम् — एते भगवतः शक्ती, अनन्तशक्तित्वाद् भगवतः. अन्यथा बीजादिपरिणामानां देहादिभावे को हेतुः स्यात्? तस्माद् भगवच्छक्तिरेव कारणत्वेन वक्तव्या. धर्माद् धर्मिसिद्धौ कारणं भवति. अन्यथा उत्पत्तिपक्षेऽपि दोषः तुल्यः.

[अत्र इदं प्रतिभाति : द्वितीयपक्षे आविर्भवनरूपाद् धर्मादेव घटादेः आविर्भावरूप-धर्मसिद्धौ सत्याम् आविर्भावरूप-धर्मएव कारणम्. ननु अस्य धर्मरूपत्वाद् धर्म्याश्रयो वाच्यः, तथा सति घटादेरपि पूर्वसत्त्वाद् आविर्भाव-तिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात् सदैव आविर्भाव-तिरोभावापत्तेः न एवं पक्षः साधीयान्. तत्र आह अन्यथा इति. इच्छाशक्तिसहकारेण अनुपपत्तिपरिहारः स्वमते. उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वाद् अद्वैतश्रुतिः अत्र साधिका. (इति श्रीप्रभुचरणानां प्रक्षेपः)].

उत्पत्तिः नाम कश्चन धर्मः. सः कस्मिन् धर्मिणि भवेद्? इति उत्पत्तिस्वीकारे अनवस्था च स्यात्. कालसम्बन्धोऽपि धर्मः. अतो यः कश्चिद् निरुच्यतां, सो अवश्यं धर्मएव भवतीति धर्मी

पूर्वसिद्धो वक्तव्यः. ''घटो भवति'' इति कर्तरि प्रयोगश्च अनुपपन्नः स्यात्. ''भू=सत्तायाम्'' (पाणि.सू.धा.पा.भ्वादि.१।१) इति धात्वर्थश्च असङ्गतः स्यात्. ''अनुत्पन्नो घटो''—''नष्टो घटः'' इति व्यवहारश्च असङ्गतः स्यात्. अतो धर्मी सदातनो वक्तव्यः. स भगवानेव भवति, न अन्यइति. अद्वैतश्रुतेः सर्वश्रुतेश्च धर्मिणो भगवत्त्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. तदनु धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्त्वं सेत्स्यति. अतो भ्रान्तानां बालानां विचारसामर्थ्याभावात् शब्दार्थौ उल्लङ्घ्य उत्पत्त्यादिनिरूपणं न दूषयामः.

मुरवैरिणः इति, मुरो दैत्यः पापात्मकः, तन्निवर्तनार्थम् आविर्भावो भगवतः. तथा सर्वत्र सर्ववस्तुस्वरूपेण तदनुद्गमे प्राप्तदोषपरिहारार्थं तदुद्गमः इति सूचितम्. दुःखन्तु निर्वृत्यभावइति तिरोभावफलत्वाद् न व्यभिचारः. एवं सति सर्वसाधनवैयर्थ्यम् आशङ्क्य शक्तिद्वयस्य तदधीनत्वं वक्तुम् आदितः आरभ्य निरूपयति. **भक्त्यातु आद्यः** इति, भक्त्यैव भगवान् आविर्भवति. तच्च यस्य भक्त्या आविर्भावः सा भक्तिः यादृशी देशकालयुक्ता तत्तिरोभावे तिरोभवति, नतु अवतारेष्वपि अन्यः प्रकारः इति अर्थः ॥१४०॥

[टि] **अन्यथा** इति. कारणे लीनस्य पूर्वं सतो यदि न आविर्भावः तदा वीर्य-धान्य-मृदादीनां देह-वृक्ष-घटादिरूपत्वे हेतोः अभावाद् इति भावः. **धर्माद् धर्मिसिद्धौ** इति. अत्र इदं प्रतिभातिः. द्वितीयपक्षे आविर्भवनरूपाद् धर्मादेव घटादेः आविर्भावरूप-धर्मसिद्धौ सत्याम् आविर्भावरूप-धर्मएव कारणम्. ननु अस्य धर्मरूपत्वाद् धर्म्याश्रयो वाच्यः, तथा सति घटादेरपि पूर्वं सत्त्वाद् आविर्भाव-तिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात् सदैव आविर्भाव-तिरोभावापत्तेः न एवं पक्षः साधीयान्. तत्र आह **अन्यथा** इति, इच्छाशक्तिसहकारेण अनुपपत्तिपरिहारः स्वमते. उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वाद् अद्वैतश्रुतिः

अत्र साधिका. **स कस्मिन्** इत्यारभ्य **वक्तव्यः** इत्यन्ते. उत्पत्तिधर्मस्य नित्यत्वे अनित्यत्वे वा घटादेः अभावात् कस्मिन् धर्मिणि स भवेत्? **उत्पत्तिस्वीकारे** तत्र अनुत्पत्तौ उत्पत्तिस्वीकारे अनवस्था स्यात्. आद्यक्षणसम्बन्धस्य उत्पत्तित्वेऽपि तस्य धर्मत्वाद् आधारकारकत्वेन धर्मी पूर्वं सिद्धो वक्तव्यः इति अर्थः. **घटः** इति, भवनक्रियां प्रति घटस्य कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् कारणत्वेन पूर्वसत्त्वं वाच्यम् इति अर्थः. **भू सत्तायाम्** इति, उत्पत्तौ उच्यमानायां धातुपाठोक्तसत्तारूपाऽर्थत्याग-प्रसङ्गाद् 'घटो भवति' इत्यत्र धातुपाठानुरोधाद् विद्यमानत्वमेव वाच्यं, न उत्पत्तिः इति अर्थः. **अनुत्पन्नः** इति, घटाभावे अनुत्पन्नत्वं किम्वृत्तितया ग्राह्यम् इति अर्थः. **अद्वैतश्रुतेः** इति "**एकमेव अद्वयं ब्रह्म**" (अध्यात्मोप.६३) इत्यादेः. **सर्वश्रुतेः** "**पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्**" (ऋक्.संहि.१०।९०।२), "**स वै सर्वम् इदं जगत्**" (महाना.उप.२३।१), "**स भूतं स च भव्यम्**" (महाना.उप.२४।१), "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादेः. **तदनु** इति, धर्मिणः इव रूपादीनामपि "पाकेन रक्तो भविष्यति, रसो भावि" इत्यादि प्रत्यक्षात् पूर्वोक्तश्रुतेः च नित्यत्वं भगवत्त्वं च सेत्स्यति इति अर्थः. **शब्दार्थौ** इति. शब्दो वेदः, अर्थो व्याकरणादि-निरूप्यः. **सर्ववस्तुस्वरूपेण** इति. सर्वत्र भगवदस्फूर्तौ प्रतिबन्धपरिहारार्थं भक्त्या भगवान् सर्वत्र स्फुरति इति अर्थः. **दुःखन्तु** इति. सच्चिदानन्दरूप-ब्रह्मात्मके जगति दुःखपदार्थाभावाद् भगवत्तिरोभावात् सुखतिरोधाने भारापगमे दुःखाभावे सुखाभिमानवत् सुखाभावे एव दुःखव्यवहारः इति प्रपञ्चत्वस्य न सच्चिदानन्दात्मकत्व-व्यभिचारः इति अर्थः. **एवम्** इति. आविर्भाव-तिरोभावपक्षे प्रसक्तसाधनेन दोषपरिहाराय आविर्भाव-तिरोभावयोः भगवदधीनत्वं वक्तुं भगवतः आरभ्य सर्वेषाम् आविर्भाव-तिरोभावौ निरूपयन्ति इति अर्थः ॥१४०॥

[प्र] तत्र निदर्शनम् आह :

[का] मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।।
मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा।।
तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः ।।१४२।।

[प्र] मृदादि इति, मृदि घटादयो यावन्तो भविष्यन्ति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तन्ते इति अङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा ततः प्रादुर्भावो न उपपद्येत. ततः सामर्थ्यं भगवत्त्वेन सङ्गच्छते. अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव ; घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति. तदपि भगवद्रूपं प्रपञ्चस्थानीयम्. ततः किम् अतः आह मूलेच्छातः इति. पुरुषोत्तमेच्छातः तथा तयैव आनुपूर्व्या कार्यरूपहरेरेव प्रादुर्भावः इति अर्थः. यथा नटः सहस्राणि रूपाणि गृह्णाति क्रमशः तथा अत्रापि कटक-मुकुटादयः.

एवम् आविर्भावं निरूप्य तिरोभावं निरूपयति तिरोभावः इति. ''तिरोभविष्यामि'' इति या इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति, परं तत्र रूपान्ताराविर्भावावश्यकत्वम्. इयानेव भगवतः सकाशात् प्रपञ्चे विशेषः : तत्र तिरोभावेन रूपान्ताराविर्भावः. दाह-शोषादावपि रूपान्तरमिति मतम्. अथवा सर्वथा भगवता तुल्यता, वक्ष्यति च अग्रे ''अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्'' (त.दी.नि.२।१८२) इति।।१४२।।

[टि] कारणत्वेन इति, कारणरूपेण इति अर्थः. तत्र इति, भगवति इति अर्थः ।।१४२।।

[प्र] एवं कार्यरूपं निरूप्य वेदविरोधपरिहारार्थम् आह :

[का] मनश्च अन्नमयं वेदे तद् अस्माकम् अथापि वा।।
पोषितत्वात् तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते।।१४५।।

[प्र] मनश्च अन्नमयम् इति, ''अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग्'' (छान्दो.उप.६।६।५) इति श्रुतेः. अत्रच अहङ्कारकार्यत्वेन मनो निरूपितम्. तत्र सिद्धान्तद्वयं वेदनिरूपणप्रकाराद् अवगम्यते, तद् आह तद् अस्माकम् इति. अथवा पञ्चदश उपवासाः कारिताःइति अन्नेन पोषणमेव अभिप्रेतम्॥१४५॥

[टि] अथवा इति, एकादश इन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि ; तत्र आकाशं विहाय वाय्वन्ताः पञ्चदश एते उप = समीपे वासो येषाम् इति उपवासाः सन्निहिताः सम्भूय स्वकार्यक्षमाः अन्नेन कारिताः इति अर्थः॥१४५॥

[प्र] एवं प्रमेयं निरूप्य प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थं लौकिकप्रत्यक्षादेः अप्रमाणत्वम् आह :

[का] इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगाद् नचान्यथा॥
सत्त्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तुनः स्फुरेत्॥
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते॥१४७॥

[प्र] इन्द्रियाणाम् इति, सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्. सत्त्वप्रवृद्धौ अन्तःकरणं प्रमितिं जनयति, ''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'' (भग.गीता.१४।१७) इति. अन्यथा सत्त्वलये सैव सामग्री भ्रमं जनयति. अतो अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सत्त्वमेव प्रमाणम्. तत्कार्यमेव प्रामाणिकम्. रजस्तु व्यावहारिकं, तमस्तु अप्रमाणमेव. अतो अन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्य-स्फुरणम्. अतो लोके चक्षुषः कदाचित् प्रामाण्यं कदाचिद् न इति व्यवस्थाभावाद् लोकेन[१] प्रमाणगणना

१.इत्थंभूतलक्षणे (पाणि.सू.२।३।२१) इति उपपदतृतीयेन करणरूपा.(सम्पा.)

नैयायिकादिभिरिव न अस्माभिः कृता ॥१४७॥

[टि] सत्त्वसहिता इत्यारभ्य कृता इत्यन्ते. "सर्वद्वारेषु देहे अस्मिन् प्रकाशः उपजायते, ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वम् इति उत" (भग.गीता.१४।११), "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च, प्रमाद-मोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च" (भग.गीता.१४।२७), "यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं च अकार्यमेव च, अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी" (भग.गीता.१८।३१), "अधर्मं धर्मम् इति या मन्यते तमसावृता, सर्वार्थान् विपरीतान् च बुद्धिः सा पार्थ तामसी" (भग.गीता.१८।३२), "सत्त्वं न चेद् धातः इदं निजं भवेद् विज्ञानम् अज्ञानभिदा अपमार्जनं, गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः" (भाग.पुरा.१०।२।३५) इत्यादिवाक्यैः सत्त्वगुणस्य प्रमाजनकत्वं, रजोगुणस्य प्रकारांशेऽपि प्रमाजनकत्वं, क्वचित् भ्रमजनकत्वम्[१]. तमसस्तु भ्रममात्रजनकत्वमिति सत्त्वगुणतारतम्येनैव प्रमातारतम्याद् न अस्मदुक्ते अर्थे सत्त्वरहित-प्रत्यक्षादिभिः बाधः. अतएव केवलाः प्रत्यक्षादयो लोकानुसारेण. न अत्र प्रमाणेषु गणिताः इति अर्थः ॥१४७॥

[प्र] वेदस्यापि प्रमेयत्वं वक्तुं प्रपञ्चान्तरम् आह :

[का] अपञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम् ॥
सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्म प्रकाशते ॥१५०॥

१.ज्ञाने हि अंशद्वयं भवति : विषयता प्रकारता च. तत्र राजस-गुणशबलितैरिन्द्रियैः क्वचिद् विषयतांशे प्रमाजनकत्वं, प्रकारतांशे अप्रमाजनकत्वेन संशय-भ्रमजनकत्वं भवति. क्वचित्तु विषयतांशे अप्रमाजनकत्वेऽपि प्रकारतांशे व्यावहारिकप्रमाजनकत्वम् अपि. यथा नश्वरत्वेन गृह्यमाणे वस्तुनि नश्वरत्वप्रमावत्. वस्तुतस्तु आविर्भाव-तिरोभावप्रक्रियाभ्युपगमाद् जन्मनाशौ तु विकल्पवृत्तिगोचरौ. (सम्पा.)

[प्र] अपञ्चीकृतरूपं हि इति, भगवान् पञ्चात्मको रूपप्रपञ्च-कर्ता, ''अधिष्ठानं तथा कर्ता'' (भग.गीता.१८।३४) इति वाक्यात्, कालः कर्म स्वभावश्च माया भगवांश्च इति. तथा नामप्रपञ्चे न अपेक्ष्यते किन्तु सूत्रमात्रम् अत्र कारणम्. ''स एषः जीवः'' (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति आसन्यरूपो भगवान् नामप्रपञ्चे हेतुः इति अर्थः. तस्य सृष्टिप्रकारम् आह सुषुम्णामार्गतो इति. तस्य व्यक्तस्यापि ब्रह्मत्वम् इति आह शब्दब्रह्म प्रकाशते इति ॥१५०॥

[टि] वेदस्य इति, वेदस्य भगवद्रूपत्वं वक्तुं नामप्रपञ्चम् आह इति अर्थः. किन्तु इति. सूत्रं महत्तत्त्वं ; तत्कार्यपरम्परा प्राणादिरपि ईश्वरभिन्नत्वाद् जीवएव इति अर्थः. सुषुम्णा नाडीविशेषः ॥१५०॥

[प्र] तस्य अंशानामपि पूर्णता इति आह :

[का] पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः ॥
सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः ॥१५१॥

[प्र] पञ्चाशद्वर्णरूपश्च इति, षोडश स्वराः, स्पर्शाः पञ्चविंशतिः, यादयः अष्टौ, क्षकारो अन्तिमः. सन्ध्यक्षरत्वेऽपि पृथगुपादानं भिन्नश्रुत्या. ज्ञाक्षरस्यापि उपलक्षकः अत्र अवान्तरभेदाः बहवः सन्ति — क्वचित् चतुःषष्टिः वर्णाः, क्वचित् त्रिषष्टिः, क्वचिद् एकपञ्चाशद्, द्विपञ्चाशद् इति. तथापि मुख्यो मातृकाविद्यायां सिद्धः पक्षः परिगृहीतः. वर्णाश्च नित्याः = व्यापकाः सर्वेष्वपि देशेषु निरन्तराः = अनभिव्यक्तिस्थानेष्वपि विद्यमानाः भगवानिव सर्वत्र अन्तर्युक्ताः अनन्तरूपाश्च. तेच स्वभावतएव बहुरूपाः. रूपतो भगवत्त्वम् उक्तम् ॥१५१॥

[टि] अत्र इति. '' त्रिषष्टिः चतुःषष्टिः वा वर्णाः शम्भुमते मताः ''

(पाणि.शिक्षा ३) इत्यारभ्य शिक्षायाम् उक्तत्वाद् इति अर्थः ॥१५१॥

[प्र] भगवत्त्वप्रतिपादनाय विशेषम् आह :

[का] **वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम् ॥**
द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः ॥१५२॥

[प्र] **वर्णः** इति, यथा सच्चिदानन्दभेदाः तथा वर्ण-पद-वाक्यभेदाः. तत्र वर्णाः नित्याः, पदानि च. वाक्यं लौकिकम् अनित्यं, वैदिकन्तु नित्यम् इति विशेषः. तत्र हेतुः **स्वयं हरिः** इति ॥१५२॥

[टि] **भगवत्त्व...** इति, रूपविशेषस्य इति शेषः. **वाक्यम्** इति, "गेहे घटः" इत्यत्र गेहज्ञानानन्तरज्ञान-विषयत्वं घटस्य , गेहोच्चारणानन्तरोच्चारणविषयत्वं वा घटस्य आनुपूर्वी इति लौकिकज्ञानोच्चारणयोः अनित्यत्वेन तद्घटितानुपूर्वीविशिष्टं **वाक्यम् अनित्यम्**. वेदेतु ईश्वरज्ञानघटितानुपूर्वीविशिष्टम् इति **वैदिकं वाक्यं नित्यम्**. अतएव "**स्वयम्भूः एषः भगवान् वेदो गीतः त्वया पुरा, शिवाद्याः ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारो अस्य न कारकाः**" (देवीपुरा.१०७।१), "**अनादिनिधना नित्या वाग् उत्सृष्टा**" (महाभा.१२।२३२।२५), "**महर्षयः लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयम्भुवाः**" (महाभा. १२।२१०।१९) इत्यादिवाक्यैः नित्यत्वं वेदस्य श्रूयते इति भावः ॥१५२॥

[प्र] **अत्र केषाञ्चिन्मते पदान्येव अर्थवन्ति, न वर्णाः न वाक्यानि. वाक्यान्यपि इति केचित्. अस्मन्मतेतु वर्णाऽपि अर्थवन्तः, "वेदाक्षराणि यावन्ति" (ना.उ.ता.उप.३) इति वाक्यात्. अतः प्रथमम् अक्षर-पदयोः अर्थम् आह :**

[का] **वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः ।।**
सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु ।।
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषाऽऽख्यापकानि वै ।।१५३।।

[प्र] **वर्णाः पदानि** इति, सर्वेषां वर्णानां सर्वएव वाच्यः, तथा पदानाम्. तत्र हेतुः **भगवद्वाचकत्वतः** इति. भगवान् सर्वमिति भगवान् वाच्यइति सर्वे वर्णाः पदानि च सर्ववाचकानि इति वस्तुस्थितिः. तथापि व्यवहारार्थं शक्तिसङ्कोचः कृतः. ''देश-कालविभेदेन अस्माभिः उच्चार्यमाणो अयं शब्दः इममेव अर्थं बोधयतु, नतु अन्यम्'' इति सङ्कोचः. अतो **लोके विशेषाऽऽख्यापकानि** जातानि. तत्र 'सूपः'-'कूपो'-'यूपः' इत्यत्र वर्णानां तुल्यत्वेऽपि न अर्थप्रतिपादकत्वं, व्यवहारसिद्ध्यै तथा अङ्गीकारात्. अन्यथा 'अच्'प्रत्ययादेः अर्थो न स्याद्, धातोश्च. नच तयोः पदसञ्ज्ञा, विशिष्टयोरेव तथात्वात्. अतो व्यवहारस्य नियामकत्वाद् न अतिप्रसङ्गः ।।१५३।।

[टि] **तत्र** इति, त्रिषु शब्देषु वर्णानां तुल्यसङ्ख्यावत्त्वेऽपि उकारयोः वा तुल्यत्वेऽपि न एकार्थप्रतिपादकत्वम् इति अर्थः. वर्णाअपि अर्थवन्तः इत्यत्र विपक्षे बाधकम् आहुः **अन्यथा** इति, वर्णस्य अवाचकत्वे प्रत्ययस्य एकाक्षरस्य धातोः च अर्थो न स्याद् इति अर्थः. **नच** इति, प्रत्यय-धात्वोः 'पद'सञ्ज्ञा नास्तीति पदस्यैव वाचकत्वम् इति भावः. **विशिष्टयोः** इति, विभक्तिसहितयोरेव तयोः पदत्वसम्भवाद् इति अर्थः. **अतिप्रसङ्गः** इति, सर्ववाचकत्वलक्षणो अतिप्रसङ्गः इति अर्थः ।।१५३।।

[प्र] **तत्रापि व्यवस्थाम् आह :**

[का] **तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता ।।**

देशे-देशे तथोच्चारो भाषाभेदैरनेकधा ॥१५४॥

[प्र] तत्र व्याकरणादीनाम् इति. न केवलं कोशादिरेव नियामकः किन्तु उच्चारो भाषाभेदश्च, अतः सर्वम् उपपद्यते ॥१५४॥

[टि] व्यवस्थाम् इति, वाचकत्वे वक्ष्यमाणानां नियामकत्वं – न यस्य कस्यचिद् इच्छायाः – एवंरूपाम् इति अर्थः ॥१५४॥

[का] पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात् स्मारकं परम् ॥
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम् ॥१५६॥

[प्र] तथा वाक्येऽपि पदं न वाचकम्. तर्हि सङ्केताग्रहेऽपि वाक्यार्थज्ञानं स्याद्, गौरवं च स्याद् इति आशङ्क्य आह **सादृश्यात् स्मारकं परम्** इति. वाक्यावयवभूतस्य पदस्य स्वतन्त्रपदतुल्यत्वात् पदार्थस्मारकत्वम्. अन्यथा स्वार्थं प्रतिपाद्य कृतार्थत्वे वाक्यार्थो न तैः जन्येत, आकाङ्क्षादेः वाक्यशेषत्वात्. प्रकृति-प्रत्ययोरपि न एकार्थवाचकत्वं स्यात्. पदार्थकरणपक्षेऽपि पूर्वपदानां निवृत्तत्वात् पुनः उपस्थानं केन वा स्यात्? अविद्यमानानां वा कथं बोधकत्वम्? वाक्यार्थ-समाख्याविरोधश्च. अतो वाक्यमेव वाचकम् इति आह **विशिष्टम् इति, स्वावयवैः स्वावयवार्थम् इति चकारार्थः** ॥१५६॥

[टि] **गौरवं च** इति, पदस्य वाचकत्वे सङ्केतग्रहस्वीकारे गौरवं स्याद् इति अर्थः. **अन्यथा** इति, यदि पदस्य स्मारकत्वेन न उपयोगः किन्तु अनुभावकत्वं तदा स्वार्थं बोधयित्वा पदानां निराकाङ्क्षत्वे वाक्यार्थबोधो न तैः जन्येत. तथा सति वाक्यार्थबोधोपयुक्तानाम् आकाङ्क्षा-योग्यता-ऽऽसत्तीनाम् अभावे प्रकृतेः प्रत्ययार्थान्वित-स्वार्थबोधकत्वं, प्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थबोधकत्वं च न स्याद् इति अर्थः. **पदार्थकरणपक्षेऽपि** इत्यारभ्य आह इत्यन्ते. पदज्ञानं करणं,

पदार्थस्मृतिः व्यापारो, वाक्यार्थबोधः फलम् इति मुख्यः पक्षः. पदकरणत्वपक्षे अन्त्यपदार्थानुभवकाले पूर्वपदानाम् अभावात् तदर्थोपस्थित्यभावे विशिष्टार्थान्वयबोधो न स्यात्. अर्थकरणत्वपक्षे अविद्यमानानाम् अकारणत्वाद् अतीतानागतस्थले अन्वयबोधो न स्याद्, "अयं वाक्यार्थः" इति व्यवहारोऽपि न स्यात्. अतः पदानां स्मारकत्वं ; वाक्यमेव अनुभावकम् इति अर्थः ॥१५६॥

[प्र] वाक्यानाम् आनन्त्यात् सङ्केतग्रहो दुर्लभः इति आशङ्क्य आह :

[का] पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके ॥
पटवद् वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते ॥१५७॥

[प्र] पदान्तरप्रवेशेन इति, "घटम् आनय" इति वाक्याद् "घटं शीघ्रम् आनय" इति भिन्नम् —एवम् आनन्त्येऽपि न दोषः. तत्र दृष्टान्तः पटवद् इति. द्वितन्तुकपटात् त्रितन्तुको अन्यः, तथा उत्तरत्रापि, आरभ्यारम्भकवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा अपूर्वत्वाद् वाक्यार्थस्य पूर्वसंसर्गाद् उत्तरस्य भिन्नत्वम् ॥१५७॥

[टि] **एवम्** इति, वाक्ये सङ्केतग्रहप्रयोजनाभावात् पदशक्तिग्रहेणैव उपपत्तेः इति भावः. **आरभ्यारम्भकवादस्य** इति, पञ्चतन्तवः स्वसमवेतं पञ्चतन्तुकं पटं जनयित्वा अन्यान् तन्तून् आसाद्य अष्टतन्तुकं पटं स्वसमवेतं जनयन्ति इति आरम्भकवादः. स न अङ्गीक्रियते. पूर्वपटनाशे सति पटान्तरोत्पत्तिः अङ्गीक्रियते. मूर्तानां समानदेशताविरोधात् प्रथमतन्त्वपकर्षणे समवायिकारण-नाशेन सर्वपटनाशात् पटप्रतीतिः न स्याद् इति भावः ॥१५७॥

[का] अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च ॥

त्रयोपि वैदिकाः भिन्नाः नानाधर्मयुतास्तथा ॥१५९॥

[प्र] तथा अवान्तरवाक्येषु अवान्तरवाक्यार्थरूपधृग्, एवम् उत्तरत्रापि. इदानीं लौकिक-वैदिकयोः वर्णादीनां वैजात्यम् आह **त्रयोऽपि वैदिकाः भिन्नाः** इति. उदात्तादिधर्मयोगाद् लोकव्यवहारवर्णादिभ्यो वैदिका भिन्नाः ॥१५९॥

[टि] **इदानीम्** इति. लौकिक-वैदिकशब्दयोः वर्ण-पद-वाक्यानां वैजात्यम् आह इति अर्थः ॥१५९॥

[प्र] क्वचित् काव्यादौ वैदिकतुल्यता भासते तथापि न वेदत्वम् इति आह :

[का] सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः ॥
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मौ तथा मतेः ॥१६०॥

[प्र] सादृश्येऽपि न वेदत्वम् इति, लोकवेदाधिकरणन्तु कल्पितमेव, जैमिनिना अनुक्तत्वात्, ''लौकिकानां वैदिकानां च'' (पातं.महाभा.१।१।१) इति भाष्यात्, ''मयड्वैतयोः भाषायाम्'' (पाणि.सू.४।३।१४३), ''द्व्यचश्छन्दसि'' (पाणि.सू.४।३।१५०), ''सर्वत्र विभाषा गोः'' (पाणि.सू.६।१।१२२) इत्यादिसूत्रकरणात् च, छन्दसि च लोक-वेदयोः पृथङ्निरूपणात्. अतः सादृश्येऽपि न वेदत्वम्. शूद्रादीनां वेदबुद्ध्या तथा पाठएव दोषः ॥१६०॥

[टि] **लोक...** इति, यएव लौकिकाः तएव वैदिकाः तएव अमीषाम् अर्थाः इत्यादि इति अर्थः. **लौकिकानाम्** इति, ''अथ शब्दानुशासनम्'' (पातं.महाभा. १।१।१) इत्यत्र इति अर्थः. **छन्दसि च** इति. ''साधुभिः भाषितव्यं न अपभ्रंशितवै न म्लेच्छितवै'' (. । ।)

इति श्रुतौ वेद-वेदाङ्गसिद्धाः शब्दाः कर्मसु वाच्याः , न भाषाप्राकृतसिद्धाः इति निरूपणाद् इति अर्थः ॥१६०॥

[प्र] एवं भेदं निरूप्य "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः" (भग.गीता.१५।१५) इति यथाश्रुतसिद्ध्यर्थं सर्वत्र वेदे भगवानेव अर्थः इति आह :

[का] प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः ॥
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च ॥
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात् सर्वत्र वाचकः ॥१६१॥

[प्र] प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये इति, "महावाक्यार्थरूपएव हरिः न अवान्तरवाक्यार्थरूपः" इति निराकरणार्थं पूर्णता निरूप्यते. शाखाभेदेषु इति, शाखाभेदेष्वपि पूर्णता, एवम् उत्तरत्रापि. तदङ्गेषु प्रयाजादिषु, "इषेत्वा" (तैत्ति.संहि.१।१।१) इति मन्त्रमात्रे सिद्धार्थेऽपि. तत्र हेतुः तत्तत्स्वरूपेण इति ॥१६१॥

[टि] मूले **प्रत्येकम्** इति सार्धश्लोके. यस्माद् वाक्याद्यर्थरूपो हरिरेव तत्तत्स्वरूपेण अस्ति तस्माद् वाक्याद्यर्थानां पूर्णता. सर्वत्र हरावेव च वेदो वाचकः इति अर्थः ॥१६१॥

[प्र] कालिदासवाक्यानामपि बहुकालं स्थितिसिद्ध्यर्थम् आह :

[का] सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाशः उपचर्यते ॥
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर्न दूषणमिहाण्वपि ॥१६३॥

[प्र] सर्वप्रतीतिनाशे तु इति, रूपसृष्टौ क्रियातः स्थितिः, नामसृष्टौ ज्ञानेन इति. तत्र हेतुः तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेः इति, बुद्ध्या रचनां

कृत्वा उच्चारयति इति. यथा न्यायमते तदुच्चारितः शब्दः तदैव नष्टः, सादृश्यभ्रमादेव तदीयव्यवहारः इति. तथा सति तदीयत्वाद्यभावात् लोके वेदे च महद् दूषणम्. न तथा अस्मन्मते, नित्यत्वाद्, उत्पन्नानां च बहुकालं स्थितत्वात् च, इति आह न दूषणम् इह अण्वपि इति॥१६३॥

[टि] तथा सति इति, यदि तृतीयक्षणे शब्दस्य नाशो वेदेऽपि तदा तदीयशब्दाऽग्रहणाद् गुरूपदेशः, "तव वचनाद् मम ज्ञानं जातम्" इति व्यवहारः, स्वजन्यशब्दपाठाद् वेदपाठः च न सम्भवेद् इति अर्थः॥१६३॥

[का] अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञानतः स्थितिः॥
विप्रलिप्सादिमूलत्वाद् अप्रामाण्यं च लौकिके॥१६४॥
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित्॥
अतो वेदाद्यसम्वादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन॥१६५॥

[प्र] तदेव स्पष्टयति अद्यापि इति. परं प्रामाण्ये विवादः इति वक्तुं तद्धेतून् आह विप्रलिप्सादि इति. यत्र पुरुषदोषाः सम्भवन्ति तद् अप्रमाणम्. व्यवहारः ततोऽपि भ्रान्तः इति आह अप्रामाण्येऽपि इति. प्रमाणे वेदे अप्रामाण्यम्, अप्रमाणे प्रतारकवाक्ये प्रामाण्यम् इति! एतद्वचनस्य प्रयोजनम् आह अतो वेदाद्यसम्वादी इति ॥१६४-१६५॥

[टि] यत्र इति, विप्रलिप्सा-करणाऽपाटव-भ्रम-प्रमादाः पुरुषदोषाः यत्र मूलं भवन्ति तद् वाक्यम् अप्रमाणम्. नच भ्रान्तप्रतारकवाक्ये व्यभिचारः, तत्र तदभाववति तद्बोधनरूपायाः प्रतारणायाएव अभावाद् ज्ञातस्य अबोधनात् च इति भावः॥१६४-१६५॥

[प्र] ननु एवं सति ''किञ्चिद् वाक्यं युक्तं, किञ्चिद् अयुक्तं, तत्र च आकाङ्क्षादयोः धर्माः'' इति कल्पना कथम् उपपद्यते इति आशङ्क्य आह :

[का] **वाक्यार्थयोग्यावयवैर् वाक्यं सर्वत्र सम्मतम्।।**
आकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिः पदे तस्मादुदीरिता।।१७१।।

[प्र] **वाक्यार्थयोग्यावयवैः** इति, रूपसृष्टाविव नामसृष्टावपि योग्यावयवैरेव पदार्थनिर्माणम्. तावतैव ते धर्माः अङ्गभावं प्राप्नुवन्ति. एषाऽपि कल्पनैव इति अर्थः ।।१७१।।

[टि] **तावतैव** इति, योग्यावयवैः वाक्यनिर्माणेनैव आकाङ्क्षा-योग्यता-ऽऽसत्तयो धर्माः सहकारिणो भवन्ति इति अर्थः ।।१७१।।

[प्र] उपसंहरति :

[का] **अर्थद्वारा पदे धर्माः लोकदृष्ट्यैव कल्पिताः ।।**
तस्माद् वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी।।१७२।।

[प्र] **अर्थद्वारा** इति, **लोकदृष्ट्यैव** नतु परमार्थतः. अनेन आकाङ्क्षाद्यभावेऽपि वाक्यत्वं न विरुद्ध्यते इति उक्तं भवति. ''दश दाडिमानि'' इत्यपि पदार्थनिरूपकत्वात् वाक्यं प्रमाणम्. ''वह्निना सिञ्चति'' इत्यपि उष्णजलेन सिञ्चति इति अर्थो भवति, यथा ''गङ्गायां घोषः''. प्रतारकवाक्यमेव असत्यादियुक्तमपि बाधितार्थत्वाद् अवाक्यम्. **तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी।।१७२।।**

[टि] **लोकदृष्ट्या** इति, अभिधानापर्यवसानम् आकाङ्क्षा,

बाधकप्रमाविरहो योग्यता , अविलम्बेन उच्चारणम् आसत्तिः — इत्यादीनां शास्त्रकारैः स्वज्ञानेन लोकज्ञानसापेक्षत्वेन वा कृतत्वाद् इति अर्थः. **अनेन** इति, पुरुषान्तरे तात्पर्यान्तरेण लक्षणया वा आधारविशेषानिर्देशे च तस्यैव वाक्यस्य प्रमाजनकत्वाद् इति भावः. एतदेव स्फुटीकृतं **दश दाडिमानि** इत्यारभ्य **सर्वतोमुखी** इत्यन्तेन॥१७३॥

[प्र] **उपासनार्थम्** आह :

[का] **पदद्वयं सुप्तिङन्तं ताभ्यां चलति वाक्पतिः ॥**
पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङ्मध्यविभेदतः ॥१७४॥
तत्रासकरवालादि ते भिन्नाः अंशतः परे॥
तदुदाहरणे श्लेषः तत्र योगादिकल्पना॥१७५॥

[प्र] **पदद्वयम्** इति, वाग्रूपः, पतिः भगवान्. अधुना विकारवत्पदानाम् अर्थद्वयं निरूपयितुं भगवति भेदान् आह **पदानि** इति. सुबन्तावयवे तिङन्तत्वं विपरीतत्वं च क्वचित्. तदेव आह **तत्रासकरवालादि** इति, 'तत्र' इति पृथगपि सम्भवति, 'करवाल'शब्दात् 'कर'शब्दः पृथगपि, 'करवाम' इति तिङन्ते सुबन्तपदद्वयम् ; एवं सर्वत्र ऊह्यम्. तत्र पदभेदः शास्त्रार्थः. तादृशप्रयोगे फलम् आह **तदुदाहरणे** इति॥१७४-१७५॥

[टि] **भगवति** इति, वाग्रूपे इति शेषः. **पदानि** इति मूले मध्यमत्वम् = अवयवभूतत्वम्. **तत्रास** इति मूले **परे** तिङन्ते अवयवभूताः सुबन्तशब्दाः **भिन्नाः** इति अर्थः. 'तत्र' इति पदभेदो व्याकरणसाध्यः, प्रयोजनं वा इति अर्थः. **तत्र योगादि** इति मूले. अर्थविशेषबोधे पदे योग-योगरूढि-रूढयः उपयुज्यन्ते इति अर्थः॥१७४-१७५॥

[प्र] **वृत्तीनां भेदकम्** आह :

[का] फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः ।।
[1]प्राकट्य-[2]ईषत्तिरोधान-[3]तिरोधानैर्हरिर्बभौ ।।१७६।।

[प्र] फलार्थम् इति, रूढिलक्षणा न अस्मत्सम्मता. गौणी च वृत्तिः न गुणयोगात् किन्तु उपचारतएव, तादृशधर्मिरूपेण धर्मिणएव उपचाराद्, धर्मस्फुरणन्तु धर्मिज्ञानादेव. एवं त्रैविध्ये हेतुम् आह प्राकट्य... इति ।।१७६।।

[टि] फलार्थम् इति इति, शक्यसम्बन्धेन शैत्यादिलाभार्थम् इति अर्थः. रूढिलक्षणा इति. "घटं करोति" इत्यत्र 'घट'पदं शक्तितुल्यया निरूढलक्षणया कपालं वदति, कृतेः घटविषयत्वाभावाद् — इति न अस्मत्सम्मतं, कृतेः घटानुकूलत्वात्, साङ्ख्यमते कारणे घटसत्त्वेन घटविषयत्वात् च इति भावः. गौणी च इति. अग्नि-माणवकयोः एकधर्मवत्त्वसम्बन्धेन लक्षणयैव उपपत्तौ न भिन्ना वृत्तिः अङ्गीकार्या इति अर्थः. एवं त्रैविध्ये इति. शब्दार्थरूपो हरिः [1]शक्त्या शीघ्रम् उपतिष्ठते, [2]तात्पर्यज्ञानसहकाराद् लक्षणया विलम्बेन, [3]गौण्या तद्धर्म-तात्पर्यज्ञानाभ्यां ततोऽपि विलम्बेन — इति शक्त्यादयः तिस्रो वृत्तयः इति अर्थः ।।१७६।।

[प्र] एवं शब्दगतान् धर्मान् विचार्य तस्य प्रवर्तकत्वम् अस्ति न वा इति विचार्यते :

[का] प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित् ।।
कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्यैष प्रवर्तयेत् ।।१७७।।

[प्र] प्रवर्तकत्वम् इत्यादिना. ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणानन्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्य अवसीयते. तत्र षट् पक्षाः सम्भवन्ति : [1]स्वरूपम्, [2]अभिप्रायज्ञानं, [3]भावना, [4]अभिधा, [5]आज्ञा,

[६]इष्टसाधनताज्ञानम् इति. तान् सर्वान् एकहेलया स्वमतेन दूषयति **कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वं न विध्यर्थस्य** इति. काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधकः. अव्यभिचारस्तु विध्यादीनां नास्ति. ननु दृश्यते ''मम इष्टम्''-''मम एतत् कार्यम्'' इत्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वम् इति आशङ्क्य आह **कार्यतादि...** इति॥१७७॥

[टि] **तत्र षट् पक्षाः** इत्यत्र. **स्वरूपम्** इति, प्रवृत्तिपरवाक्यस्वरूपम् इति अर्थः. **अभिप्रायज्ञानम्** इति, वक्त्रभिप्रायज्ञानम् इति अर्थः. **भावना** इति, कृतिः इति अर्थः. **अभिधा** इति, मीमांसकाभिमत-लिङादिवाच्या शब्दशक्तिः इति अर्थः. **आज्ञा** इति, वेदाधीन-कार्यताज्ञानम् इति अर्थः॥१७७॥

[प्र] कुतः एतद् अतः आह :

[का] **अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किञ्चिदस्ति हि॥**
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया॥१७८॥

[प्र] **अनिष्टम्** इति, इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्यात् यदि अनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत. विषभक्षणे युद्धे द्रु[१]पतने प्रवृत्तिदर्शनात्. तथा पाषण्डमते असाध्येऽपि मोक्षे प्रवृत्तिदर्शनात्. अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तते : वस्तुतस्तु न किञ्चिद् इष्टं न किञ्चित् साध्यम् इति अर्थः॥१७८॥

[टि] **इष्टसाधनताज्ञानस्य** इत्यारभ्य **न किञ्चित् साध्यम्** इत्यन्ते. अनिष्टसाधनताज्ञानेऽपि विषभक्षणादौ निवृत्त्यभावात्, तथा पाषण्डमतेन असाध्येऽपि मोक्षे च निवृत्त्यभावाद् अनिष्टसाधनताज्ञानं कृत्यसाध्यताज्ञानं वा न निवर्तकम्. इष्टसाधनत्व-कृतिसाध्यत्वज्ञानेऽपि भक्ति-धर्मादौ

१.द्रवति ऊर्द्ध्वं गच्छति इति वृक्षः, इति अमरकोशे. (सम्पा.)

प्रवृत्त्यदर्शनाद् वस्तुतो न किञ्चिद् इष्टं साध्यं वा प्रवृत्तिनियामकं ; भगवानेव नियामकः इति अर्थः ॥१७८॥

[प्र] ननु एवं सति अर्थवादादीनां वैयर्थ्यम् इति आशङ्क्य आह :

[का] मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद् भवेत्॥
तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव नान्यथा॥१७९॥
साधनानि स्वरूपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम्॥
न प्रवर्तयितुं शक्तास्तथा चेन्नरको न हि॥१८०॥

[प्र] मिथ्याप्रलोभनम् इति, वेदे कर्मादिषु अविद्यमानं फलरूपं न कोऽपि अङ्गीकरोति येन सार्थकता स्यात् किन्तु यथास्थितमेव आह. अतः सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् न एकवाक्यतासिद्ध्यर्थमपि प्रवर्तकत्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. तर्हि अवचनमेव अस्तु इति आशङ्क्य आह तथैव कर्मविज्ञानम् इति. क्षिप्रकारिणीं देवतां ज्ञात्वैव कर्म कर्तव्यम्. स्तुतिः उत्कर्षाधायक-गुणवर्णनं, तत् कर्माङ्गमेव, प्रकरणात्. ''वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत्, तस्यै रसः परापतत्, सः पृथिवीं प्राविशत्, सः खदिरो अभवद्'' (तैत्ति.संहि.३।५।७।१) इति खदिरस्वरूपं तादृशमेव ज्ञात्वा कर्म कर्तव्यम् ; एवं सर्वत्र. अतो वेदे सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् न प्रवर्तकत्वं किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं च आह. तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तद् ओम् इति ब्रूमः. फलमुखप्रवृत्तिश्चेत् सर्वानेव प्रवर्तयेत्, ततश्च नरकादिकं न भवेत्. अतो दृष्टादृष्टारिष्टदर्शनाद् न वेदः प्रवर्तकः॥१७९-१८०॥

[टि] वेदे इत्यारभ्य अङ्गीकर्तव्यम् इत्यन्ते. वेदे अविद्यमानं फलस्वरूपं कोऽपि न अङ्गीकरोति. करोति चेत्, तदा तव मते प्रवर्तकत्वेन अर्थवादानां सार्थकतापि स्यात्. किन्तु द्रव्य-देवतादीनां

स्वरूपम् आह अर्थवादश्रुतिः फलार्थं तथा ज्ञानार्थम्. अन्यथा अर्थवादानां स्वार्थाऽप्रमापणे विधिसाहाय्यकरणमपि न स्याद्, अप्रामाण्यं च स्याद् इति अर्थः. अतः इति, दृष्टम् अरिष्टं राजदण्डादि, नरकादि अदृष्टम् अरिष्टम् इति अर्थः ॥१७९-१८०॥

[प्र] तर्हि भगवान् स्वात्मानमपि कथम् एवं प्रेरयति समतयापि प्रेरणसमर्थः ? तत्र आह :

[का] न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन् तारतम्यं न चैव हि॥
अखण्डं कृष्णवत् सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्॥१८२॥

[प्र] न विशेषो अस्ति लोके अस्मिन् इति. सर्वासु योनिषु सर्वेषु जीवेषु सुख-दुःखयोः तुल्यता. पुरुषः स्वभ्रमादेव तारतम्यं पश्यति, अन्यथा तत्सुखेच्छा कदाचिद् जायमाना न स्यात्. ''राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्'' (. । ।) इति वाक्यानि सङ्गतानि भवन्ति. तस्मात् फलं सर्वत्र समम्. स्वरूपं च समम् इति पूर्वमेव उक्तम् इति आह अखण्डं कृष्णवत् सर्वम् इति॥१८२॥

[टि] सर्वासु इत्यारभ्य भवन्ति इत्यन्ते. सर्वत्र सुखस्य निरुपधीच्छाविषयत्वेन तुल्यत्वाद् उत्कटरागिणो अतएव भावि-नरकादिज्ञानमपि न बाधकं भवति इति भावः. तस्माद् इति. फलं सर्वत्र स्वानुरूपम् इति अर्थः. यद्वा सर्वत्र ब्रह्मैव फलम् इति अर्थः ॥१८२॥

[का] आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः॥
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥१८३॥

[प्र] आविर्भाव-तिरोभावौ इत्यत्र प्रमाणम् आह ''आत्मैव तद् इदम्'' (भाग.पुरा. ११।२८।६) इति॥१८३॥

[टि] यदि प्रपञ्चो ब्रह्माभिन्नः उत्पत्तिविनाशशीलः च स्यात् तदा आविर्भाव-तिरोभावयोः प्रयोजनाभावात् तयोः स्वीकारएव न स्यात्. प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे ताभ्यां विना उत्पत्ति-नाशप्रतीती न स्याताम् इति तयोः प्रमाणत्वेन विश्वस्य ब्रह्मात्मकत्वम् उच्यते इति आशयेन आहुः **आविर्भाव...** इति ॥१८३॥

[का] आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ॥
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैः यथामतिः ॥
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ॥१८४॥

[प्र] एवं पुराणवाक्यानि श्रुतिवाक्यान्यपि उदाहृत्य सज्जीवान् प्रति आह **इति श्रुत्यर्थम् आदाय** इति. **''एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्''** (त.दी.नि.१।४) इति पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात् तच्छास्त्रं ब्रह्मवादः ; शिष्टानि मतानि मोहार्थम् उत्पन्नानि इति अवोचाम ॥१८४॥

[टि] एवम् इति, **''पुरुषएव इदं सर्वम्''** (ऋक्.संहि.१०।९०।२), **''स वै सर्वम् इदं जगत्''** (महाना.उप.२३।१), **''स भूतं स च भव्यम्''** (महाना.उप.२४।१), **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि. **''मत्तः परतरं न अन्यद्''** (भग.गीता.७।७) इति गीतायाम्. विष्णुपुराणे च **''ज्योतींषि विष्णुः भुवनानि विष्णुः वनानि विष्णुः गिरयो दिशः च, नद्यः समुद्राः च सएव सर्वं यद् अस्ति यत् नास्ति च विप्रवर्य!''** (विष्णुपुरा.२।१२।३८). **''अहमेव आसम्''** (भाग.पुरा.२।९।३२) इत्यादीनि पुराणवाक्यानि. तच्छास्त्रम् इति. गीताशास्त्रस्य अर्थो ब्रह्मवादो, विभूति-विश्वरूपनिरूपणेन भगवता जगतो ब्रह्मात्मकत्वनिरूपणाद् इति भावः ॥१८४॥

[प्र] एवं प्रमेयप्रकरणं समाप्य फलं निरूपयितुं न

विहितसाधनमात्रेणैव फलं किन्तु सर्वाङ्गसहितेन इति वक्तुं बहिरङ्गानि निरूपयति :

[का] वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः ।।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता ।।
आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्धं फलति नाखिलम् ।।१८५।।

[प्र] वर्णाश्रमवताम् इति. उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यं नतु अनुकल्पैः, तथा सति प्रत्यवायपरिहारएव भवति नतु फलम् इति अर्थः. तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवता सर्वं साध्यम्. ननु तावन्मात्रएव वैगुण्यम् अस्तु, किं सर्वनाशेन इत्यतः आह आचारः इति ।।१८५।।

[टि] वृत्त्यंशे वैगुण्यमेव अस्तु, किं विहितसर्वकरणेन इति आहुः ननु तावन्मात्रे इति, यथोक्त-सर्वकरणेन इति वक्तव्ये अत्र 'सर्वनाश...'पदोक्तिः शिलोञ्छादेः ब्राह्मणधर्मस्य (अपि!) सर्वनाशतुल्यत्व-ज्ञापनार्था ।।१८५।।

[प्र] वस्तुतस्तु न फलति इति आह :

[का] अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लङ्घनात् ।।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ।।१८६।।
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत् ।।
तप-स्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम् ।।१८७।।

[प्र] अनभ्यासेन इति, तर्हि कथं फलति इति आकाङ्क्षायाम् आह शिलोञ्छवृत्त्या इति. असन्तोषे तदपि व्यर्थम् ।।१८६-१८७।।

[टि] आचारः स्ववृत्त्यभावे अर्धं फलति इति उक्तम्. दूरविचारे स्ववृत्तित्यागे राजसेवादिना वेदाचारयोरपि त्यागप्रसक्तौ तदपि न फलति

इति आहुः **वस्तुतः** इति ॥१८६-१८७॥

[प्र] **तारतम्ये फलाभावम् आशङ्क्य आह :**

[का] **एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः ॥**
अक्षरानन्दपर्यन्तमानन्दान् विन्दते क्रमात् ॥१८९॥

[प्र] **एतस्य** इति. **श्रोत्रियत्वम्** अकामहतत्वं च **तारतम्येन** जायमानं तत्तत्फलसाधकम्. **ब्रह्मानन्दः अक्षरानन्दः**, चतुर्मुखपक्षे ततो अग्रे गणनाभावात्. एकस्यैव वर्षे-वर्षे पदाधिक्यं चेत् क्रमेणैव सर्वम् आप्नोति ॥१८९॥

[टि] **ब्रह्मानन्दः** इति, श्रुतौ इति शेषः. **चतुर्मुखपक्षे** इति, **अग्रे गणनाभावाद्** ब्रह्मानन्दो अनुक्तएव स्याद् इति भावः. **एकस्य** इति. **एकस्य** पुंसः **पदाधिक्यं** तत्तद्देवलोकहेत्वाधिक्यं व्यवसायाधिक्यं वा **चेत्** तदा तत्तद्देवलोके गत्वा तदीयं **सर्वम्** आनन्दं **क्रमेण प्राप्नोति** इति अर्थः. **यदाधिक्यम्** इति पाठे **यदा** पुण्यस्य **आधिक्यं चेत्** तदा **क्रमेण** सर्वानन्दान् आप्नोति ; न चेत् तत्तल्लोके तिष्ठति इति अर्थः ॥१८९॥

[प्र] **प्रत्येकपक्षे फलगतं दोषमपि आह :**

[का] **उपान्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म भवेद् ध्रुवम् ॥**
तत्तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान् ॥१९०॥

[प्र] **उपान्त्यानन्दपर्यन्तम्** इति. प्रकारम् आह **तत्तद्रूपेण** इति ॥१९०॥

[टि] **प्रत्येकपक्षे** इति, तत्तल्लोकस्थितौ इति अर्थः ॥१९०॥

[प्र] एवं वैदिकमार्गं निरूप्य सांख्य-योगौ एकीकृत्य सद्योमुक्तिं क्रममुक्तिं च आह :

[का] न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहम्ममताभिदः ॥
योगमुत्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः ॥१९८॥
असम्प्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागे विमुच्यते ॥
तादृशस्य बलाद् वापि देहत्यागो विमुक्तिदः ॥१९९॥

[प्र] न्यासे इत्यादिना. प्रथमं सद्योमुक्तिः. अयं चतुर्थाश्रमएव भवति साङ्ख्यमार्गः, अतो न्यासं कृत्वा मनसापि सर्वं परित्यज्य अहङ्कारं ममतां च त्यक्त्वा भगवदाविर्भावार्थम् उत्तमं योगम् आस्थाय अलौकिको भूत्वा अन्तर्निष्ठएव सन् बहिर्दर्शनसम्भावनायाम् असम्प्रज्ञातयोगेक्षो भूत्वा तस्यामेव निष्ठायां यावद्देहपातं तिष्ठेत्. तदा देहान्ते विमुच्यते सद्यएव, अत्रैव भगवदाविर्भावात्. कदाचिद् आविर्भावस्य बहुकालस्थितिसन्देहे बलाद् वा देहत्यागः कर्तव्यः इति आह तादृशस्य इति ॥१९८-१९९॥

[टि] **असम्प्रज्ञातयोगेक्षः** इति, न विद्यते सम्प्रज्ञातं = बहिःसंवेदनं यस्यां योगेक्षायां तादृशयोगेक्षा = योगज्ञानं भगवद्विषयकं यस्य सः इति अर्थः ॥१९८-१९९॥

[प्र] तत्र ब्रह्मलोकपर्यन्तं गत्वा बहुकालं स्थित्वा स्वाधिकारानुसारेण नानामार्गेण गच्छति इति वक्तुम् आह :

[का] ब्रह्मलोकप्रवृत्तानां या गतिस्तस्य सा भवेत् ॥
भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः ॥२०२॥
पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः ॥
आसन्योपासकानान्तु ब्रह्मणा सह मुक्तता ॥२०३॥

[प्र] ब्रह्मलोकप्रवृत्तानाम् इति. तत्र स्थितानां पञ्चगतयः, ताः आह **भक्ताधिकारिणाम्** इति, ये भक्ताः सन्तः अधिकारिणो ब्रह्मादयः ते अधिकारसमाप्तौ तत्रैव मुक्ताः भवन्ति, तथा अयमपि. पूर्वं तादृशएव केनचिद् निमित्तेन जन्म प्राप्तवान् चेत् तदा दोषस्य विनिवृत्तत्वाद् अयमपि विमुच्यते. **अन्यथा** भक्त्यभावे ब्रह्मादीनां **प्रकृतौ लयः**. तृतीयस्कन्धे अस्य तथानिरूपणाद् अस्यापि पूर्वोक्तस्य तथा. **पुनः सृष्टौ तथा ऐश्वर्यं** सर्वेषां यथायोग्यम्. अश्वमेधेनाऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिः, परं पुनरागतिः. तथा साङ्ख्य-योगनिष्ठोऽपि कर्मत्वेन योगकर्ता चेत् तथैव पुनरावर्तते. एवम् उभौ निरूपितौ. तृतीयम् आह **आसन्योपासकानाम्** इति, आब्रह्मकल्पं तत्र स्थित्वा ब्रह्मणा सह विमुच्यन्ते ॥२०२-२०३॥

[टि] **भक्ताधिकारिणाम्** इति अर्धेन सामान्यतो गतिः निरूप्य अग्रे विशेषतो निरूपयति **पुनः** इत्यादिना. **एवम् उभौ** इति. एकस्यां गतौ कर्मिसदृशः साङ्ख्य-योगनिष्ठः, कर्मी च इति उभौ इति अर्थः. यद्वा ऐश्वर्यादिमान् कर्मी च इति उभौ गतिमन्तौ इति अर्थः ॥२०२-२०३॥

[प्र] अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थम् आह :

[का] अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा ॥
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते ॥२१६॥

[प्र] **अत्रापि वेदनिन्दायाम्** इति, भगवन्मार्गे स्थित्वा यदि वेदानाम् अप्रामाण्यं वदेत् कथञ्चिदपि तदा भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वाद् **न नरके पातः किन्तु** तृतीयमार्गसाधनत्वाद् **हीनेषु जायते** शूद्रादिषु सम्भवति. अतो दृश्यते नीचयोनिषु भगवद्भक्तानां जन्म. तस्माद् एतद्द्वयम् अकृत्वा भगवान् सेव्यः ॥२१६॥

[टि] भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वाद् इति. ''कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराऽच्युत शङ्खचक्रपाणे, भव शरणम् इति ईरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तान् अपापान्'' (विष्णुपुरा.३।७।३३), ''यमनियमविधूतकल्मषाणाम् अनुदिनम् अच्युतसक्तमानसानाम्, अपगतमदमानमत्सराणां व्रज/त्यज भट दूरतरेण मानवानाम्'' (विष्णुपुरा.३।७।२६), ''ते मे न दण्डम् अर्हन्ति'' (भाग.पुरा.६।३।२६) इत्यादिषु, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये च भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वं प्रसिद्धम्॥२१६॥

[प्र] शूद्रादियोनौ जातस्य किं फलम् इति आकाङ्क्षायाम् आह :

[का] पूर्वसंस्कारतस्तत्र भजन् मुच्येत जन्मभिः॥
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत् तदा॥
एतावन्मात्रताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः॥२१७॥

[प्र] पूर्वसंस्कारतः इति, संस्कारवशाद् भगवद्भजने जायमाने तस्मिन् देहे वेदादीनां स्मरणाभावाद् निन्दाभावे तुष्टः सन् भगवान् मोचयेद् इति अर्थः. तत्रापि एकं बाधकम् आह अत्यन्ताभिनिवेशः चेद् इति, संस्कारस्य दुर्बलत्वे ज्ञानाभावात् संसारे अभिनिवेशो भवति, ततो दृढभजनाभावाद् न मुच्यते इति अर्थः. अनेन वेदनिन्दया पुनरावृत्तिः उक्ता. पुनः शुद्धसाधनेन जायमानां मुक्तिं न निवारयति. अतो वेदनिन्दाभावे भक्तिमार्गः समीचीनः. ननु उत्कर्षासहनेन कथं वेदं न निन्देद्? अतः सापायएव अयं मार्गः इति आशङ्क्य आह एतावन्मात्रतापि अस्ति इति, अनिन्दायां मोक्षः, निन्दायामपि न नरकादिः. वेदातिरिक्तमतेषु भगवन्मार्गे एतावदपि फलम् अस्ति, नतु साङ्ख्यादौ इति तेभ्यः उत्कर्षः॥२१७॥

[टि] तेभ्यः उत्कर्षः इति, भक्तिमार्गस्य कर्म-ज्ञान-योगादिभ्यः

उत्कर्षः कृष्णाश्रयप्रकाशे प्रपञ्चितइति न अत्र लिख्यते॥२१७॥

[प्र] एवं भक्तिमार्गे फलम् उपपाद्य सर्वमेव मार्गम् उपपादयति :

[का] विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्॥
तत्साधनं नवविधा भक्तिस् तत्प्रतिपादिका॥२२०॥
गीता संक्षेपतस्तस्याः वक्ता स्वयम् अभूद्धरिः॥
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्॥
व्यासः समाधिना सर्वमाह कृष्णोक्तमादितः॥२२१॥

[प्र] विशिष्टरूपम् इत्यादिना एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम् (त.दी.नि.२।-२५६) इत्यन्तेन. अत्र प्रमेयं विशिष्टरूपं यस्य एकैको अंशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः. सएव च फलम्. तत्रापि साधनं च प्रेमैव. तत्साधनं नवविधा भक्तिः. श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिः गौणी स्यात्. श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता "भक्त्या तु अनन्यया शक्यः" (भग.गीता.११।५४) इति साधन-साध्यरूपाम् एकीकृत्य आह. गीतायाअपि प्रामाण्यं फलवाक्यात्. कृष्णस्य फलरूपत्वं परमानन्दरूप-त्वात् पुरुषोत्तमत्वात् च. गीतार्थं सन्दिग्धं मत्वा विस्तरेण कथनार्थं भागवतं तेनैव रूपान्तरेण कृतम्॥२२०-२२१॥

[टि] ननु "भक्त्या तु अनन्यया" (भग.गीता.११।५४) इति गीतायां श्रवणादेः भगवत्प्रापकत्वम् उच्यते ; कथं विशिष्टरूपे फले भगवति साधनं प्रेमैव इत्यतः आहुः भक्त्या इति. अत्र साधन-साध्यभक्त्योः एकीकृतत्वात् प्रेमद्वारैव श्रवणादिना भगवान् ज्ञेयो दृश्यः प्राप्यो भवतीति पूर्वोक्ते न विरोधः इति भावः॥२२०-२२१॥

[का] मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः ॥
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः ॥२२२॥

[प्र] प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि प्रमाणं भगवद्वाक्यम्. वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनं च फलादपि अधिकम्. फलञ्च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकमिति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्. तत्र हेतुः **मोचकः सर्वथा यतः** इति. सहि सर्वानेव येन-केनचिदुक्तप्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात्. तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत्! ॥२२२॥

[टि] **प्रमाणादीनाम्** इति, प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलानाम् एकं रूपं = निरूपकं यस्य इति भगवदेकनिरूप्यत्वाद् इति अर्थः. **साधनं च** इति, अन्यमार्गफलात् प्रेम अधिकम् इति अर्थः. **फलञ्च** इति, स्वरूपस्य नित्यानन्दरूपत्वात् "**मद्भक्ताः यान्ति मामपि**" (भग.गीता.७।२३) इति वाक्याद् इति भावः. **अतएव** इति, अत्र भगवतो रक्षकत्व-मोचकत्वादेः वक्ष्यमाणहेतोः इति अर्थः. **मार्गे** इति, भगवदीयत्वसिद्धेः "**स्वपुरुषम् अभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले, परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुः अहम् अन्यनृणां न वैष्णवानाम्**" (नृसिंहपुरा.९।१) इत्यादिभिः यमादिभयनिवृत्तेः च इति भावः ॥२२२॥

[प्र] ननु एवं पाषण्डानामपि वचनानि भवन्ति इति आशङ्क्य आह :

[का] विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते ॥

कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्॥२२५॥
सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि॥
तस्य सर्वमशक्यं स्याद् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥
कृपायुक्तस्यतु यथा सिद्ध्येत् कारणमुच्यते॥२२६॥

[प्र] विरुद्धकरणं नास्ति इति, न अत्र श्रुति-स्मृतिविरुद्धाचारो नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्, अतो न अत्र विरुद्धसम्भावनापि. ननु पराश्रया मुक्तिः मायावादादिभिः निराकृतेति कथं न प्रमेयविरोधः? तत्र आह कल्पितैरेव बाधः स्याद् इति. तेहि स्वमात्रं फलत्वेन कल्पयन्ति, तत्तु अप्रामाणिकम्, 'आत्म'शब्दस्य भगवद्वाचकत्वात्. ननु जीवपरत्वं वेदान्तानां नापि जीवस्य फलरूपत्वम्. अतो परमानन्दो अधिको भवतीति न कदापि मुक्तिः स्वाधीना. अतः तत्र स्नेहएव तत्प्राप्तिहेतुः. अतो युक्त्यापि भगवन्मार्गस्य प्रामाण्यं साधितम् इति अर्थः. परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा. कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते॥२२५-२२६॥

[टि] पराश्रया इति, भगवदधीना भगवत्प्रवेशरूपा वा इति अर्थः. अतः परमानन्दः इति, जीवात् परमानन्दः कृष्णो अधिकः इति तत्प्राप्तिरूपत्वात् मुक्तिः न स्वाधीना केवलात्मरूपा वा इति अर्थः. अतः तत्र इति, "नैष्कर्म्यम्" (भाग.पुरा.१।५।१२) इत्यादिभिः भगवति स्नेहएव मोक्षप्राप्तिहेतुः इति अर्थः॥२२५-२२६॥

[प्र] तत्र आदितः साधनानि आह :

[का] कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्॥
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्॥२२७॥

[प्र] कृष्णसेवापरम् इति, यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स

स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति दम्भादिरहितम् इति. सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी, अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम् इति. जिज्ञासुः नतु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या॥२२७॥

[टि] तत्र आदितः इति, उपदेशग्रहणादिसाधनानां मार्गत्वात् साधनानि आहुः इति अर्थः. सेवापरएव गुरुः इति, एतेन अवैष्णवो भगवन्मार्गे गुरुः न भवति इत्यपि सूचितम्. अतएव नारदपञ्चरात्रे ''महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः, सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्याद् अवैष्णवः'' (नारदपञ्चरात्र । ।) इति. सेवा च इति. प्रमाणं भगवद्वचनं सत्यरूपो भगवान् वा मूलं हेतुः यस्यां, न धर्मादिकं, सा स्वतःपुरुषार्थत्वेन भगवदर्थमेव वा कृता सेवा परमपुरुषार्थसाधिका भवति इति अर्थः. भजनं सर्वभावेन इति, भगवति इव गुरावपि भक्तिः कर्तव्या इति अर्थः. अतएव श्रुतिः ''यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ, तस्य एते कथिताः हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'' (श्वेता.उप.६।२३) इति. श्रीभागवते च ''यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ, भक्तिः न स्यात्/मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य मन्ये/सर्वं कुञ्जरशौचवद्'' (भाग.पुरा.७।१५।२६) इति॥२२७॥

[प्र] तत्र हेतुः

[का] साकारव्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः॥
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः॥२२९॥

[प्र] व्यापकं साकारं ब्रह्म इत्यतः सर्वे कटकाद्युपचाराः

भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृता भवन्ति. उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवति इति आह **मन्त्रस्यापि विधानतः** इति. न्यासादिपूर्वकं सर्वपूजा. मूर्तौ विशेषम् आह **श्रीकृष्णम्** इति. मूर्त्यन्तरे द्व्यन्तरितत्वम्. यथावद् मुख्यतया प्राप्तैः द्रव्यैः उपचाराः कर्तव्याः ॥२२९॥

[टि] **मूर्त्यन्तरे** इति, अन्यमूर्तिभजने श्रीकृष्णस्य मूलभूतत्वात् तदवतारस्य मूर्तौ स्थितत्वाद् भजने श्रीकृष्णस्य द्वाभ्यां व्यवहितत्वम् इति अर्थः ॥२२९॥

[प्र] एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह :

[का] **भार्यादीरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ॥**
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ॥२३१॥

[प्र] **भार्यादिरनुकूलश्चेद्** इति, भार्यादिकं गृहम्. **विष्णुपराङ्मुखाः** भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति ॥२३१॥

[टि] **अनेन** इति. **न स्थातव्यम्** इति उपलक्षणमेव ; अवैष्णवानां सिद्धान्नमपि न ग्राह्यम्. अतएव पद्मपुराणे "**अवैष्णवानाम् यच्च अन्नं पतितानां तथैव च, अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवेद्**" (पद्मपुरा.६।२५३।११२-११३) इति ॥२३१॥

[प्र] एवं सहने हेतुभूतं विचारम् आह :

[का] **एतद्देहावसानेतु कृतार्थः स्यान्न संशयः ॥**
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा ॥२३४॥

[प्र] एतद् इति, भृतकः समयमिव देहावसानमेव विचिन्तयेत्. एकापि परिचर्या सकृत् कृता परमपुरुषार्थदा इति, परं विद्यमानदेहस्य निष्कृत्यर्थं सदा परिचरेत् ॥२३४॥

[टि] निष्कृत्यर्थम् इति, साफल्यार्थम् इति अर्थः ॥२३४॥

[प्र] ननु क्व देशे कथं वा परिचरेद् इति आकाङ्क्षायाम् आह :

[का] सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम् ॥
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्ध्येत् तथाऽऽचरेत् ॥
वृथाऽऽलाप-क्रिया-ध्यानं सर्वथैव परित्यजेत् ॥२३५॥

[प्र] सर्वापेक्षाम् इति, सापेक्षम् असमर्थं भवतीति मूलं भगवदर्थे स्थापयित्वा साधनाभावाद् वैकल्यं जातमपि निवार्य चित्तं भगवत्येव स्थिरीकृत्य. यथा पुत्रः पितरि मातरि वा विश्वासं करोति तथा दृढविश्वासः. लौकिकयुक्त्या यथैव पूजा सिद्ध्यति तथैव कर्तव्यम् इति लौकिकयुक्तिरेव उपदिष्टा. तद्युक्तिसिद्ध्यर्थं वृथालापादिकं प्राप्तं निषेधति वृथालाप... इति. काय-वाङ्-मनसां स्वभावतः प्रवृत्तां क्रियां त्यजेत् ॥२३५॥

[टि] सापेक्षम् इति, इतरसापेक्षं भजनं समीचीनार्थसाधकं न भवतीति मूलं मनःप्रवृत्तिकारणम् इष्टसाधनत्वं वा भगवत्सम्बन्धिनि अर्थे स्थापयित्वा योगादिना स्थिरीकरणाभावाद् मनसो विक्षेपं जातमपि सत्सङ्गादिना निवार्य इति अर्थः. लौकिकयुक्तिरेव इति, लोके शीतोष्ण-क्षुत्तृषादौ यथा तन्निवारकं सुखदं क्रियते तथा कर्तव्यम् इति उपदिष्टम् इति अर्थः ॥२३५॥

[प्र] सङ्गः त्रयाणां बाधकः, तत् परित्यजेद् इति आह :

[का] एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्॥
धर्मादीनां तथा चाऽस्य तारतम्यं विचारयन्॥२३९॥

[प्र] एतद्विरोधि इति, सामान्यवचनं धर्मादीनाम् उपलक्षणं, परार्थमपि इन्द्रियनिग्रहाभावसम्भवात्. पूजाविरोधि धर्मादिकन्तु त्यक्तव्यमेव इत्यत्र विचारम् आह धर्मादीनाम् इति. भगवद्भजनस्य मोक्षः फलं, परोपकारादि-सर्वधर्माणामपि क्षयिष्णवेव फलम्. अतः उभयोः अन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्माः न कर्तव्याः, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति॥२३९॥

[टि] सङ्गः इति, दुष्टसङ्गः स्वधर्माचरण-निषिद्धत्यागेन्द्रिय-निग्रहाणां बाधकइति तं त्यजेद् इति अर्थः. सामान्यवचनम् इति, एतत्त्रयविरोधित्वेन धर्मादयोऽपि त्याज्यत्वेन उपलक्षिताः इति अर्थः॥२३९॥

[प्र] अत्र बाधकानां विशेषम् आह :

[का] कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना॥
अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्॥२४१॥

[प्र] कृष्णे सर्वात्मके इति, मनसि स्वस्य दीनता भावनीया, सर्वाधिष्ठानेषु सर्वलोकेषु च, यत्र-यत्र भगवद्बुद्धिः भवति, बुद्धिः च कर्तव्या. अन्यकर्तृकापमानेऽपि न अहङ्कारं कुर्यात्. भगवतः सकाशाद् मानापेक्षां च वर्जयेत्॥२४१॥

[टि] मनसि इति, भगवतः सर्वेषु अधिष्ठानेषु भगवदीयेषु च

यत्र भगवान् स्वतः स्फुरति तत्र दीनता भावनीया, सर्वत्र च भगवद्बुद्धिः कर्तव्या इति अर्थः ॥२४१॥

[प्र] एतत्सिद्ध्यर्थम् उपायम् आह :

[का] सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा ॥
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस्ततः ॥२४२॥

[प्र] सर्वथा तद्गुणालापम् इति, सर्वथा सर्वत्र भगवदुत्कर्षवर्णने पूर्वोक्तं सिद्ध्यति. दैत्यानां सन्निधानेऽपि निर्भयः. फलाभावाय निस्पृहः ततः इति ॥२४२॥

[टि] दैत्यानाम् इति, बहिर्मुखानां सन्निधानेऽपि तेभ्यः फलाभावाय तेभ्यो निःस्पृहो भूत्वा इति अर्थः ॥२४२॥

[प्र] केवलं नामोच्चारणादेः कदाचिद् असाधकत्वमपि भवेदिति मुख्यं साधनम् आह :

[का] साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात् ॥
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः ॥२४३॥

[प्र] साधनं परम् एतद् इति, सर्वदा श्रीभागवतकीर्तनेन पूर्वोक्तं सिद्ध्यति ॥२४३॥

[टि] सर्वदा इति, "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" (भाग.पुरा. १।७।७), "धर्मः प्रोज्झित..." (भाग.पुरा.१।१।२) इत्यादिवाक्यैः भगवति भक्त्या दीनत्वादिकं सिद्ध्यति इति अर्थः ॥२४३॥

[प्र] अत्र वैष्णवमार्गे वेदमार्गविरोधो यत्र तद् न कर्तव्यं यदि

अनित्यो धर्मो भवेत्. नित्येऽपि वेदविरोधः सोढव्यः इति आह :

[का] शङ्ख-चक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्॥
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्॥२४४॥

[प्र] शङ्ख-चक्रादिकं धार्यम् इति. ''वह्निनैवतु संयुक्तं चक्रमादाय वैष्णवः, धारयेत् सर्ववर्णानां हरिसालोक्यकाम्यया'' (. । ।) इति तप्तमुद्राधारणं काम्यम्. ''शङ्ख-चक्रं मृदा यस्तु कुर्यात् तप्तायसेन वा'' ( ), ''स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः'' (मनुस्मृ.२।१०३) इति स्मृतिविरोधश्च. ''शङ्खादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेद्, निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चापि न तुष्यति'' (. । ।). अतो मृदा शङ्ख-चक्रादिधारणं पूजाङ्गम् अवश्यं कर्तव्यम्. निषेधस्तु केवलएव, न पाषण्डत्वसम्पादकः, मृदा निषेधम् उपक्रम्य तप्तायसे पर्यवसानवचनात् च. किञ्च ब्राह्मणस्य धारणं निषिद्धं ; वैष्णवस्य च विहितम्. तत्र ब्राह्मणः चेद् वैष्णवो भवेत् तत्र पूर्वात् परबलीयस्त्वन्यायेन वचनमिति वैष्णवधर्मानुसरणं कर्तव्यम्. नच पाषण्डत्वसम्भवः, ''किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः'' (भग.गीता.९।३३) इति वाक्यात्. प्रमाण-प्रमेययोः प्रमेयं बलिष्ठम् इति च. वेदनिषिद्धदेवतापरत्वएव पाषण्डत्वम् इति स्थितिः. धर्मविरोधो न अत्र बाधकः. ततः उक्तं शङ्ख-चक्रादिकं मृदा पूजाङ्गत्वेन धार्यम् इति. तथा तुलसीकाष्ठजा मालापि धार्या. तस्याः यद्यपि न नित्यत्वं तथापि वैष्णवत्वख्यापिका परम्परासिद्धा, तदुल्लङ्घने पारम्पर्यं बाध्येत इति नित्यतुल्या माला. किञ्च ''धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः, नरकाद् न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निना हरेः'' (पद्मपुरा.४।२२।१४) इति वचनाद् नित्यत्वमपि. तिलकं च ''दण्डाकारं ललाटे स्यात् पद्माकारं तु वक्षसि, वेणुपत्रनिभं बाहवोः अन्यद् दीपाकृतिः भवेद्''

(. । ।) इति. तिलकं माला च यज्ञोपवीतवद् (लिङ्गं !) वैष्णवत्वबोधकम् ॥२४४॥

[टि] अत्र वैष्णवमार्गे इत्यारभ्य आह इत्यन्ते. अत्र एवं भाति : "तावत् कर्माणि" (भाग.पुरा.११।२०।९), "देवर्षिभूतात्म-नृणां/प्तनृणाम्" (भाग.पुरा.११।५।४१), "यान् आस्थाय" (भाग.पुरा. ११।२।३५) इत्यादिभिः नित्यकर्मत्यागे प्रतीयमानेऽपि "यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति" (. । ।), "अहरहः सन्ध्याम् उपासीत" (. । ।) इत्यादिवेदविरोधात् स न कर्तव्यः, नित्यत्वाभावात्. भगवत्पूजायाः नित्यत्वेन तदङ्गत्वाद् नित्ये शङ्ख-चक्रादिधारणरूपे भगवद्धर्मे वक्ष्यमाणस्मृतिविरोधे प्रतीयमाने-ऽपि शङ्ख-चक्रादिधारणं कर्तव्यम्. वस्तुतो अधिकारभेदाद् व्यवस्थया न विरोधः इति. अतो मृदा शङ्खचक्रादिधारणम् इति. सत्यतपाः "गोमतीतीरसम्भूतां गोपीदेहसमुद्भवां, मृदं मूर्ध्ना वहेद् यस्तु सर्वपापैः प्रमुच्यते" (.पुरा. । ।), व्यासः "जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः, बिभर्ति रूपं सो अर्कस्य तमोनाशाय केवलम्" (नारदपुरा.२।४३।१२६), "द्वारवत्यां शुभे रम्ये" (पद्मपुरा. ६।२२५।३१) इति च इत्यादिवचनेषु गोपीचन्दनादेः स्तुतत्वाद् गोपीचन्दन-व्रज-गङ्गादिमृदा पूजाङ्गत्वेन शङ्ख-चक्रादिधारणं पूजायाम् आवश्यकम्, अन्यथा पूजा निष्फला स्यात्. "अङ्कितः शङ्खचक्राभ्याम् उभयोः बाहुमूलयोः, समर्चयेद् हरिं नित्यं न अन्यथा पूजनं भवेत्" (। ।), "शङ्खादिचिन्हरहितः" (। ।) इत्यादिभिः. अन्यत्रापि "नारायणायुधैः नित्यं चिह्नितो यस्य विग्रहः, पापकोटियुतस्यापि तस्य किं कुरुते यमः ... ममावतारचिह्नानि दृश्यन्ते यस्य विग्रहे, मर्त्यो मर्त्यो न विज्ञेयः स नूनं मामकी तनुः" (स्कन्दपुरा.२।५।३।३०, २६). गरुडपुराणे "क्रियाविहीनं यदि मन्त्रहीनं श्रद्धाविहीनं तु अथ कालवर्जितं, कृत्वा

ललाटे यदि गोपिचन्दनं प्राप्नोति तत् कर्मफलं तथा अक्षयं/सदा अव्ययं ... ग्रहाः न पीडन्ति न रक्षसां गणाः यक्षाः पिशाचोरगभूतदानवाः/नायकाः, ललाटपट्टे खग/सुत गोपिचन्दनं सन्तिष्ठते यस्य हरेः प्रसीदनम् /मम प्रभावात्'' (द्रष्ट. स्कन्दपुरा.२।५।३।६-१०) इति. काशीखण्डे ''दूताः शृणुत/शृण्वन्तु यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितं, ज्वलदिङ्गलवत् सोऽपि दूरे त्याज्यः प्रयत्नतः'' (स्कन्दपुरा.४।१।७।१०८). तत्रैव ध्रुवलोकवर्णने ''शङ्खचक्राङ्कितततनुः शिरसा मञ्जरीधरः, गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टः चेत् तद् अघं कुतः ... हरिनामाक्षरमुखं भाले गोपीमृदङ्कितं, तुलसीमालिकोरस्कं न स्पृशेयुः यमो भटाः'' (स्कन्दपुरा.४।१।२१।६४-६७). पद्मपुराणे ''ब्रह्मघ्नो वा अथ गोघ्नो वा हैतुकः सर्वपापकृद्, गोपीचन्दनसम्पर्कात् पूतो भवति तत्क्षणात्'' (पद्मपुरा. । ।). स्मृतिसारसमुच्चये ''गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो यं यं पश्यति चक्षुषा, तं तं शुद्धं/पूतं विजानीयात् ... न अत्र कार्या विचारणा'' (द्रष्ट.गोपीचन्दनोप.२-१३) इत्यादिवाक्यैः पापभय-ग्रहादिपीडानिवृत्ति-शुद्धि-भगवत्प्रीतिसाधकत्वेन वैष्णवचिह्नत्वेन स्वसम्प्रदायप्राप्तत्वेन कर्तव्यमेव. **निषेधस्तु** इति, **केवले** वैष्णवत्वरहिते अयं निषेधः. तेन **न** वैष्णवे **पाषण्डत्वसम्पादकः** इति अर्थः. तदेव आहुः अग्रे **किञ्च** इत्यादि.

धर्मविरोधः इति, आश्रमधर्मे अन्याश्रमधर्मविरोधवत् स्मार्तधर्मविरोधो न बाधकः इति अर्थः. **तथा तुलसीकाष्ठजा माला** इत्यादि. प्रह्लादसंहितायां ''**निवेद्य केशवे/विष्णवे मालां तुलसीकाष्ठसम्भवां, वहते यो नरो भक्त्या तस्य नैव अस्ति पातकं, सदा प्रीतमनाः तस्य कृष्णो देवकिनन्दनः**'' (स्कन्दपुरा.७।४।२३।१७९) इत्यादिवचनेभ्यः पापाभाव-कृष्णप्रसादहेतुत्वात् तुलसीकाष्ठजा मालातु उपवीतादिवद् धार्या इति अर्थः. वैष्णवजपेऽपि तुलसीकाष्ठघटितैव माला प्रशस्ता. अतएव उक्तं रामार्चनचन्द्रिकायां ''**तुलसीकाष्ठघटितैः मणिभिः जपमालिका,**

सर्वकर्मणि सर्वेषाम् ईप्सितार्थफलप्रदा'' (रामार्चनचन्द्रिका/द्रष्ट.तन्त्रसंग्रह.४।१०।१०-११). पुरश्चरणचन्द्रिकायां च ''वैष्णवे तुलसीमाला, गजदन्तैः गजानने, त्रिपुरायाः जपे शस्ता रुद्राक्षैः रक्तचन्दनैः, तुलसीमणिना चैव गणितं च अक्षयं भवेद्'' (पुरश्चरणचन्द्रिका । ।) इति. अतएव एतादृक्कलाभावाद् नियमाद् अन्यदैवतत्वात् च न रुद्राक्षादिमाला वैष्णवैः ग्राह्या. दण्डाकारं ललाटे स्याद् इति, ब्राह्मणैः वैष्णवैः क्षत्रियादिभिरपि ललाटे दण्डाकारं सुशोभनं सछिद्रम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं कार्यम् इति अर्थः. अतएव स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये ''वैष्णवानां ब्राह्मणानाम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते, अन्येषां च त्रिपुण्ड्रं स्याद् इति ब्रह्मविदो विदुः, ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्याद् दण्डाकारं सुशोभनं, सच्छिद्रन्तु तथा मन्त्रैः नमोऽन्तैः केशवादिभिः, ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा शुभ्रं ललाटे यस्य दृश्यते, चाण्डालोऽपि विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्'' (स्कन्दपुरा. । ।). पुराणान्तरे च ''ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु सर्वेषां न निषिद्धं कदाचन, धारयेयुः क्षत्रियाद्याः/धारयेत् क्षत्रियाद्याऽपि विष्णुभक्ताः भवन्ति ये/भवेद् यदि'' (पद्मपुरा.६।२२५।१७). पद्मपुराणे ''द्वारवत्यां शुभे रम्ये वासुदेवप्रिये/ह्रदे तथा, तत्रोद्भवां मृदं शुभ्रम्/रम्याम् आदाय द्विजसत्तमः, धारयेद् ऊर्ध्वपुण्ड्राणि सर्वकामफलाप्तये ... आरभ्य नासिकामूलं ललाटान्तं लिखेत् मृदा, समारभ्य भ्रुवोः मध्यम् अन्तरालं प्रकीर्तितम्/प्रकल्पयेत्'' (पद्मपुरा.६।२२५।३१-४३). ''ऊर्ध्वपुण्ड्रम् ऋजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरं, दण्डाकारं सुशोभाढ्यं मध्ये च्छिद्रं प्रकल्पयेद्'' (पद्मपुरा.६।२२५।२३). ''ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य मध्येतु विशाले सुमनोहरे, लक्ष्म्या सार्धं समासीनो देवदेवो जनार्दनः, तस्माद् येन/यस्य शरीरे तु ऊर्ध्वपुण्ड्रं धृतं/धृतो भवेत्, तस्य देहो भगवतो विमलं हरिमन्दिरं/मन्दिरं शुभम्'' (पद्मपुरा.६।२२५।२-३). नारदपञ्चरात्रे ''सान्तरालम् ऋजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरं, यः करोति ऊर्ध्वपुण्ड्रं स मम अतीव प्रियो भवेत्'' (नारदपञ्चरात्र

। ।). ऊर्ध्वपुण्ड्रं च निरन्तरालं न कार्यम्. ऊर्ध्वपुण्ड्रोपरि त्रिपुण्ड्रं कदाचिदपि न कार्यम्. अतएव पद्मपुराणे "**निरन्तरालं यः कुर्याद् ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजाधमः, सहि तत्र स्थितं विष्णुं श्रियं चैव व्यपोहति**" (पद्मपुरा.६।२२५।२५), स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये "**ऊर्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः कुरुते स नराधमः, भङ्क्त्वा विष्णुगृहं पुण्यं स याति नरकं ध्रुवं, त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रे प्रदृश्यते, तं दृष्ट्वापि अथवा स्पृष्ट्वा सचैलं स्नानम् आचरेद्**" (स्कन्दपुरा. - । ।) इत्यादिभिः वचनैः दोषश्रवणाद् इति. **तिलकं माला च** इति, अत्र यज्ञोपवीततुल्यत्व-बोधनाद् माला-तिलकधारणयोः नित्यत्वम् अङ्गत्वं च बोधितम्. अतएव पद्मपुराणे "**यज्ञो दानं तपश्चर्या जपहोमादिकं च यद्, ऊर्ध्वपुण्ड्रधरः कुर्यात् तस्य पुण्यम् अनन्तकम्**" (पद्मपुरा.६।२२५।१०). "**ऊर्ध्वं हि तिलकं शस्तं हव्यकव्येषु सर्वदा, निराशाः पितरो यान्ति दृष्ट्वा चैव त्रिपुण्ड्रकम्**" (पद्मपुरा. । ।). ब्रह्मपुराणे च "**योगो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणं, भस्मीभवति तत् सर्वम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्**" (ब्रह्मपुरा. । ।). स्कन्दपुराणे त्रयोविंशाध्याये च "**यस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत ललाटे नो नरस्य हि, तद्दर्शनं न कर्तव्यं दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षयेत्**" (स्कन्दपुरा. । ।). तिलकविधौ विशेषान्तराणि मदनपारिजात- ब्रह्माण्डपुराण-ब्रह्मपुराण-पद्मपुराणेभ्यो अवगन्तव्यानि ॥२४४॥

[का] एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्॥
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता॥
अनन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः॥२४५॥

[प्र] एकादशीव्रतं च षट्पञ्चाशद्-वेधरहितं कर्तव्यम्. पूर्वम् अन्यथाकरणेऽपि भगवन्मार्गप्रवेशानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्-घटिका दशमी चेत् तदा एकादशी त्याज्या. जन्माष्टमीतु सूर्योदयानन्तरं सप्तमी चेत्

तदा त्याज्या, ''उदयाद् उदयात् प्रोक्ता हरिवासरवर्जिता'' (. । ।) इति वाक्यात्. अन्यान्यपि रामनवमीप्रभृति-व्रतानि भगवन्मार्गे कर्तव्यानि. नृसिंहजयन्तीव्रतम् उत्सवः चेत् कर्तव्यम्. तथा वामनजयन्त्युत्सवकरणे एकादश्याम् उपोषणम् अकृत्वापि द्वादश्याम् उपोषणं कर्तव्यम्. किं बहुना, उत्सवः प्रधानभूतः. भुक्त्वा च उत्सवो निषिद्धः, भगवदावेशाभावात्. एवं पूजामार्गे उत्सवयात्रा-सहिता पूजा कर्तव्या इति निरूपितम्॥२४५॥

[टि] जन्माष्टमी रामनवमी च प्रभुचरणैः निर्णीता अस्तीति न अत्र लिख्यते. उदयाद् इति, एकादशीव्यतिरिक्ता जन्माष्टम्यादयः सूर्योदयात् प्रवर्तमानाः शुद्धाः, नतु अरुणोदयवेधः तासु प्रयोजकः इति अर्थः. द्वितीयदिने मुहूर्तमात्रसत्त्वेऽपि नृसिंहचतुर्दशी त्रयोदशीविद्धा न कार्या. तद् उक्तं बृहन्नारसिंहे ''केवलं च प्रकर्तव्यं महिनं फलकाङ्क्षिभिः, वैष्णवैस्तु न कर्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी'' (नृसिंहपुरा. । ।) इति. गोविन्दार्णवेऽपि उक्तं ''शुक्लपक्षचतुर्दश्यां मासि माधवसञ्ज्ञके, प्रादुर्भूतो नृपं च अस्य तस्मात् तां समुपोषयेत्, अनङ्गेन समायुक्ता न सा उपोष्या चतुर्दशी, पूर्णायुक्तां तु तां कुर्यात् नरसिंहस्य तुष्टये, यः करोति नरो मोहात् कामविद्धां चतुर्दशीं, धनापत्यैः वियुज्येत तस्मात् तां परिवर्जयेत्'' (गोविन्दार्णव । ।). प्रतापमार्तण्डे तत्र शुक्ला परायुता युग्मवाक्यात् व्यासः ''शुक्ला चतुर्दशी ग्राह्या परविद्धा सदा व्रते'' (प्रतापमार्तण्ड । ।) इति. नारदीये ''तृतीयैकादशी षष्ठी पौर्णमासी चतुर्दशी, पूर्वविद्धा न कर्तव्या परं संयुता'' (नार.पुरा. । ।) इति. कृष्णातु पूर्वविद्धा ग्राह्या. तथा वामनजयन्ती इत्यारभ्य आवेशाभावाद् इत्यन्तस्य तात्पर्यं मया श्रावणद्वादशीव्रतनिर्णये विवृतम्॥२४५॥

[प्र] गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम्

इति आह :

[का] [१] विक्षेपाद् अथवा [२]ऽशक्त्या [३]प्रतिबन्धादपि क्वचित्॥
[४]अत्याग्रहप्रवेशे वा [५]परपीडादिसम्भवे॥
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा॥२४७॥

[प्र] विक्षेपाद् इति, [१] स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि. [२] जरया व्याधिभिः वा यदा शक्त्यभावः. [३] लोकाः वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति. [४] स्वस्य वा परमः आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति. [५] लोकानां वा पीडां कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या. तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यं पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय. तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या. स्वतन्त्रतया तीर्थाटनप्रकारम् आह सर्वेषाम् इति. विष्णुभक्तिप्रकारत्वात् सर्वाधिकारः॥२४७॥

[टि] स्वस्य वा इति, गृहादिषु इति शेषः॥२४७॥

[प्र] वर्णाश्रमयुक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्प्यन्ते इति आह :

[का] यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः॥
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनाद् नाधिकस्य हि॥२४८॥
हतत्रपः पठन् नित्यं नामानि च कृतानि च॥
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः॥२४९॥
देहपातनपर्यन्तमव्यग्रात्मा सदा गतिः॥
उत्तमोत्तमम् एतद्धि पूर्वम् उत्तमम् ईरितम्॥२५०॥

[प्र] यज्ञाः इति, भारते हि यज्ञानां तीर्थानां च तुल्यता निरूपिता[१]. तत्र अटनप्रकारम् आह अतः तेषु अप्रतिग्राही इति. तीर्थप्रवेशदिवसेतु उपवासः. अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, नतु ततो अधिकम्. अटनस्य नित्यत्वाद् न चिरकालं स्थितिः. उच्चैः नामसङ्कीर्तनं तत्र अङ्गम्, अन्तः भगवत्स्मरणञ्च. एकाकी पर्यटेद्, न अत्र ''नैकः प्रपद्येत अध्वानम्'' (मनुस्मृ.४।७) इति स्मृतिदोषः. पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या. शान्तश्च चित्ते भवेत्. एवम् अधिकाराभावे भिन्नम् उपायं वक्ष्यति. कृष्णएव तात्पर्यं नतु तीर्थादौ. देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनं, ''देहान्ते कृतार्थो भविष्यामि'' इति सदा शुद्धश्च भवेत्. सन्ध्यावन्दनवत् प्रत्यहं तस्य गमनम्. अस्मिन् पक्षे अन्तः कृष्णः सदा स्फुरतीति उत्तमोत्तमम् ॥२४८-२५०॥

[टि] **यज्ञाः** इति मूले. **हरिणा** निमित्तेन **कृताः यज्ञाः तीर्थानि च समानि** इति अर्थः. न अत्र **नैकः** इति, भिन्नाधिकारत्वाद् इति भावः ॥२४८-२५०॥

[प्र] पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षम् आह :

[का] **अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात् ॥**
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ॥२५३॥
वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत् ॥
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णमवाप्नुयात् ॥२५४॥

[प्र] अथवा इति. बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्. नाम्नि

१.द्रष्ट. : ''यद् अव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः तेन तीर्थानि यज्ञाः च सेवितव्याः विपश्चिताः'' (महाभा.१२।३०६।१०१) (सम्पा.)

चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः ॥२५३-२५४॥

[टि] **पूर्वाधिकार**... इति, पूर्वोक्त-बाह्यभजना-ऽऽन्तरभजनासम्भवे इति अर्थः. **नाम्नि** इति, श्रीभागवतस्यापि भगवद्रूपत्वात् तेनापि निस्तरेद् इति भावः. अतएव स्कन्दपुराणे "**नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः, प्रत्यक्षरं भवेत् तस्य कपिलादानजं फलं, श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवं, पठते शृणुयाद् यो यस्तु गोसहस्रफलं लभेत्, यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत!, अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ... ये अर्चयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं कलौ, आस्फोटयन्ति इव वल्गन्ति तेषां प्रीतो भवामि अहं, ये अर्चयन्ति सदा गेहे, शास्त्रं श्रीमद्भागवतं नराः, प्रीणिताः तैः च विबुधाः यावद् आभूतप्लवं, श्लोकार्धं श्लोकं पादं वा वरं भागवतं गृहे, शतशो अथ सहस्रैः च किम् अन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः, कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ, गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचाद् अधिको हि सः, यत्र-यत्र भवेद् पुण्यं शास्त्रं भागवतं कलौ, तत्र-तत्र सदैवाहं भवामि त्रिदशैः सह, तत्र सर्वाणि तीर्थानि नदी-नद-सरांसि च, यज्ञाः सप्तपुरी नित्यं पुण्याः सर्वशिलोच्चयाः... श्लोकं भागवतञ्चापि श्लोकार्धं पादमेव वा, लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य वसामि अहम्**" (स्कन्दपुरा.२।५।१६।३१-५०). पद्मपुराणे च "**अम्बरीष! शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु, पठस्व स्वमुखेनापि यदि इच्छसि भवक्षयम्**" (द्रष्ट.पद्मपुरा.६।१९५।३६) इत्यादि॥२५३-२५४॥

[प्र] प्रपत्तिमार्गम् आह :

[का] **जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा॥**
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः ॥२५५॥
एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गति-साधनसंयुतम्॥

कर्ममार्गे प्रवक्ष्यामि भ्रान्तानां बहुशः फलम्॥२५६॥

[प्र] जगन्नाथे विट्ठले च इति. विकल्पएव एषां स्थानानां, प्रपत्तौ ब्रह्मास्त्रन्यायस्य बाधकत्वात्. पूजाप्रवाहो भगवत्सान्निध्यप्रबोधकः. एवं वैदिको भक्तिमार्गश्च निरूपितः इति आह एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम् इति. सर्वत्रैव जगति फलं वर्तते इति सर्वत्र फलं साधनं च आह कर्ममार्गे इति॥२५५-२५६॥

[टि] **प्रपत्तिमार्गम्** इति. "भगवानेव मम ऐहिके परलोके च गतिः, अहं भगवद्दासः" इति निश्चयेन भगवत्परतया भगवन्महास्थाने स्थितिः प्रपत्तिमार्गः इति अर्थः. **तत्र तिष्ठेत** इति मूले. "त्वद्दासो अहं, सर्वार्थे त्वामेव आश्रितः" इत्याद्यभिप्रायं प्रकटयन् तिष्ठेद् इति अर्थः. "**प्रकाशनस्थेयाख्ययोः च**" (पाणि.सू.१।३।२३) इति आत्मनेपदम्. **प्रपत्तौ** इति, एकत्र अवस्थाने च एकं भगवद्रूपम् आश्रित्य रूपान्तरे वचनेनापि न अवज्ञा कार्या इति भावः. **ब्रह्मास्त्रन्यायः** "**एकं ब्रह्मास्त्रम् आदाय न अन्यं गणयतः क्वचिद्**" (खंड.खं.खा.१।२) इत्येवंरूपः. **एवं वैदिकः** इति. वैदिकमार्गस्य ज्ञानान्तत्वाद् योग-साङ्ख्ययोः ज्ञानाङ्गत्वात् प्रपत्तिमार्गस्य भक्तिमार्गान्तर्गतत्वात् फल-साधनसहितं मार्गद्वयमेव उक्तम् इति अर्थः॥२५५-२५६॥

[का] सर्वेषां पुनरावृत्तिस्तथा कर्म पुनर्भवः॥
एवं त्रयीधर्मपराः गतागतमवाप्नुयुः॥२६४॥

[प्र] सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं सत्त्वादितारतम्येन फलकल्पना : पितृलोको भूतलोकः सर्पलोकश्च इति. तामसानां फलं नवविधं निरूप्य भगवद्वाक्येन उपसंहरति एवं त्रयीधर्मपराः इति॥२६४॥

[टि] **सर्वेषाम्** इति मूले. "आब्रह्मभुवनाद्" (भग.गीता.८।१६)

इति वाक्यात् ते सर्वे पुनरावर्तन्ते = पूर्ववासनया पुनः तादृशमेव कर्म कुर्वन्ति इति अर्थः ॥२६४॥

[प्र] प्रकीर्णकानां फलं वक्तुं नानादेवोपासकानां फलम् आह :

[का] तत्तद्देवोपासकानामाजन्मोपासने फलम् ॥
तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानामनेकधा ॥
पौराणिकानां च तथा निषिद्धेतरभावतः ॥२६५॥

[प्र] तत्तद्देवोपासकानाम् इति, वेदोक्तानाम् अग्न्यादीनां देवोपासनाबुद्ध्या अग्निहोत्रादिकरणे भेदबुद्धेः विद्यमानत्वात् तत्तद्देवता-सायुज्यम्. पौराणिकाः दुर्गा-गणपतिप्रभृतयः ॥२६५॥

[टि] भेदबुद्धेः इति, ब्रह्मत्वेन सर्वज्ञानाभावाद् इति अर्थः ॥२६५॥

[प्र] तदेव उपपादयति :

[का] कृपयाऽधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत् क्वचित् ॥
अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित् ॥
हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत् क्वचित् ॥२६९॥

[प्र] कृपया इति, अधमतां प्राप्य स्थितं भक्तं कृपया क्वचिद् मोचयेदिति निषिद्धस्य अन्ते सद्रूपेण आविर्भावः. विहितस्य अन्ते निषिद्धरूपेण आविर्भावम् आह अनियुक्ततपस्यानाम् इति, आज्ञाव्यतिरेकेण ये तपः कुर्वन्ति तेषाम् अन्ते भगवतः पीडया क्रोधो भवति, ''मां चैव अन्तःशरीरस्थम्'' (भग.गीता.१७।६) इति वाक्यात्. तदा हीनभावं नयति नरकं श्वादियोनिं वा. भगवदिच्छया तुष्टः चेत् तमपि क्वचिद् मोचयेत्. अतः ईश्वरचर्या दुर्विभाव्या ॥२६९॥

[टि] आज्ञाव्यतिरेकेण इति, शास्त्राद्याज्ञां विना इति अर्थः ॥२६९॥

[प्र] अतएव भगवान् स्वाभिप्रायं कर्ममार्गे निरूपयति इति आह :

[का] **कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः ॥**
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥२७०॥
अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः ॥
अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम् ॥२७१॥

[प्र] **कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्** इति, विहितेऽपि विचारः कर्तव्यः : ''किं भगवदिच्छा अस्ति तथा सति कर्तव्यं नो चेद् न कर्तव्यम्'' इति. तथा **विकर्मणः** तूष्णीम्भावादपि. कलौ अग्निहोत्रादिकं न कर्तव्यम् इति. अत्रापि विचारः कर्तव्यः : किम् ईश्वरेच्छा करणे अकरणे वा इति. तथा निषिद्धेऽपि विचारः कर्तव्यः : किं ब्राह्मणः हन्तव्यो न वा इति. भगवदिच्छायां हननमेव हितकारि, यथा द्रोणादीनाम्. अतएव **कर्मणो गतिः गहना** फलं दुर्निरूपम् इति अर्थः. उपसंहरति **अतश्च सुतरामेव** इति. तर्हि किं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **अतोऽपि भजनं कार्यम्** इति. ननु भजनेऽपि एवं चेत् को विशेषः स्यात्? अतः आह **भजनेन हि तादृशम्** इति. भगवदिच्छाभावेऽपि भजने भजनमेव परं न निर्वहेद्, नतु अनिष्टं किञ्चित् ॥२७०-२७१॥

[टि] **तथा विकर्मणः** इत्यारभ्य द्रोणादीनाम् इत्यन्ते. भगवदिच्छां वेदात् ततो वा ज्ञात्वा यत् कृतं तद् इष्टसाधनमेव. अतएव श्रुत्या यावज्जीवम् अग्निहोत्रविधानात् कलौ स्मृत्या निषिद्धमपि अग्निहोत्रादि कर्तव्यमेव. तथा ''**आततायिनम् आयान्तम्**'' (वसि.स्मृ.३।१८) इति वाक्याद् ब्राह्मणवधे प्राप्तेऽपि ईश्वरेच्छायां हननमेव वरं, तदभावे हननाभावएव. अतएव अर्जुनेन द्रोणादीनां हननम् अश्वत्थाम्नो अहननं

च. यथा स्मृत्याद्यपेक्षया वेदाज्ञा बलिष्ठा तथा मदाज्ञा सर्वापेक्षया बलिष्ठा इति भावः ॥२७०-२७१॥

[प्र] इदानीम् उपासनामार्गस्य फलम् आह :

[का] जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो यद् उदाहृतः ॥
प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलं परिकीर्तितम् ॥२७३॥

[प्र] जायस्व इति. वेदेएव तृतीयो मार्गो निरूपितः. कर्ममार्गेऽपि देवताप्राधान्ये इदमेव फलम् ॥२७३॥

[टि] ननु जायस्व इति म्रियस्व इति प्रवाहमार्गे किं फलं, किं वा प्रमाणम् इत्यतः आहुः **वेदेएव** इति. वेदे यः तृतीयः उपासनामार्गो ज्ञानकाण्डान्तर्गतः उदाहृतः सएव प्रवाहमार्गो, तएव त्रिविधानां जीवानां भगवता देवाद्युपासनं प्रतिपादितम्. अतएव प्रकीर्णकानां यद् ज्ञानि-भक्तातिरिक्तानाम् उपासनामार्गीयं फलं प्रकीर्तितम् इति अर्थः ॥२७३॥

[प्र] प्रसङ्गाद् योग-साङ्ख्ययोः फलम् आह :

[का] ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम् ॥
बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ॥२७४॥
साङ्ख्येऽपि भगवच्चित्ते फलमेतन्न चान्यथा ॥
समर्पणात् कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥२७५॥

[प्र] ईश्वरालम्बनम् इति, योग-साङ्ख्य-कर्माणि भगवदिच्छया कृतानि भक्तिं जनयन्ति इति अर्थः. एतद् नियतफलम् ॥२७४-२७५॥

[टि] **भगवदिच्छया** इति, भगवद्विषयिण्या इति अर्थः ॥२७४-२७५॥

[प्र] इदानीं निषिद्धयोगमार्गादेः स्वरूपं फलं च आह :

[का] योगेनतु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्ध्यति ।।
तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु सत्फलम् ।।
अन्यथा नरके पातो दृढभूमौतु संस्थितिः ।।२७६।।

[प्र] योगेनतु इति. निषिद्धो योगः कापालिको महादेवेन ऊर्ध्वमुखेन उक्तः. तदुक्तप्रकारेण यदि देहः सिद्धः तदा कल्पान्तपर्यन्तं भगवद्ध्यानात् सदेव फलम्. आदौ अल्पं निषिद्धं ध्याने हन्यते. देहनाशेतु नरके पातः. दृढभूमौ योगारम्भे सिद्धे जन्मान्तरे पुनः पूर्ववासनया योगाभ्यासाद् मुच्यते. अतः पाक्षिकापायो मार्गः ।।२७६।।

[टि] दृढभूमौ इति, योगारम्भे दृढसंस्कारो यदि जायेत तदा जन्मान्तरे पूर्वसंस्कारेण योगाभ्यासाद् मुच्यते इति अर्थः ।।२७६।।

[प्र] शाक्तमार्गस्तु सर्वथैव निषिद्धः इति अभिप्रायेण आह :

[का] छलयोगस्तथा साङ्ख्यं शाक्तो मार्गोऽभिधीयते ।।
सिद्धान्ताश्च तथा कौलाः लोकातीतविभेदतः ।।२७७।।

[प्र] छलयोगः तथा साङ्ख्यम् इति, साङ्ख्य-योगौ मिलितौ धर्ममार्गविरोधेन अमेध्यभक्षण-सुरापानादिपोषितौ = शाक्तो मार्गः. तत्र सप्त भेदाः : वैदिकाः वैष्णवाः शैवाः शाक्ताः वामाः सिद्धान्ताः कौलाः. अतः परं न इति तेषां ग्रन्थः. तत्र स्वरूपं फलं च अन्तिमयोः आह सिद्धान्ताश्च तथा कौलाः इति. सिद्धान्तः : आसुरं सर्वं मिथ्या इति. कर्म सर्वथा त्यक्तव्यं, बाधकम् इति, तथा भक्तिरपि ।।२७७।।

[टि] साङ्ख्य-योगौ इति, छलरूपौ साङ्ख्य-योगौ इति अर्थः ॥२७७॥

[प्र] एतन्निरूपणस्य प्रयोजनम् आह :

[का] सप्तापि सर्वथा त्याज्या भगवान्मार्गवर्तिभिः ॥
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वम् अन्तरानन्तमार्गिणः ॥२८२॥

[प्र] सप्तापि सर्वथा त्याज्या इति, महापातकिसंसर्गेऽपि महापातकित्वश्रवणात्. एवं निषिद्धान् शाक्तान् निरूप्य बौद्धान् निरूपयति बौद्धाः चतुर्विधाः इति, माध्यमिकाः सौत्रान्तिकाः विज्ञानवादिनः चार्वाकाः च इति. तेषाम् अवान्तरभेदाः कोटिशः सन्ति ॥२८२॥

[टि] महापातकिसंसर्गेऽपि इति. अतएव ब्रह्माण्डपुराणे "शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिक-नास्तिकान्, विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलम् आविशेद्" (ब्रह्माण्डपुरा. । ।). अनेन तेषां स्पर्शे सचैलं स्नानम् उक्तम् ॥२८२॥

[का] लोभोऽतिकिञ्चिद् उद्भेदो धर्मयोः सुख-दुःखयोः ॥
मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्मवत् सुख-दुःखयोः ॥२९०॥
मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्येऽन्यस्य केवलः ॥
अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्गम एव च ॥२९१॥

[प्र] लोभस्तु सुख-दुःखधर्मयोः उभयोरपि किञ्चिद् उद्भेदः. मोहस्तु द्विपत्रवद् एकमूलो द्विरूपो धर्मयुक्तः सुख-दुःखयोः किञ्चिद् उद्भेदरूपः. मद-मात्सर्ययोः स्पष्टम्. अधर्माभासे धर्माभासे च तानि फलानि इत्येतदर्थं निरूपितानि ॥२९०-२९१॥

[टि] **लोभो अतिकिञ्चिद्** इति मूले, सुख-दुःखयोः अत्यन्तम् उद्भेदः किञ्चिदुद्भेदः च लोभः इति अर्थः. **मोहस्तु** इति, एकः स्नेहमूलको मोहः सुख-सुखवद्विषयकः सुखरूपो, दुःख-दुःखवद्विषयको दुःखरूपः इति अर्थः. **अन्येषाम्** इति मूले, अन्येषां सच्चिदानन्दरूपाणां ये धर्माः ते तत्तद्रूपाएव इति अर्थः ॥२९०-२९१॥

[प्र] कदा भवन्ति इति आकाङ्क्षायाम् आह :

[का] **विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः ॥**
प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोऽन्यानि भवान्तरे॥२९२॥

[प्र] **विपाकः कर्मणाम्** इति, अल्पफलानि बहुकाले पक्वानि भवन्ति. उपचितावयवत्वमेव पाकः, ऊष्माधिक्याद् ; एवं कर्मणामपि विपाको ज्ञेयः. इदानीम् अविपक्वानि कालान्तरे पक्वानि भवन्ति. स्वरूपनाशस्तु प्रायश्चित्तादिनापि भवति. क्रमक्षयस्तु भोगेनैव॥२९२॥

[टि] **क्रमक्षयः** इति, क्रमेण क्षयः इति अर्थः ॥२९२॥

[प्र] अत्र भोक्तारं निरूपयति :

[का] **एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमात्रतः ॥**
स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाद् जीवो दुःखी निगद्यते॥२९३॥
अग्र-पश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः ॥
अग्रोद्गमानुद्गमनैः सुख-दुःखे तनोति हि॥२९४॥

[प्र] **एते सर्वे** इति, अन्तःकरणधर्माएव एते जीवसान्निध्यात् स्फुरिताः स्वाश्रयाविवेकिनम्, अन्तःकरणाविवेकेन प्रवर्तमानं मिलिताः स्वव्यपदेशं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तदा "जीवः सुखी / दुःखी"

इति वा लोके व्यवहारो भवति. ननु एते आत्मधर्माः कुतो न भवन्ति? अन्तःकरणधर्मत्वे वा किं प्रमाणम्? तत्र आह : अग्रपश्चाद्भावतः इति. कर्मस्वरूपो भगवान् अन्तःकरणएव प्रकटो भवति, न आत्मनि. अतः सुख-दुःखादयो अन्तःकरणस्यैव धर्माः इति उच्यते. सच कर्मात्मा विधि-निषेधप्रकारेण स्फुरितः पूर्वोक्तन्यायेन सुख-दुःखे तनोति॥२९३-२९४॥

[टि] **स्वाश्रयाविवेकिनम्** इति, सुखाद्याश्रयविवेकरहितम्. तेनैव सुखार्थं दुःखाभावार्थं वा **प्रवर्तमानं** जीवं संयुक्तं समवायेन अन्तःकरणाध्यासेन वा **मिलिताः** सुखादयः **स्वव्यपदेशं** स्वसम्बन्धिशब्दप्रयोगं **प्राप्नुवन्ति,** नतु तं विहाय स्वविशिष्टबुद्धिं तस्मिन् जनयन्ति इति अर्थः. **अग्रपश्चाद्भावतः** इत्यारभ्य **तनोति** इत्यन्ते. "**परार्ध्याग्रप्राग्रहर...**" (अम.को. ३।१।५८) इति कोशाद् 'अग्र'शब्दस्य श्रेष्ठवाचकत्वाद् अग्रभावतो = धर्मरूपेण पश्चाद्भावतः = पापरूपेण विधि-निषेधप्रकाराभ्याम् अन्तःकरणएव स्फुरितः कर्मस्वरूपो भगवान् मनस्येव सुख-दुःखे तनोति. यतो "मनसि मे हर्षो, मनो मे दुःखितम्" इत्याद्यनुभवात् पुराणप्रामाण्यात् च सुखादीनां मनोधर्मत्वे सिद्धे जातेष्टिन्यायेन[१] धर्माधर्मयोरपि फलसमानाधिकरणत्वं कल्प्यते इति भावः. मूले बहुवचनं धर्माधर्मयोः ईषदादिभेदेन प्राकट्ये अनेकविधत्वज्ञापनार्थम् ॥२९३-२९४॥

[प्र] तस्यापि निवृत्त्युपायम् आह :

[का] सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद् व्यथा॥
साच विद्योदये साच न शब्दात् सुविचारितात्॥२९६॥

१.जातेष्टिकर्म तावद् काम्यं नैमित्तिकं च, पुत्रकामनापूरणात् काम्यं कर्म तद् भवति पुत्रे जाते शास्त्रविधानात् च नैमित्तिकं च भवति. एकस्मिन् धर्मस्य कर्तरि सुखजनकं तत्रैव किञ्चिद् धर्मानुष्ठानेन दुःखमपि जननमिति न विरोधः(सम्पा.)

[प्र] सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि इति, व्यथा पीडा. सर्वाध्यासनिवर्तकन्तु ज्ञानं, न इदानीन्तनानां न इदानीन्तन-शास्त्रानुसारेण, इति निरूपयति साच इति. अविद्यानिवृत्तिः विद्योदये, विद्या च शब्दाद् न जायते. सङ्घातस्थितो हि आत्मा सदा अनुभूयते. श्रुतिः पुनः सङ्घातव्यतिरिक्ततां बोधयन्ती अननुभूत-ब्रह्मात्मभावं वा बोधयन्ती पूर्वज्ञानेन बाधिता दुर्बला भवति. अतो वैराग्यादिसाधनैः सहिता मनन-निदिध्यासनाभ्यां युक्ता अभ्यासेन बलिष्ठा मनसि ''ब्रह्म अहम् अस्मि'' इति वृत्तिम् उत्पादयति. तदा अनुभवपरम्परया पूर्वानुभवो बाध्यते. तत्र शब्दस्य सहकारित्वं, मनसः तादृशस्य करणत्वम्. येतु पुनः शब्दस्य करणत्वम् आहुः ते भ्रान्ताएव. नहि आत्मविषयकेषु ज्ञानेषु मनोऽतिरिक्तं करणं भवति, बहिरिन्द्रियाणां ग्राहकाणां बहिर्विषयएव सामर्थ्यात्. अतः आत्मनो धर्मो ब्रह्मत्वलक्षणो न बाह्यो दशमत्वादिवत्. सच देहधर्मो देहेष्वेव अपेक्षाबुद्ध्या जन्यते. अतो ''दशमो अहम्'' इति देहरूपम् आत्मानं शब्दाद् जानतोऽपि न ब्रह्मरूपानुभवः तदा इति सिद्धान्तः. किञ्च ''दशमो अहम्'' इति चाक्षुषज्ञानं, शब्दे 'युष्मच्'छब्दप्रयोगात्. नहि शब्दः पदस्मारित-पदार्थोल्लङ्घनेन वाक्यार्थं जनयति. अतो 'युष्मच्'छब्देन 'अस्मच्'छब्दज्ञानं (न!) जनयिष्यति. तथा जायमानं चक्षुषा मनसा वा जायते इति अङ्गीकर्तव्यम् इति आह न शब्दात् सुविचारिताद् इति ॥२९६॥

[टि] अननुभूत-ब्रह्मात्मभावम् इति, अननुभूतस्य ब्रह्मणः आत्माभेदम् इति अर्थः. न बाह्यः इति, दशमत्वादि-सङ्ख्यावद् न बहिरिन्द्रियग्राह्यः इति अर्थः. सच इत्यारभ्य सिद्धान्तः इत्यन्ते अथ अग्रे अस्तु इति शेषः. दशमत्वादिधर्मो देहविषयिण्या नानैकत्वावगाहिन्या बुद्ध्या जन्यते, परात्मनो अप्रत्यक्षत्वादिति दशमत्व-साक्षात्कारवद् न ब्रह्माभेदसाक्षात्कारः इति अर्थः. शब्दे इति, ''दशमः त्वम् असि''

इति वाक्ये इति अर्थः. **अतः** इति, यतः पदस्मारितार्थान्वितं स्वार्थं शब्दो बोधयति, न प्रकारान्तरोपस्थितार्थान्वितम्, **अतो** "दशमः त्वम् असि" इति वाक्यं **'युष्मच्'छब्देन 'अस्मच्'छब्दार्थज्ञानं जनयिष्यति** किम्? न जनयिष्यत्येव. तर्हि कथं जायते? तत्र आहुः **तथा** इति. शाब्दज्ञानसहकृतेन **चक्षुषा मनसा वा जायते** इति अर्थः ॥२९६॥

[प्र] दूषणान्तराणि आह :

[का] मर्यादाभङ्गएव स्यात् प्रमाणानां तथा सति॥
गजानुमानं नैव स्यात् साङ्कर्यं वा तथा भवेत्॥२९७॥

[प्र] मर्यादाभङ्गएव स्याद् इति, ज्ञानन्तु प्रमाणाधीनं, न प्रमेयाधीनं ; "मानाधीना मेयसिद्धिः" (. । ।) इति. अन्यथा लोके मर्यादाभङ्गः स्यात्. "तं घटम् आनय" इत्यत्र वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात्. चीत्कारेण गजानुमानं च न स्यात्. प्रत्यक्षत्वं जातिः, परोक्षत्वं च ज्ञानं; तयोरपि अनुभवाद् अतः साङ्कर्यं च भवेत्॥२९७॥

[टि] ननु दृष्टानुसारिणी कल्पनेति उक्तस्थले शब्द-लिङ्गयोः प्रत्यक्षजनकत्वमेव अस्तु, प्रत्यक्षसहकारेण वा को दोषः? तत्र आहुः **प्रत्यक्षत्वम्** इत्यारभ्य **भवेद्** इत्यन्तम्. प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्वयोः योग्यव्यक्तिवृत्ति-जातित्वेन योग्यत्वात् शब्द-लिङ्गयोः प्रत्यक्षजनकत्वे तत्र "साक्षात्करोमि" इति अनुव्यवसायप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षसहकारेण इति चेत् कार्यतावच्छेदक-जात्योः सत्त्वात् "साक्षात्करोमि - अनुमिनोमि" इत्याद्यनुव्यवसायप्रसङ्गाद् इति अर्थः ॥२९७॥

[प्र] दशमवाक्यम् अन्यथासिद्धम् इति भ्रान्तानां मतेन दृष्टान्तः इति आह :

[का] दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः ॥
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः ॥
स्मारकत्वमतो वाक्ये सङ्ख्याज्ञानं पुरा यतः ॥२९८॥
अध्यासस्यानिवृत्तत्वान्न विविक्तात्मदर्शनम् ॥
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा भवेत् ॥२९९॥

[प्र] दशमः त्वम् असि इति, ''दशमः अहम्'' इति देहाभिन्नज्ञानं, प्रकृते तदभावम् आह अध्यासस्य इति. प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरमेव हि कार्योदयः. अतो अध्यासस्य प्रतिबन्धकत्वाद् न शब्दाद् ज्ञानमपि उदेति इति भावः. अतएव महता साधनेन तद् जन्यते. अतः शब्दसाहचर्येण मनसापि तज्जनयितुं शक्यं न इति अर्थः. विपरीते बाधकम् आह अन्यथा इति. शब्दश्रवणमात्रेणैव तज्ज्ञाने जाते सर्वसाधनवैयर्थ्यम् इति ॥२९८-२९९॥

[टि] दशमो अहम् इत्यारभ्य भावः इत्यन्ते. ''दशमो अहम्'' इत्यत्र देहाभिन्नात्मज्ञानं जायते. ''तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यत्र केवलात्मनो ब्रह्माभेदज्ञानम् अपेक्षितम्. तद् देहाध्यासादेः विद्यमानत्वात् केवलात्मनो अनुपस्थितत्वात् शब्देन, तत्सहकृतेन मनसा वा, न जनयितुं शक्यम् इति अर्थः. **अध्यासस्य** इति मूले **अन्यथा** इत्यस्य आवृत्तिः ज्ञेया. तेन **अन्यथा**पदस्य अग्रेऽपि अन्वयः. **अन्यथा** शब्देन **विविक्तात्मदर्शनं कर्तुं न शक्यं, मनसा च कर्तुं न** शक्यम् इति अर्थः. ''श्रीमद्विट्ठलम्'' इत्यत्र इव 'च'काराऽप्रयोगः ॥२९८-२९९॥

[प्र] मुख्यज्ञानेनाऽपि अध्यासनिवृत्तिः नास्ति इति आह :

[का] प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया ॥
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत् ॥
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम् ॥३००॥

[प्र] **प्रत्यक्षेणापि** इति, स्वप्नप्रबोधो यथा न निद्राव्यावर्तकः तथा जीवप्रयत्नसाध्यो न कदापि अविद्यानिवर्तको, मायाधीनत्वात् तेषाम्. यथा सा नानावस्थाः सम्पादयति तथा ज्ञानावस्थामपि सम्पादयतीति यैव मायानिवर्तिका सैव अध्यासं निवर्तयति, न अन्या इति अर्थः. ''ज्ञानिनामपि चेतांसि'' (मार्क.पुरा.८१।४२) इत्यादिवाक्यानि च बाधकानि. किञ्च जीवस्य आत्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं ब्रह्मस्वरूपज्ञानानन्तरमेव, अन्यथा रजतज्ञानरहितस्यापि शुक्तिकायां रजतभ्रमो भवेत्. अतः पूर्वं ब्रह्मज्ञानम् अपेक्षितम्. तेनैव कार्यसिद्धौ आत्मज्ञानं व्यर्थम्, अपरोक्षत्वाय तथात्वेऽपि एकदेशएव तथाभानम् अनर्थमेव निवारयेद्, न फलं साधयेद् इति. ब्रह्मज्ञानं पूर्वं जातं निष्फलं भवेत्. सर्वज्ञत्वं च तस्य लक्षणम्।।३००।।

[टि] **अध्यासनिवृत्तिः** इति, सवासनाध्यासनिवृत्तिः इति अर्थः. **स्वप्नप्रबोधः** इत्यारभ्य **बाधकानि** इत्यन्ते. जीवानां मायाधीनत्वाद् माया स्वतएव. ज्ञानप्रकाशिकया मायया नानावस्थावद् ज्ञानमपि जायतइति अविद्यामूलसत्त्वाद् यथा निद्रायाम् एवं स्वप्नानन्तरं जातः प्रबोधो न निद्रानिवर्तकः तथा जीवप्रयत्नसाध्यो अनुभवो न अत्यन्तम् अविद्यानिवर्तकः, पुनरुद्भवात्. अतो मायानिवर्तिका ईश्वरप्रपत्तिरेव सर्वथा निवर्तिका, ''**ज्ञानिनामपि**'' (मार्क.पुरा.८१।४२) इत्यादिवाक्यानां विपक्षबाधकत्वाद् इति भावः. **जीवस्य** इत्यारभ्य **व्यर्थम्** इत्यन्ते. ''अहं ब्रह्म अस्मि'' इति विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य कारणत्वाद् जाते तस्मिन् जीवात्मज्ञानं व्यर्थं स्यात्. ब्रह्मज्ञानेनैव सर्वाज्ञाननिवृत्तेः तदभावविशिष्टज्ञानमपि दुर्लभम् इति भावः. ननु यद्विषयकम् अज्ञानं तद्विषयकज्ञानेन निवर्तते. साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनं विरोधीति इतरभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वेन आत्मसाक्षात्कारो अपेक्षितः. सच ईश्वरसाक्षात्कारं विना न भवति, ''**सहि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षात्कारस्य उपकरोति**'' (.उप. । ।)

इति श्रुतेः, इत्यतः आहुः **अपरोक्षत्वाय** इति. एवमपि सति आत्ममात्रएव ब्रह्मज्ञानात् शोकनिवृत्तिरेव भवेद्, न अधिकं फलम् इति अर्थः ॥३००॥

[प्र] तत्रापि केचिद् मन्दमतयः आत्मज्ञानमेव सर्वज्ञानमिति वदन्ति. तद् निराकरोति :

[का] सर्वो न ब्रह्म सर्वन्तु वामदेवस्तथा जगौ ॥
अवयुत्याऽगर्भवासी सूर्याद्यनुवदन्मुहुः ॥३०१॥
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात् पाषण्डवचनं मतम् ॥
सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन्न चान्यथा ॥३०२॥

[प्र] सर्वो न ब्रह्म इति. तु पुनः सर्वमेव 'सर्व'शब्देन उच्यते. यतो वामदेवः अगर्भस्थितो हि "अहं मनुः अभवं सूर्यः च" (ऋक्.संहि.४।२६।१) इति 'सर्व'शब्दार्थरूपान् मन्वादीन् अनुवदति. अतः तथावक्तारो ज्ञानदुर्बलवादिनः इति मन्तव्याः. ज्ञानस्य दुर्लभत्वम् आह सत्ये युगे इति ॥३०१-३०२॥

[टि] **तत्रापि** इति. केचित् "सर्वे आत्मानो ब्रह्मरूपाः, प्रतिबिम्बस्वीकाराद्. अन्यत् सर्वं ज्ञानविलासमात्रम्, अतः आत्मनि ब्रह्मत्वेन ज्ञानमेव सर्वब्रह्मज्ञानम्" इति वदन्ति इति अर्थः. सिद्धान्तकथनेन तेषां मन्दमतित्वम् आहुः **तु पुनः** इति. "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७), "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**" (छान्दो.उप.३।१४।१), "**स वै सर्वम् इदं जगद्**" (महाना.उप.२३।१) इत्यादिश्रुतौ 'इदं'-'जगत्'शब्दयोः 'सर्व'पदसामानाधिकरण्यात् सर्वमेव जगत् 'सर्व'शब्देन उच्यते, न आत्ममात्रम् इति अर्थः. मन्दमतयः कुतः कथं च वदन्ति? इति आकाङ्क्षायां सप्रकारं प्रसिद्धं हेतुं निर्दिशन्ति **यतः** इत्यारभ्य **मन्तव्याः** इत्यन्तेन. कश्चिद् वामदेवः स्वस्य ब्रह्माभेदज्ञानेन सर्वरूपो अहमिति अहम् अगर्भस्थितएव मनुः अभवं सूर्यः च इत्येवं

पृथक्कृत्य स्वस्य सर्वरूपत्वानुवादं कृतवान्. भ्रान्तास्तु तादृशं ज्ञानेनैव तथा व्यवहारः इति निरूपितवन्तइति **तथावक्तारो** वादिनो **ज्ञानदुर्बलाः** भ्रान्ताः इति अर्थः. **सत्ये** इति, सत्ययुगसाधनसदृशे साधने सति इति अर्थः ॥३०१-३०२॥

[प्र] **प्रमाणम् आह :**

[का] **इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ॥**
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥३०४॥
'एव'कारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वमाह हि ॥
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ॥
विश्वासं सर्वतः त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः ॥३०५॥

[प्र] **इदमेव इति, ''ज्ञानीतु आत्मैव मे मतः'' (भग.गीता.७।१८) इति ज्ञानप्रशंसावाक्यं भक्तेः उत्कर्षार्थमेव, ''तपस्विभ्योऽधिको योगी'' (भग.गीता.६।४६) इत्यत्र तथा निरूपणात्. ''न तथा मे प्रियतमः'' (भाग.पुरा.११।१४।१५) इत्यत्र स्पष्टमेव आत्मनोऽपि माहात्म्यं भक्तस्य, अन्यथा गुह्यत्वेन ज्ञानानन्तरं भक्तिं न वदेत्. तद् आह 'एव'कारेण सर्वेषाम् इति. फलितम् आह ज्ञानादीनाम् इति ॥३०४-३०५॥**

[टि] **ज्ञानी** इत्यारभ्य **निरूपणाद्** इत्यन्ते. अत्र ज्ञानिनः आत्मतुल्यत्वनिरूपणेऽपि ''**तपस्विभ्यो**'', ''**योगिनामपि**'' (भग.गीता. ६।४६-४७) इति श्लोकाभ्यां भगवता अर्जुनं प्रति तपस्वि-ज्ञानि-कर्मिभ्यो अधिकत्वेन निरूपित-योगिनो अपेक्षया भजतो अधिकत्वेन निरूपणाद् इति अर्थः. **न तथा** इति. ''**न तथा मे प्रियतमः आत्मयोनिः न शङ्करः, नच सङ्कर्षणो न श्रीः नैव आत्मा च यथा भवान्**'' (भाग.पुरा.११।१४।१५) इति एकादशे श्रीकृष्णेन उद्धवं प्रति सर्वापेक्षया आत्मापेक्षयापि प्रियतमत्वोक्तेः भक्तस्य माहात्म्यं स्पष्टमेव इति अर्थः.

अन्यथा इति. "**समासेनैव**" (भग.गीता.१८।५०) इत्यारभ्य "**इति ते ज्ञानम् आख्यातम्**" (भग.गीता.१८।६३) इति श्लोकान्तेन ज्ञानं निरूप्य "**सर्वगुह्यतमं भूयः**" (भग.गीता.१८।६४) इति प्रतिज्ञाय "**मन्मना भव**" (भग.गीता.१८।६५), "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**" (भग.गीता.१८।६६) इति श्लोकाभ्यां निरूपितज्ञानाद् गुह्यत्वेन भगवान् अर्जुनं प्रति भक्तिं न वदेद् इति अर्थः. '**एव**'**कारेण** इति, "**मामेव ये प्रपद्यन्ते**" (भग.गीता.७।१४) इति 'एव'कारेण इति अर्थः ॥३०४-३०५॥

[प्र] ननु भक्तस्यापि अन्ते ज्ञानं पश्चाद् मोक्षः इति कुतो न कल्प्यते? नहि आत्मनो अन्यः आत्मीयः प्रियो भवितुम् अर्हति! इति आशङ्क्य आह :

[का] न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन् कृष्णमनामयम्॥
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन्॥३०६॥

[प्र] न दृष्टः इति, श्रुतपूर्वोऽपि नास्ति दृष्टोऽपि नास्ति. अनामयं तमसः परम्. भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः इति तादृशी मुक्तिः '**सर्वथा**'पदेन उच्यते. तत्र दृष्टान्तम् आह **गोप्यो गावः तथा अभवन्** इति, "मत्स्वरूपाविदोऽबलाः","ब्रह्म मां परमं प्रापुः" (भाग.पुरा.११।१२।१३) इति वाक्यात्॥३०६॥

[टि] नहि आत्मनः इति, "**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**" (भग.गीता.१२।१४-१६) इति वाक्याद् भक्तस्य प्रियत्वेऽपि आत्मीयाद् भक्ताद् "**ज्ञानी तु आत्मैव मे मतः**" (भग.गीता.७।१८) इति वाक्याद् ज्ञान्येव उत्कृष्टः इति ज्ञानमेव अन्ते कल्प्यम् इति भावः॥३०६॥

[प्र] ननु एवं सति "**तमेव विदित्वा**" (श्वेता.उप.३।८) इति

विदित्वैव इति अर्थस्य विवक्षितत्वाद् जीवपक्षनिराकरणस्य अनङ्गीकारात् च कथम् एवम् उच्यते इति आशङ्क्य आह :

[का] आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मयोदितम्॥
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्॥३०७॥

[प्र] आपाततः इति. ये अस्माभिः ज्ञानादयः उपायत्वेन उक्ताः ते लोकानां प्ररोचनार्थं निरूपिताः. तथापि न बाधितार्थत्वं, भगवत्कृपायुक्तत्वे तेषामपि फलसाधकत्वात्. वचनन्तु प्ररोचनार्थं, वस्तुतस्तु कृपैव साधनम्. ''तमेव विदित्वा'' इति 'एव'कारो न अन्यथा व्याख्येयः. अतो न आत्मज्ञानं मुख्यफलसाधकम्. ''आत्मलाभाद् न परं विद्यते'' (आप.धर्मसू.१।८।२२।२) ''तरति शोकम् आत्मविद्'' (छान्दो.उप.७।१।३), ''अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते'' (बृह.उप.१।४।१०) इत्यादिवाक्येषु 'आत्म'शब्दो भगवद्वाचको, न जीववाचकः. अभेदापासना च श्रूयते. ''नहि(निन्दा!) निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते'' इति न्यायात्. ''नाऽसोमयाजी सन्नयेद्'' (तैत्ति.संहि.२।५।५।१) इति वाक्यात्. ''एकत्वेन पृथक्त्वेन'' (भग.गीता.९।१५) इति भगवद्वाक्यात्. अतो मूलज्ञानं साधनं भवदपि तावता न भवतीति प्रादुर्भावकरणात् प्रेमैव साधनम् इति निश्चीयते॥३०७॥

[टि] न अन्यथा इति, ''विदित्वैव'' इति न व्याख्येयः इति अर्थः. ननु ''तमेव विदित्वा'' (श्वेता.उप.३।८,६।१५) इति व्याख्याने जीवपक्षनिराकरणाद् ''आत्मलाभाद् न परं विद्यते'' (आप.धर्मसू. १।८।२२।२) इत्यादिषु जीवज्ञानस्य पुरुषार्थसाधकत्वं विरुध्येत इति आशङ्क्य न तेषु 'आत्म'पदं जीववाचकं किन्तु भगवद्वाचकम् इति आह आत्मलाभाद् इत्यारभ्य न जीववाचकः इत्यन्तेन. अभेदोपासना

इत्यारभ्य **निश्चीयते** इत्यन्ते. "**अथ यो अन्यां देवताम्**" (बृह.उप.१।४।१०) इत्यत्र अभेदोपासना स्तूयते, नतु भेदोपासना सर्वथा निन्द्यते. नहि निन्द्यम् अर्थं निन्दितुं वाक्यं प्रवर्तते अपितु विधेयम् अर्थं स्तोतुम्. यथा "**न असोमयाजी सन्नयेद्**" (तैत्ति.संहि.२।५।५।१) इत्यत्र सोमयाजित्वं स्तोतुं वाक्यप्रवृत्तिः, नतु असोमयाजित्वं सर्वथा निन्दितुम्. सर्वथा निन्दया निषेधपरत्वे "**न असोमयाजी सन्नयेत्, सन्नयेद्/अनागतं वा**" (तैत्ति.संहि.२।५।५।१) इति सूत्रं विरुध्येत. "**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्**" (भग.गीता.९।१५) इति गीतायां भेदाभेदाभ्याम् उपासनानिरूपणाद् भगवज्ज्ञानमेव साधनं भजनार्थं, परन्तु साक्षात्कारो अपेक्षणीयः इति तदर्थं प्रेम अपेक्षणीयम् इति अर्थः ॥३०७॥

श्रीकृष्णगोकुलपतेर्निजपालनैक-
नानाचरित्ररुचिनिर्जितमीनकेतो ॥
भक्तानुरागपरिभावितभावमूर्तेः
दासः कदापि कृपया सकृदीक्षणीयः ॥

॥ इति श्रीकल्याणरायविरचिता निबन्धसर्वनिर्णयटिप्पणी सम्पूर्णा ॥



॥ अथ भागवतार्थनिबन्धे तृतीयस्कन्धार्थटिप्पणी ॥

[प्रकाश] तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुः उक्तविवक्षितयोः संगतिम् आह :

[कारिका] अधिकारिषु सांगं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ॥
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥१॥

[प्र] **अधिकारिषु** इति, अधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः, सांगश्रवण-विधिः द्वितीयार्थः, तृतीयादि-दशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यते इति अर्थः ॥१॥

[टिप्पणी] तृतीयस्कन्धार्थनिबन्धविवृतौ... **श्रवणविधिः** इति, मूले **निरूपितम्** इत्युक्तेः सामान्यतो निरूपणम् आयाति इति आशंक्य श्रोतव्यत्वेन "**तस्माद् भारत**" (भाग.पुरा.२।१।५) इति विधानाद् अकरणे फलाभाव-प्रत्यवाय-बोधनार्थं तथा उक्तम् इति अर्थः. अतएव "**अपश्यताम् आत्मतत्त्वम्**" (भाग.पुरा.२।१।२) इत्यादिना तदकर्तृणां प्रथमतएव निन्दाकृतिः इति भावः. **श्रोतव्यविषयः** इति, श्रोतव्यो विषयो लीलारूपः **प्रतिपाद्यते** दशभिः स्कन्धैः इति अर्थः. एतेन स्कन्धद्वयस्य सर्वैरेव स्कन्धैः संगतिः अत्रैव प्रतिपादिता, न प्रत्येकं प्रतिपादनीया इति बोधितम् ॥१॥

[प्र] एवं दशानां साधारणम् अर्थम् उक्त्वा तृतीयस्कन्धार्थम् आह :

[का] त्रयस्त्रिंशद् अथाध्यायाः तृतीये सर्गवर्णने ॥
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ॥२॥

[प्र] **त्रयस्त्रिंशद् अथ अध्यायाः तृतीये सर्गवर्णने** इति,

एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थं **त्रयस्त्रिंशद् अथ अध्यायाः** इति उक्तम्. सर्वेषां सर्गएव अर्थः, ''**सर्गः कारणसम्भूतिः**'' (ह.ली.३।१) इति वाक्यात्. सर्गश्च लौकिका-ऽलौकिकभेदेन द्विविधः इति. अलौकिके त्रयस्त्रिंशद्देवाः सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्ति इति अविवादम्. लौकिकेऽपि अष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतबीजानि कालश्च इति त्रयस्त्रिंशत्प्रकारा सृष्टिः भवति. अतएव सर्गस्य विशेषणम् आह **स्वाभिप्रेते** इति, नतु सर्गो यः कश्चित् सृष्टिसाधारणः. तत्र **स्वाभिप्रेतः** पूर्वम् उक्तो लौकिकालौकिकभिन्नः, तत्रापि भगवद्रूपता सर्वत्र इति **विशेषः**, तत्रापि **स्वोपयुक्तार्थसहितो** मोक्षादिफलयुक्तः. जीवस्य हि द्विधा सृष्टिः : बहिः, स्वरूपे च. बहिःसृष्टिः लोके प्रसिद्धा. साहि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात् प्रलयो भवति. अतो मोक्षएव मुख्यसृष्टिः. अधिकारिदेहव्यतिरेकेण सः न भवतीति मोक्षार्थम् उत्पत्तिरपि निरूप्यते. तत्र गृहस्थस्यैव मुक्तिः सन्दिग्धेति दम्पत्योः मुक्तिनिरूपणम्. तत्र गृहस्थस्य मुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः. तस्यापि भक्तिः, ज्ञानं, योगः च आज्ञाकरणं च. तस्माद् एतत् सर्वं सर्गमध्ये इति **स्वोपयुक्तार्थसंयुते** इति उक्तम्॥२॥

[टि] **साधारणम्** इति, श्रोतव्यविषय-लीलारूपम् इति अर्थः. **एकदेशे** इति, स्कन्धैकदेशे इति अर्थः. तथा सति सम्पूर्णस्य स्कन्धस्य सर्गप्रतिपादकत्वं न स्याद् इति भावः. **सर्वेषाम्** इति, अध्यायानाम् इति अर्थः. यद्यपि भूतमात्रेन्द्रियभिन्न-जीव-काल-तत्त्वादीनामपि सृष्टिनिरूपणाद् न पूर्वोक्तलक्षणकः सर्गः सर्वत्र आयाति तथापि ''**सर्गः कारणसम्भूतिः**'' (ह.ली.३।१) इति वाक्याद् अधिकारिभूतादिसृष्टौ मुक्तियोग्यं तादृशं जीवं सृष्ट्वा आधिदैविकतत्त्वान्यपि सृष्ट्वा तादृशम् आधिदैविकं मोक्षोपयोगिनम् अलौकिकं कालमपि उत्पाद्य भगवान् मोक्षार्थं तथा भूतादीनि सृजतीति तेषामपि तत्कारणत्वाद् अत्र निरूपणम् उचितम् इति अर्थः.

लौकिका-ऽलौकिकभेदेन इति, सांख्य-वैदिकभेदेन इति अर्थः. उभयविधस्यापि त्रयस्त्रिंशदात्मकत्वं साधयन्ति **अलौकिके** इत्यादिना. **अलौकिके** वैदिके इति अर्थः. **त्रयस्त्रिंशद्देवाः** इति, ''**स जातो अत्यरिच्यतः**'' (ऋक्.संहि.१०।९०।५) इति श्रुतेः. 'स' विराट्पुरुषो ब्रह्मा पूर्वोक्त-सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टात् पुरुषाद् 'जातो अत्यरिच्यतः' अतिरिक्तः समृद्धः त्रयस्त्रिंशद्देवतारूपो जातः इति अर्थः. तथाच ब्रह्मणः सकाशाद् जातेन हिरण्यगर्भेण सृष्टाः इति अर्थः. **त्रयस्त्रिंशद्** इति : ''**देवाः त्रिः एकादशाः त्रिः त्रयस्त्रिंशाः**'' (द्रष्ट.शुक्लयजु. २०।११) इति श्रुतेः वसु-रुद्राऽऽदित्यरूपाः त्रयः त्रिः प्रत्येकं हिरण्यगर्भः एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन उत्पन्नाइति त्रयाणाम् एकादशविधत्वात् त्रयस्त्रिंशत्संख्या इति अर्थः. **यज्ञं साधयन्ति** इति, ''**देवाः यज्ञम् अतन्वत**'' (ऋक्.संहि.१०।९०।६) इति श्रुतेः इति अर्थः. तत्र अयं प्रकारः : प्रथमतः सहस्रशीर्षत्व-व्यापकत्वादि-धर्मविशिष्टः परमात्मा स्वराट्. ततो विराट्, कमलाकारेण विशेषेण राजते इति, प्रपञ्चः. सूक्ष्मो भगवान् नाभिकमलात्मकः, ततो विराट्पुरुषो ब्रह्मा, ततः तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवाः, तैः ततो यज्ञः आधिदैविको विराट्-पुरुषशरीरहविर्निष्पाद्यः कालसहितः प्रजापतिरूपः, ''**प्रजापतिः वै यज्ञः**'' (कौषी.ब्राह्म.१३।१) इति श्रुतेः. ततो यज्ञाद् जातो यः साध्यर्षिकृतः आध्यात्मिको यज्ञः, ततः पृषदाज्यं, ततो वायव्याः आरण्याः पशवः, ततो वेदाः ऋगादयः स्थूलाः छन्दांसि गायत्र्यादीनि, ततः आधिभौतिक-हवीरूपाऽजाद्युत्पत्तिः, ततः तैः यज्ञेन ब्रह्माण्डात्मक-पुरुषविधानं, ''**यत् पुरुषं व्यदधुः**'' (ऋक्.संहि.१०।९०।११) इति श्रुतेः. ततः तस्य पुरुषस्य लोकरूपेण कल्पना, ''**तथा लोकाः अकल्पयन्**'' (ऋक्.संहि.१०।९०।१४) इति श्रुतेः.

एवम् आधिदैविका-ऽऽध्यात्मिका-ऽऽधिभौतिकभेद-भिन्नप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनाय ''**वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम्**''

(शुक्लयजु.३१।१८) इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मत्वेन विज्ञानं, तस्य च फलं "**तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति**" (ऋक्.संहि.१०।९०।८) इत्यादिश्रुतिभिः मोक्षो निरूप्यतेइति मोक्षफलिका वैदिकी सृष्टिः पुरुषसूक्तोक्ता ज्ञेया.

लौकिकेऽपि इति, सांख्यसर्गेऽपि इति अर्थः. **चतुर्विधभूतबीजानि** इति, भगवदायुधरूपाणि इति अर्थः, मोक्षदानाय अधिकारिभूतादिसृष्ट्यर्थं भगवदाविर्भावे तेषामपि उत्पत्तेः. **कालः च** इति, सांख्यसृष्टिहेतुभूत-गुणक्षोभक-भौतिकविराट् पुरुषचेष्टारूपः इति अर्थः. मूलपुरुषेच्छाशक्तिरूपस्तु "**कालसञ्ज्ञां तदा देवीम्**" (भाग.पुरा.३।६।२) इत्यादिना वैदिकसृष्टावेव वक्तव्यः इति भावः. **अतएव** इति, यतः उभयविधोपि त्रयस्त्रिंशत्प्रकारकः सर्गो निरूपणीयः इति अर्थः. **नतु सर्गो यः कश्चिद्** इति, पुरुषसूक्तोक्तः त्रयस्त्रिंशत्प्रकारापन्नाद् भिन्नः आकाशादिकः सर्गः इति अर्थः. **सृष्टिसाधारणः** इति. सृष्टिमात्रमेव येन सर्गेण निरूप्यते, नतु पुरुषसूक्तोक्तवद् ब्रह्मात्मकत्वं मोक्षफलकत्वं प्रपञ्चस्य उच्यते इति अर्थः.

तत्र इति, तेषु नानाविधसर्गेषु इति अर्थः. **लौकिकालौकिकभिन्नः** इति, लौकिकं सांख्यम्, अलौकिको वेदः ; ताभ्यां भिन्नो = भेदयुक्तः इति अर्थः. वस्तुतस्तु प्रकारभेदेऽपि भगवल्लीलारूपत्वाद् एकएव इति भावः. **तत्रापि** इति, उभयविधसर्गेऽपि इति अर्थः. **भगवद्रूपता** इति. सर्गे ये कारणत्वेन उक्ताः ब्रह्म-कर्दमादयः तेऽपि भगवतः सर्गलीलोपयोगित्वेन तदंगभूताः भूमि-कानन-द्रुमादयइव लीलारूपाः इति तेष्वपि भगवद्रूपत्वं, लीलायाः स्वरूपात्मकत्वात्. एतावान् अस्मिन् सर्गे **विशेषो**, अन्यत्र सर्गांगभूतानां जीवत्वमेव इति भावः. **तत्रापि** इति. **स्वं** पूर्वोक्तो लीलारूपः उभयविधसर्गः, तत्र **उपयुक्तो** मोक्षादिरूपो **अर्थः** पुरुषार्थो, मोक्षदानार्थमेव भगवता लीलाकरणात्, तत्**सहितः** इति अर्थः.

ननु अत्र सर्गलीला निरूप्या, तन्मध्ये फलत्वेनापि मोक्षनिरूपणे स्कन्धार्थे सर्गलक्षणे अतिव्याप्तिः स्याद् इति आशंक्य आहुः **जीवस्य हि** इति, जीवाः हि भगवतो अक्षरांशत्वेन चरणसंलग्नाः उपर्येव अवस्थिताः, नतु भगवत्यन्तः नवा प्रपञ्चे बहिः. एवं सति यदा भगवतः सृष्टीच्छा तदा तान् अक्षरात्मकचरणाद् विस्फुलिंगवद् व्युच्चरितान् स्वस्माद् बहिः स्थूलरूपे प्रपञ्चे पृथक्तया स्थापयित्वा स्वप्राप्तिसाधनानि कारयित्वा, "**एष उ एव**" (कौषी.उप.३।८) इति श्रुतेः, पश्चात् स्वात्मनि अन्तःप्रपञ्चे विषयानुभवमिव स्वानन्दानुभवं कारयितुम् आनन्दरूपेण स्वसमान् जीवान् सृजति, प्रपञ्चसर्गवद् मोक्षसर्गोपि इति. पूर्वावस्थातु अक्षररूपतैव. तत्र प्रपञ्चे अक्षरनिष्ठतायां ज्ञानमार्गेण पुनः अक्षरप्रवेशेन सच्चिदानन्दरूपतासम्पत्तिरिति व्युच्चरणसमये चिदंशत्वेऽपि प्रवेशसमये पूर्ववत् पूर्वावस्थाप्राप्तिः. भक्तिमार्गेण पुरुषोत्तमनिष्ठत्वे पुरुषोत्तमप्रवेशेन अक्षरोत्तम-निरवध्यानन्दानुभवो विषयभोगप्रकारेण. तथाच येषां स्वानन्ददित्सा, यदर्थं लीलाकृतिः तान् मोक्षसर्गयोग्यान् कर्तुं दैवोत्तमान् जीवान् प्रपञ्चो अधिकारिशरीरनिष्पत्तये सृष्टान् करोतीति मुख्यो मोक्षसर्गएवेति सर्गस्कन्धे तन्निरूपणेऽपि न स्कन्धार्थातिव्याप्तिः इति भावः. वस्तुतस्तु प्रपञ्चसर्गः सर्गत्वेन व्यवह्रियमाणो मोक्षसर्गहेतुत्वापर्यवसानतः सर्गः, पूर्वन्तु **जीवस्य (नाशरूपत्वात्!)** यत् स्वरूपम् अक्षरात्मकं तददर्शनहेतुत्वात् **प्रलय**एवेति न मुख्यसर्गत्वमिति मोक्षसर्गस्य साधनलभ्यत्वश्रवणाद् न भगवल्लीलात्वम् इति आशंक्य तत्त्वे उपपत्तिम् आहुः **गृहस्थस्यैव** इति. "**त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः**" (महाना.उप.१०।५) इति "**सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः**" (महाना.उप.१०।६) इति श्रुतेश्च सन्न्यासाभावाद् न गृहस्थस्य मुक्तिः वेदमार्गेण, "**गृहस्थ एतां पदवीम्**" (भाग.पुरा. ७।१४।१) इत्यादिना सप्तमस्कन्धे पञ्चदशाध्याये भक्तिमार्गप्रकारेण मुक्तिकथनात् **सन्दिग्धा** इति उक्तम्. **दम्पत्योः** इति, कर्दम-देवहूत्योः इति अर्थः.

एतेन प्रमाणबलविचारेण मुक्त्ययोग्यत्वेऽपि तदर्थं स्वयमेव कपिलरूपेण आविर्भूय मोक्षं दत्तवानिति एतस्य मोक्षस्य भगवल्लीलात्वम् इति बोधितम्.

ननु निःसाधनस्य मोक्षोक्तौ वेदविरोधः इति आशंक्य आहुः **तत्र गृहस्थस्य** इति, **गृहस्थस्य** मोक्षसाधनरहितस्य **मुक्तौ** अन्येषां भगवद्वाक्यरूप-वेदइव भगवदाविर्भावसामयिक-भक्तस्य **भगवत्तोष**एव मुक्ति**प्रयोजकः** इति परोक्षा-ऽपरोक्षव्यवस्थया वेद-स्वसन्तोषाभ्यां मुक्तिदानाद् न वेदविरोधः इति भावः. ननु भगवत्सन्तोषो अवतारदशायां सर्वेषु कथं न जायते इति आशंक्य आहुः **तस्यापि** इति, प्रभुसन्तोषस्यापि **भक्तिः** प्रयोजिका, "**भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति**" (महाभा.ता.नि. १।११६) इति वाक्याद् इति अर्थः. ननु भक्तिः कथं सेत्स्यति इति आशंक्य आहुः **ज्ञानं योगः** इत्यादि. ज्ञानं भक्तिसाधनं सर्वत्र स्पष्टमेव. योगोऽपि चित्तवृत्तिनिरोधात्मा स्वरूपध्यानसहितः इति भक्तिसाधनमेव. **आज्ञाकरणं** कर्मस्थितिः, सापि चित्तशुद्धिहेतुत्वाद् अंगीकृतस्य भक्तिजनिकैवेति. एतत्सर्वं स्वमातरम् उपदिशतः कपिलस्य वाक्यसमूहेन अवगन्तव्यम् इति दिक्. **सर्गमध्ये** इति, मोक्षसर्गमध्ये इति अर्थः. प्रपञ्चसर्गमध्ये भक्ति-ज्ञानादीनाम् अनुपयोगः इति भावः ॥२॥

[प्र] प्रसिद्धिविरोधम् आशंक्य आह :

[का] लोके सर्ग-विसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ॥
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम्॥३॥

[प्र] लोके सर्गविसर्गौ इति, सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ. **तेन** एकैका लीला स्वतन्त्रेति प्रत्येकम् एकैकस्कन्धवाच्यता, **तेन स्कन्धद्वयविस्तरः॥३॥**

[टि] **प्रसिद्धि...** इति, लोकप्रसिद्धेः विरोधम् इति अर्थः. लोके मोक्षसर्गत्वेन अप्रसिद्धेः इति भावः. **पुरुषार्थपर्यवसायिनौ** इति, स्कन्धद्वयेन उच्यमानौ सर्ग-विसर्गौ भगवल्लीलात्वात् पुरुषार्थत्वेन पर्यवसायिनौ = पर्यवसानवन्तौ स्वतःपुरुषार्थरूपौ इति अर्थः. अतएव मूले **सार्थकौ** इति उक्तम्. अर्थसहितावेव, नतु भेदेन अर्थसाधकौ. लौकिकौतु तौ एतद्विलक्षणाविति न अत्र निरूपणीयत्वेन सम्मतौ, भगवल्लीलारूपत्वाभावाद् इति भावः. **तेन** इति, प्रत्येकं पुरुषार्थपर्यवसायित्वेन इति अर्थः. **स्वतन्त्रा** इति, अन्यानुपजीवनेन फलसमर्पकत्वाद् इति भावः. **एकैकस्कन्धवाच्यता** इति, स्वफलसहितलीलायाः प्रत्येकं श्रीभागवतावयवत्वाद् इति अर्थः. **तेन** इति. येन हेतुना सर्ग-विसर्गयोः सजातीयत्वेऽपि न एकेन स्कन्धेन निरूपणं, प्रत्येकं फलसाधकत्वात्, **तेनैव** हेतुना लीलाबाहुल्यबोधाय एतयोः स्कन्धयोः **विस्तरः** इति अर्थः ॥३॥

[प्र] तत्रापि मैत्रेय-विदुरसंवादप्रकारेण लीलाकथनम् उचितम् इति आह :

[का] लीलाद्वयस्य श्रवणात् सिद्धः क्षत्ताऽधिकारतः ॥
किं पुनः सकलश्रोतेत्यतः तस्य कथा तता ॥४॥

[प्र] लीलाद्वयस्य इति.

[टि] **लीलाकथनम्** इति, शुकस्य तद्वाक्येन कथनम् उचितं, सूतस्येव स्वतः तयोः उत्तमत्वात् स्वापेक्षया लीलायुग्मश्रवणेनैव कृतार्थत्वाद् इति भावः ॥४॥

[प्र] सर्गलक्षणम् आह :

[का] तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।।
देवस्यतु द्विरूपत्वात् कारणानां त्रिरूपतः ।।५।।
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्ष-विभागतः ।।

[प्र]तत्र इति, ''भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्गः उदाहृतो, ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्'' (भाग.पुरा.२।१०।३) इति मूले लक्षणम्. तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात्. ''ब्रह्मणः...'' इति सन्देहाभावाय, भगवतः इति. भूतमात्रेन्द्रियधियो देहरूपाः कार्याअपि भवन्तीति **कारणजन्मदा लीला** इति उक्तम्. एवं व्याख्यानस्य अर्थान्तरम् अभिप्रेतं : **रजोभाजोऽपि** लीलासृष्टिः मुख्यब्रह्मणोऽपि लीला. कालत्वेन कालस्यापि सृष्टिः लीला. जीवोऽपि कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितिः, सृष्टिप्रयोजनत्वेन, सर्गमध्यपातिनी भवति. अगुणवैषम्याद् ब्रह्मणोऽपि जन्म इति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म द्यति = खण्डयति इति व्याख्यानम्. अतः प्रकरणानि विभजते **देवस्यतु द्विरूपत्वाद्** इति, गुणातीत-सगुणभेदेन **कारणानां** तत्त्वजीवानां त्रयो भेदाः, तेन **पञ्चधा** पञ्च प्रकरणानि भवन्ति. एकप्राधान्ये अन्यस्य विभूतित्वम् इति स्थितिः. यथा तत्त्वसृष्टिः गुणातीतविभूतिः, यथा सगुणसृष्टिः विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनाम् उत्पत्तिः, यथावा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः सांख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिः मतान्तरभाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्ष-विभेदेन द्विरूपा. सगुणस्य मोक्षलीला योगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यम् इति. तस्माद् अर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति. तदाह **बन्धमोक्ष-विभागतः** इति ।।५१/२।।

[टि] **सर्गलक्षणम्** इति , **तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा** इति अर्थः. अस्य अर्थो : भगवतः **तत्र** प्रपञ्चे स्वात्मनि वा

बन्ध-मोक्षाभ्यां वा **लीला सर्गः**. तत्रापि **रजोभाजो** रजोगुणस्वीकर्तुः, विहारार्थत्वात् सृष्टेः तत्र तदुपयोगित्वेन रजोगुणस्वीकारस्य आवश्यकत्वात्. सृष्टिश्च नानाविधा विधेया, तत्र लोकेइव चित्तविक्षेपः साधनं, सच रजोगुणकार्यम् इत्यतः तत्स्वीकारः आवश्यकः. तत्रापि **कारणजन्मदा लीला** नतु भूतादिमात्रोत्पत्तिदा. कारणानितु काल-जीव-तत्त्वानि वर्तन्तेइति तेषामपि सृष्टौ संग्रहः. ननु एतल्लक्षणं मूलोक्तलक्षणाद् विलक्षणमिति तेन विरोधः इति आशंक्य आहुः **तत्र गुणवैषम्यम्** इति, गुणानां सत्त्वादीनां समभावेन वर्तमानानां वैषम्यसम्पादकः क्षोभकतया रजोगुणः इति मूलस्थ'**गुणवैषम्य**'पदेन विवृतौ तद्धेतुभूतो रजोगुणएव गृहीतइति न विरोधः इति अर्थः. **रजसैव** इति, सत्त्व-तमसोः स्वतः स्थिरत्वाद् इति भावः. **तस्यैव** इति, सृष्टिर्हि मनसा, तच्च विक्षिप्तमेव तत्साधकं, सच रजोगुणकार्यएवेति गुणत्रये सएव तथा इति अर्थः.

ननु रजोगुणस्यैव सृष्टिकारणत्वेन प्रसिद्धत्वाद् ब्रह्मणि संशयः स्यात् सांख्यमतइव इति आशंक्य आहुः मूले **ब्रह्मणः** इति. शुद्ध'ब्रह्म'शब्दस्यैव जगत्कारणत्वेन उक्तत्वाद् इति अर्थः. ननु एवं मूलोक्तप्रकारेण ब्रह्मणो रजोगुणस्य च कारणत्वम् आयाति, न मुख्यतया ब्रह्मणः, तथा सति जगतो न एककारणकत्वसिद्धिः इति आशंक्य आहुः **सन्देहाभावाय** इति, कारणद्वयम् एकस्य न सम्भवतीति तच्छ्रवणे सन्देहः स्यात् ''कस्य कारणता''? इति, तदभावाय **रजोभाजः** इत्यनेन गुणवान् भगवानेव कारणत्वेन उक्तः इति. तदेव अत्र सिद्धम् अनूदितं **भगवतः** इत्यनेन इति अर्थः.

ननु ''भूतमात्रेन्द्रियधियाम्...'' इति यथाश्रुतम् अपहाय सामान्यभाषया कारणजन्मदा इति कथने किं प्रयोजनम्? इति आशंक्य आहुः कार्याअपि इति. ''**भूतमात्रेन्द्रियधियाम्...**'' इति विशिष्यकथने ताः अस्मदादिसंघातेषु प्रतीयमानाः कार्याअपि भवन्तीति विसर्गमध्यस्थानाम्

अत्र निरूपणात् "**सर्गः कारणसम्भूतिः**" (ह.ली.३।१) इति वाक्यं विरुद्ध्येत इति अर्थः. तथाच लक्षणम् अतिव्यापकं भवेद् इति भावः. **एवं व्याख्यानस्य** इति. मूलोक्त-लक्षणवाक्ये '**गुणवैषम्य**'पदेन गुणानां त्रयाणां वैषम्यं येन रजोगुणेनेति रजोगुणः तेन तद्वान् लक्ष्यते, तथा "**भूतमात्रेन्द्रियधियाम्...**" इत्यनेन कारणसामान्यम् उच्यते, इत्येवं व्याख्यानस्य इति अर्थः. **अर्थान्तरम्** इति, पूर्वोदित-ब्रह्मकारणत्वसंशय-सर्गलक्षणाव्याप्ति-परिहाररूपस्य अर्थस्य उक्तत्वाद् इति भावः. तमेव अर्थं विशदयन्ति **रजोभाजः** इति, हिरण्यगर्भरूपेण जातस्य इति अर्थः. **मुख्य...** इति, चतुर्मुखोत्पत्तिकारणभूतस्य इति अर्थः.

कारणत्वेन संगृहीतानाम् उत्पत्तिम् आहुः **कालत्वेन** इति. कालोहि नित्यो अखण्डदण्डायमानो व्यापकः, तस्य स्वरूपतः उत्पत्तिः अनुपपन्नेति कलनात्मक-धर्मेणैव तस्यापि सृष्टिः. एतेन लीलार्थं सर्गं कुर्वता भगवता स्वेच्छारूपे क्रियारूपे वा काले कालत्वम् उत्पादितम् इति बोधितम्. कालस्य कारणत्वं प्रलयकाले सृष्ट्यभावाद् बोध्यम्.

जीवोऽपि इति, जीवस्य मोक्षार्थं मुख्यतया सृज्यत्वात् तस्य बन्धमोक्ष-सर्गयोः कारणत्वम् इति अर्थः. **तस्यापि** इति, कालवद् जीवत्वेन धर्मेण इति अर्थः. किं जीवत्वम्? इति आकांक्षायाम् आहुः **स्वरूपस्थितिः** इति, अक्षरांशत्वेन पूर्वं तदभिन्नस्य स्वरूपेण = स्वस्य रूपेण स्थितिरेव जीवत्वं; तेन धर्मेण तस्यापि सृष्टिः इति अर्थः.

ननु स्वरूपस्थितेः कथं सर्गत्वं, पूर्वम् अभेदेऽपि जीवरूपेणैव तत्र सत्त्वाद् इति आशंक्य आहुः **सृष्टिप्रयोजनत्वेन** इति, स्वरूपस्थितेः प्रयोजनं सृष्टिरेव, सृष्ट्यर्थमेव स्वस्मात् पृथक्करणाद्, अतः सा

सर्गमध्यपातिनी इति "**तन्मध्यपतितः तद्ग्रहणेन गृह्यते**" इति न्यायेन स्वरूपस्थितिरपि सृष्टिरेव इति अर्थः. ननु अत्र सर्गे भगवदवतारौ उक्तौ, तयोः मोक्षप्राप्यत्वेन जीवादिवत् कारणत्वाभावात् कथं सर्गे प्रवेशः उचितः इति आशंक्य आहुः **अगुणवैषम्याद्** इति, मूले अकारप्रश्लेषेण '**अगुणवैषम्य**'पदेन रजोगुणभिन्न-केवलसर्वोद्धारार्थं भगवदिच्छामात्रेण **ब्रह्मणः** श्रुतिसिद्ध-पराकाष्ठापन्नस्य **जन्म** प्राकट्यम् **इति** एवम्प्रकारेण **व्याख्यानार्थं** व्याख्यानसिद्ध्यर्थं टीकायामपि **कारणजन्मदा** इत्यत्र **कारणानां** सृष्टिमुख्यकारण-भूतानां **जीवानां जन्म** पुनर्जन्म **द्यति खण्डयति** एतादृशी सर्वोद्धारार्था स्वावतारप्रकृतिरूपापि लीलापि सर्गः इति सिद्ध्यतु **इति** एवम् अत्र अस्माभिः व्याख्यातम् इति अर्थः. **अतः** इति, यतः कारणसामान्यजन्मैव सर्गः इति सिद्धम् अतः तानि पुनः बन्धमोक्षार्थ-भेदेन दशविधानि इति तथा प्रकरणान्यपि विभज्यन्ते इति अर्थः.

देवस्यतु इति '**तु**'शब्देन अन्येषां सगुणत्वेन एकरूपत्वमेव इति अर्थः. **त्रयो भेदाः** इति तत्त्व-काल-जीवाएव कारणभेदाः इति अर्थः. **तेन** इति, भेदपञ्चकेन सृष्टिः पञ्चधा इति अर्थः. **पञ्च प्रकरणानि** इति, सर्गस्कन्धे सृष्टेः पञ्चविधत्वात् तथा प्रकरणानि भवन्ति इति अर्थः. ननु अत्र पञ्चविधसर्गलीलैव न उच्यते, मध्ये-मध्ये अन्येषामपि सर्गाणां कथनाद् यथा गुणातीतसृष्टिमध्ये तत्त्वसृष्टिः, एवम् अग्रेऽपि इति आशंक्य आहुः **एकप्राधान्ये अन्यस्य विभूतित्वम्** इति. अत्रहि भगवतः पुरुषोत्तमस्य लीला सर्गः उच्यते, नतु परम्परासर्गो यः कश्चित्. सच भगवत्स्वरूपएव वाच्यो, लीलात्वात्, सूर्यकिरणवत्. नहि सूर्यकिरणाः असूर्यात्मकाः भवितुम् अर्हन्ति. अतएव एतल्लीलाश्रवणे भगवच्छ्रवणसिद्धिः. एवं सति "**यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययः**" (भग.गीता.१५।१७) इति वाक्याद् विभूतिरूपधारणमेव

पुरुषोत्तमलक्षणम् इति तल्लीलायामपि सूक्ष्मरूपायां स्वविस्तारूप-विभूतिधारणं वक्तव्यमिति यत्र लीलायां सूक्ष्मभावेन निरूपितायाम् अग्रे तदनुगतएव विस्तारः तत्र तद्विभूतिरूपम् इति सविभूतिक-लीलानिरूपणम् इति अर्थः. विस्तरस्यैव विभूतित्वं "**विभूतेः विस्तरो मया**" (भग.गीता.१०।४०) "**नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे**" (भग.गीता.१०।१९) इति गीतावाक्यैरेव विधीयते.

यथा इति. पञ्चमाध्याये "**भगवान् एकः आस इदम् अग्रे**" (भाग.पुरा.३।५।२३) इत्यादिना अध्यायसमाप्तिपर्यन्ता गुणातीतात् पुरुषोत्तमात् साक्षात्सृष्टिः उक्ता. तस्याः षष्ठाध्याये ब्रह्माण्डोत्पत्तिपूर्वकं तदन्तर्गत-तत्त्वसृष्टिः विभूतेः विस्तरः इति अर्थः. पञ्चम-षष्ठाध्यायाभ्याम् इदं प्रकरणं समाप्तम् इति भावः. **यथा सगुणसृष्टिः** इति, सप्तमाध्याये "**सृष्ट्वा अग्रे महदादीनि**" (भाग.पुरा.३।७।२१) इत्यारभ्य अष्टमाध्यायान्ते "**तर्ह्येव तन्नाभिसरः**" (भाग.पुरा.३।८।३२) इति वाक्याद् हिरण्यगर्भोत्पत्तिपर्यन्तं या सगुणात् स्वीकृतरजोगुणाद् भगवतो विसर्गरूपा "**तेभ्यो विराजम् उद्धृत्य**" (भाग.पुरा.३।७।२१) इति वाक्यम्[१]. एतस्याः सृष्टेः विभूतिम् आहुः **ब्रह्मप्रभृतीनाम् उत्पत्तिः** इति. अर्थात् सा सृष्टिः इयं विभूतिः इति अर्थः. नवमाध्याये ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य स्तुतिम् अभिधाय दशमाध्याये सम्पूर्णेन अध्यायेन ब्रह्माणम् आरभ्य देवासुरसर्गपर्यन्तम् एषाम् उत्पत्तिः विसर्गरूप-सगुणसृष्टेः विभूतिः इति अर्थः. **यथावा** इति, एकादशाध्याये "**चरमः सद्विशेषाणाम्**" (भाग.पुरा.३।११।१) इत्यारभ्य "**इति ते वर्णितः क्षत्तः**" (भाग.पुरा.३।१२।१) इत्यन्तं कालसृष्टिः. तस्याः अग्रे द्वादशाध्याये "**वेदगर्भो अथ यथा अस्राक्षीद्**" (भाग.पुरा.३।१२।१) इति वाक्यात्

१.स्वपौरुषरूपा सृष्टिः, अतएव "अस्तौद् विसर्गाभिमुखः तमीड्यम्" (भाग.पुरा.३।८।३३) इति आशयः प्रतिभाति. (संपा.)

कालाधीनस्य हिरण्यगर्भस्य **दशविधा लीला** तामिस्रादि-सनकादि-रुद्रमरीच्यादि-वाग्-नीहार-वेदधर्मच्छन्दो- मन्वाद्युत्पादनरूपा विनैव तपः स्वेच्छया मनआदिभ्यः उत्पादनाद् लीला कालसृष्टेः विभूतिः इति अर्थः.

यथा तत्त्वानाम् इति, सांख्यप्रकरणोक्तानां **लीला** तत्त्वैः नानाविधपदार्थ-सर्जनरूपा सांख्यप्रकरणोक्तायाः पूर्वोक्तगुणसृष्टेः भिन्नायाः विभूतिः इति अर्थः. **सांख्यप्रकरणोक्ता** इति विसर्गरूप-गुणसृष्टिभेदार्थम् उक्तम् इति अर्थः.

जीवसृष्टिः इति, जीवसृष्टिस्तु सनकाद्युत्पत्तावेव उक्ता कालसृष्टिविभूतिनिरूपणे. अथवा त्रयोदशाध्याये तत्कारणभूत-यज्ञवराहोत्पत्त्यर्षिस्तुति-निरूपणेनैव उक्ता, पुनः षडध्याय्यां मतान्तरभाषया निरूपणं तद्विभूतिरूपम् इति अर्थः. **बन्धमोक्ष-भेदेन** पञ्चस्वपि प्रकरणेषु बन्धमोक्ष-भेदेन सृष्टिप्रतिपादनाद् इति अर्थः. तत्र सर्वत्र बन्धः सर्गः स्पष्टएव.

मोक्षसर्गनिरूपणार्थं तत्साधनसाधकत्वं मोक्षसाधकत्वं च निरूपयन्ति **सगुणस्य** इति, विसर्गरूपस्य **सगुणस्य** सर्गस्य भगवतो **मोक्षलीलायाः** स्वात्मनि सर्जनरूपायाः **योगः** सम्बन्धः, भगवता मोक्षार्थं स्वेन उत्पादितानामेव मोक्षलीलासम्बन्धात्. अतो मोक्षलीलायोगो मोक्षे प्रथमसाधनत्वाद् मोक्षरूपः इति अर्थः. **गुणातीतस्य** इति, गुणातीतसर्गस्य षष्ठाध्यायान्ते "**यतो अप्राप्य न्यवर्तन्त वाचः च**" (भाग.पुरा.३।६।४०) इति वाक्येन ज्ञानं फलत्वेन निरूप्यतेइति तस्यापि मोक्षसाधनत्वाद् मोक्षरूपत्वम् इति अर्थः. **कालस्य भक्तिः** इति, कालसृष्टावपि एकादशाध्यायान्ते "**नैव ईशितुं प्रभुः भूम्नः**" (भाग.पुरा.३।११।३८) इत्यादिवाक्यैः "**तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म**" (भाग.पुरा.३।११।४१) इति वाक्यप्रतिपादिताक्षरस्य भगवद्धाम्नो माहात्म्यप्रतिपादनाद्, माहात्म्य-

ज्ञानमपि अंशतो भक्तिः, सैव फलत्वेन निरूप्यतइति तस्याअपि मोक्षसाधनत्वात् तद्रूपत्वम् इति अर्थः. **तत्त्वानाम्** इति, सांख्यप्रकरणोक्तानां तत्त्वानान्तु अन्ते मोक्षएव प्रतिपाद्यतेइति स्पष्टमेव मोक्षरूपत्वम् इति अर्थः. **जीवस्य वैराग्यम्** इति, जीवप्रकरणं षड्भिः अध्यायैः मतान्तरभाषया प्रतिपाद्यते. तत्र शापानन्तरं राजसानाम् उभयविधानां सनकादि-जयविजयप्रभृतीनां पश्चात्तापेन वैराग्यमेव सिद्धमिति तस्यापि मोक्षसाधनत्वाद् मोक्षरूपत्वम् इति अर्थः. **तस्माद्** इति, यस्मात् पञ्चस्वपि सर्गेषु मोक्षलीला योग-ज्ञान-भक्ति-मोक्ष-वैराग्यरूपाणाम् अर्थानां मोक्षरूपाणां प्रतिपादनात्, (तस्मात्!) पञ्चापि प्रकरणानि अर्थभेदेन दश भवन्ति इति अर्थः ॥५ १/२॥

[प्र] तान् भेदान् स्पष्टयति :

[का] गुणातीतात् सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा ॥६॥
कालो जीवस्तथा नाम तत्रापीशेच्छया भवः ॥

[प्र] गुणातीताद् इति, तत्त्वानां वक्तव्यत्वेऽपि नामसृष्टेः परिग्रहार्थं नाम इति उक्तम्. तेषां पूर्ववत् स्वातन्त्र्यं वारयति तत्रापि ईशेच्छया भवः इति, न केवलं कालादेः ॥६ १/२॥

[टि] **तान्** इति, दशभेदान् मूले स्पष्टयति इति अर्थः. **नामसृष्टेः** इति, अत्रहि भगवल्लीलारूपः सर्गः, सच उभयविधोऽपीति नामसर्गोऽपि प्रतिपादनीयः. तत्र नाम्नां शब्दात्मकत्वेन तन्मात्रारूपत्वात् तत्त्वेषु प्रवेशयोग्यत्वेन तत्सृष्ट्यैव तत्परिग्रहइति तत्त्वानां स्पष्टत्वेन प्रतीयमानत्वाद् अस्पष्टानां नाम्नामेव निरूपणार्थं **नाम इति उक्तम्** इति अर्थः. **तेषाम्** इति, गुणातीत-सगुणसृष्टि-समुत्पादित-तत्त्वानाम् इति अर्थः. **पूर्ववद्** इति, **पूर्ववत्** तत्कारणभूत-ब्रह्मस्वरूपवद् इति अर्थः. अवतारादिषु स्वस्यैव ईशत्वेन पारतन्त्र्याभावाद् इति भावः. **न केवलम्** इति.

कालादेरेव न किन्तु गुणातीत-सगुणसृष्टिस्थानामपि इति अर्थः ॥६ १/२॥

[प्र] ननु सर्गे भूम्युद्धारस्य कुत्र उपयोगः ? तद् आह :

[का] सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः ॥७॥

[प्र] सर्वाधारस्वरूपा या इति, भूम्युद्धारः सर्वसृष्ट्युपयोगी सर्वेषाम् आधारभूतः साधारणः, तेन बन्धलीलान्ते निरूपितः ॥७॥

[टि] **ननु सर्गे** इति, द्वादशाध्यायैः प्रतिपादिते बन्धसर्गे इति अर्थः. **भूम्युद्धारस्य** मोक्षसर्गोपयोगित्वाभावाद् इति भावः. **सर्वसृष्टि...** इति. भूम्यैव देहादिनिर्माणात् सर्वसृष्ट्युपयोगित्वं, भूमौ अवस्थापनात् सर्वाधारत्वम् इति अर्थः. **तेन** इति, बन्धलीलोपयोगित्वेन इति अर्थः ॥७॥

[प्र] जीवप्रकरणं व्यर्थम् इति आशंक्य आह :

[का] मुक्तोऽपि जायते जीवः इति शापकथा तता ॥

[प्र] मुक्तोऽपि जायते इति. मुक्तिः गौणी इति केचित्. वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ताएव पूर्वसिद्धज्ञानाएव उत्पन्नाः, अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात्. तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानाम् ईश्वरेच्छया सम्भवः. अतः शापकथा : एकः कर्ता अपरो विषयः इति ॥७ १/२॥

[टि] **जीवप्रकरणम्** इति, बन्धलीलाभागः इति अर्थः. मोक्षोपयोगि-जीवसृष्टेः मोक्षप्रकरणएव कथनीयत्वाद् इति भावः. **मुक्तोऽपि** इति, तत्र प्रकरणे मुक्तानामपि बन्धनिरूपणाद् बन्धप्रकरणएव तन्निरूपणम् इति भावः. **मुक्तिः गौणी इति केचिद्** मुक्तिं सनकादीनां जय-विजययोः

च सगुणां वदन्ति. परममुक्तानां पुनर्जन्मकथने श्रुतिविरोधः स्याद् इति भावः. **वस्तुतस्तु** इति, सनकादयः परममुक्ताएव, अन्यथा नारदादीनामिव एषामपि ज्ञानोपदेशः स्यात्. शुकवद् जन्मान्तरोत्पन्न-ज्ञानत्वाभावात् च सिद्धज्ञानानामेव उत्पत्त्या तद्धर्मसम्बन्धाभावाद् मुक्ताएव इति अर्थः. एतेन ज्ञानमार्गीया मुक्तिः एतेषु उक्ता ; प्रह्लादावतारेण भक्तिं दत्त्वा तन्मार्गीयां मुक्तिं दातुं पुनर्जन्मकरणम् इति भावः. **तथा वैकुण्ठ...** इति, सनकादिवद् ज्ञानाभावेऽपि जय-विजययोः सेवार्थं भगवल्लोकस्थित्या "**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।३।२) इति न्यायेन मुक्तत्वमेव इति अर्थः. एतयोरपि राजसयोः सगुणत्वे जाते गुणातीतमुक्तिदानाय पुनर्जन्म इति बोध्यम्. ननु मुक्तानां जन्मकथने "**न स पुनरावर्तते**" (छान्दो.उप.८।१५) इति श्रुतिविरोधः इति आशंक्य आहुः **ईशेच्छया** इति. "**यः सर्वज्ञः सः सर्वशक्तिः**" (द्र.मुण्डकोप.१।१।९) इत्यादिश्रुत्या भगवतः सर्वसमर्थत्वेन प्रतिपादनाद् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमपि श्रुतिप्रतिपादितमिति मर्यादया अनावृत्तिरेव, प्रमेयबलेन पुष्ट्या मुक्तानां विशेषानुग्रहेण सेवार्थम् आवृत्तिरिति न विरोधः इति अर्थः. **अतः** इति, यतः उत्पादने भगवदिच्छा अतएव शापसम्बन्धिनी ज्ञानिनां भक्तयोः च कथा इति अर्थः. अन्यथा मुक्तानां शापदातृत्वं रजोगुणसम्बन्धाद्, अनयोः च तथाभूतयोः वैकुण्ठद्वाःस्थयोः तद्विषयत्वं न स्याद् इति भावः. उभयेषां शापाभावेन कथं कथायाः तत्सम्बन्धित्वम् इति आशंक्य सम्बन्धं विवेचयन्ति **एकः** इत्यादिना ॥७ १/२॥

[का] उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥८॥
मतान्तरेणहि फलं राजसत्वाद् निरूप्यते ॥

[प्र] एवं जीवोत्पत्तौ उपपत्तिरेव उक्ता, नतु अयं प्रकारो भागवताभिमतः. तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं सांख्यप्रकरणम्.

मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुम् आह राजसत्वाद् इति॥८ १/२॥

[टि] **एवं जीवोत्पत्तौ** इति, **एवम्** अनेन प्रकारेण रजोगुणम् आविर्भाव्य ज्ञानं भक्तिं च सगुणां विधाय लीलार्थं स्वयम् अवतरन् विशेषानुग्रहाय मुक्तानपि जीवान् उत्पादयतीति तथा भगवदिच्छारूपा उपपत्तिरेव तदुत्पत्तौ उक्तेति जीवप्रकरणम् उपपत्तिप्रकरणम् इति अर्थः. **नतु अयम्** इति, कथं मुक्तानाम् उत्पत्तिः इत्यत्र युक्तिरेव इच्छारूपा मतान्तरभाषया उक्ता, नतु श्रीभागवतस्य समाधिभाषारूपस्य अभिमतो अयं प्रकारो मुक्तोत्पत्तौ किन्तु स्वावतारवद् लीलार्थं तदुपयुक्तानां मुक्तानां लक्ष्म्यादीनां भगवदिच्छया भगवता सह जन्म, नतु शापादिना इति अर्थः. एतेन प्रकरणस्य अस्य ज्ञानिभिः भक्तानां शापनिरूपणेन भक्तेः अनुत्कर्षप्रतिपादनवद् न समाधिभाषात्वम् इति ज्ञेयम्. **तेषाम्** इति, ज्ञानित्वेन अक्षरात्मकवैकुण्ठ-बहिर्द्वारवर्तित्वेन साक्षात्पुरुषोत्तमसेवाभावात् सगुणत्वात् च मतान्तरीयाणां जीवानाम् इति अर्थः. **प्रक्रियान्तरम्** इति, प्रकारान्तरम् इति अर्थः. कः प्रकारः इति आकांक्षायाम् आहुः **सांख्यप्रकरणम्** इति. मारणादिना संघातात् पृथक्करणेनैव एतेषां स्वप्रापणं, नतु लीलास्थभक्तानामिव सशरीराणामेव स्वपदप्रापणम् इति भावः. ननु तेष्वपि प्रभासीयकथया तथात्वं प्रतीयते इति चेद्, न, तस्याः व्यामोहलीलात्वेन तदर्थमेव तथा प्रदर्शनात्. अतएव "**नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्**" (भाग.पुरा.११।७।७) इति प्रभुवाक्यम्. अन्यथा "**व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्**" (भाग.पुरा.१०।८७।४८) इति वाक्यं विरुद्ध्येत इति भावः. ननु एतेषामपि सर्गलीलामध्यपातित्वात् कथं लीलास्थप्रकारेण फलप्रापणम् उचितं नतु शरीरपार्थक्यकरणरूप-सांख्यप्रकारेण इति आशंक्य राजसत्वेन सगुणत्वात् तादृशशरीरवत्त्वेन तथा फलसम्बन्धायोग्यत्वाद् अन्तर्गृहगोपिकावत् शरीरनिवर्तनप्रकारेण फलप्रापणम् इति अर्थः॥८ १/२॥

[प्र] तथा सति फले वैषम्यम् आशंक्य आह :

[का] **फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्धवाभिधा ॥९॥**
उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ॥
क्रिया-ज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ॥१०॥

[प्र] **फले हि नास्ति इति, यतः ईशएव उद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति. अतो अस्यां लीलायाम् अवतारद्वयं : क्रियावतारो वराहो, ज्ञानावतारः कपिलः इति. ननु सृष्टौ किमर्थम् अवतारः ? तत्र आह कर्माधीना अन्यथा भवेद् इति ॥९-१०॥**

[टि] **फले वैषम्यम्** इति, भगवत्प्राप्तिरूपे फले सगुणदेहत्वेन जघन्याधिकारित्वाद् वैषम्याशंका इति भावः. **यतः ईशएव** इति. आविर्भूय फलदाने इच्छैव प्रयोजिका, नतु अधिकारः इति अर्थः. **तत्रापि** इति, सगुणदेहवत्स्वपि इति अर्थः. **अतः** इति. यतो अवतारं विना क्रोधवतां दैत्यानां, स्त्रीशरीरस्य देवहूतिजीवस्य च, सगुणदेहत्वाद् न मुख्यमुक्तिसम्भवो अतो अत्र क्रिया-ज्ञानाभ्याम् अवतारद्वयं वराह-कपिलरूपम् इति अर्थः. **क्रियावतारः** इति, यज्ञात्मकत्वाद् इति भावः. **ज्ञानावतारः** इति, कर्दमज्ञानस्यैव देवहूतिकृपया तद्रूपेण प्रकटत्वाद् इति भावः. **ननु सृष्टौ** इति, बन्धमोक्ष-भेदेन उभयविधसृष्टौ इति अर्थः. **किमर्थम्** इति, अनवतीर्यापि उभयविधकृतेः भगवति सम्भवाद् इति अर्थः. **कर्माधीना** इति. यदि भगवान् न आविर्भवेत् तदा प्रमेयबलेन फलदानाभावाद् इतरसृष्टिवद् इयमपि कर्माधीना फले भवेत्, तथाच सगुणदेहानां विपरीतसाधनवतां न मुख्यफलं सेत्स्यति इति भावः ॥९-१०॥

[प्र] **ननु अपूर्वं निरूप्यते यद् मुक्तानां पुनरुत्पत्तिः इति! तत्र आह :**

[का] **मुक्तेऽपि यदि नोत्पत्तिरुत्पन्ने मुक्तिरेव वा ॥**

तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरुद्ध्यते॥११॥

[प्र] मुक्तेऽपि इति. तदा ईश्वरत्वं व्याहतं भवेद् इति अर्थः॥११॥

[टि] **अपूर्वम्** इति, श्रुतौ अश्रुतत्वाद् इति भावः. **ईश्वरत्वम्** इति, उच्चतया स्थितानां स्वेच्छया हीनभावकरणे तथा स्थितानाम् उच्चतासम्पादनएव ईश्वरत्वम् , अन्यथा तद् व्याहतं भवेद् इति अर्थः॥११॥

[प्र] सृष्टिः सफला इति स्पष्टयति :

[का] स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात् तदर्थं सृष्टिकृद् हरिः॥
ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति॥१२॥
तस्मात् सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात्॥

[प्र] स्त्रीपुंस... इति. किम् अत्र स्कन्धार्थे फलितम् इति आशंक्य आह ऐहिकामुष्मिकफलम् इति॥१२ १/२॥

[टि] **सृष्टिः सफला** इति, इयं मोक्षसृष्टिः फलरूपापि उभयोः दम्पत्योः भोगं कुर्वतोरेव मोक्षसिद्धेः भोगरूप-फलसहिता इति अर्थः. **किम् अत्र** इति, मोक्षस्य भोगसाहित्यनिरूपणेन **स्कन्धार्थे** सर्गलीलारूपे **किं फलितं** फलतः किं निरूपितं जातम् इति अर्थः. **ऐहिक...** इति, यो मोक्षः ऐहिकामुष्मिकफलरूपो भोगप्रकारेण परमानन्दानुभवरूपः तं भगवानेव स्वयं प्रीतः प्रयच्छतीति तदभीप्सुभिः भगवान् भजनीयः— इति सर्गे पर्यवसानतो भक्तिरेव फलिता इति अर्थः॥१२ १/२॥

[प्र] ननु सांख्यप्रकरणे तदनुसारिणी सृष्टिः कथं न उक्ता? तत्र आह :

[का] सांख्येन मुक्तिकथनात् सृष्टिः सामान्यतोदिता॥१३॥

तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात् त्रिधा॥
गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद् गौणत्वाद् न विरुद्ध्यते॥१४॥

[प्र] **सांख्येन** इति, सामान्यतो मता या काचिद् वक्तव्येति उक्ता. **उदिता** इति सन्धिः आर्षख्यापकः. अतएव गौणी तदविरोधार्थं निरूपिता॥१३-१४॥

[टि] **तदनुसारिणी** इति, तत्त्वमात्रसृष्टिः सांख्योक्तैव अत्र तत्प्रकरणे वाच्येति कथं पद्मकल्पप्रकारेण सृष्टिनिरूपणम् इति अर्थः. **सामान्यतः** इति, सांख्यप्रकरणेन मोक्षसर्गएव निरूप्यते. स बन्धसर्गो, अतः तत्र तथा तात्पर्याभावाद् **या काचिद् वक्तव्येति** पद्मकल्पप्रकारिकैव **उक्ता** इति अर्थः. **सन्धिः आर्षख्यापकः** इति, 'सामान्योदित'पदयोः लोकाद् असिद्धः सन्धिः अयं सर्गः आर्षः इति ख्यापकः. आर्षम् = ऋषेः भावः कर्म वा, तस्य ख्यापकः इति अर्थः. एतेन पद्मोत्थितेन "**ऋषिम् आद्यं न बध्नाति**" (भाग.पुरा.३।९।३५) इति वाक्याद् ऋषिणा = ब्रह्मणा कृता सृष्टिः अत्र उक्ता, न साक्षाद् भगवत्कृता सा उक्ता इति अर्थः. ननु मुख्यसृष्टिम् अपहाय गौणसृष्टिकथने किं प्रयोजनम् इति आशंक्य आहुः **अतएव** इति, यतः प्रकरणम् इदं सांख्यस्य, तच्च गौणं, तन्मतस्य गुणसृष्टिनिरूपकत्वात्, (अतः!) तेन सह अविरोधार्थम् अत्र मुख्यसृष्टिम् अपहाय गौणी सृष्टिः निरूप्यते इति अर्थः॥१३-१४॥

[प्र] ननु कर्दमस्य मुक्तौ साधनं न उक्तम् इति चेत्, तत्र आह :

[का] ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वाद् मुक्तिर्भोगादिसंयुता॥
उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात्॥१५॥

[प्र] ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वाद् इति. उपदेशेन (परा !) स्त्रीमुक्तिः ॥१५॥

[टि] **ननु कर्दमस्य** इति, बन्धप्रकरणीय-जीवप्रकरणे दैत्यानां निःसाधनमुक्तिः प्रतिपादितेति मोक्षप्रकरणे ससाधना सा प्रतिपादनीयेति देवहूतौ उपदेशसाधनसत्त्वात् कर्दमस्य कथं तद् न उक्तम् इति अर्थः. **ज्ञानस्य** इति, पूर्वमेव कृतयुगे "**तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे, दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद् वपुः**" (भाग.पुरा.३।२१।८) इति वाक्याद् भगवत्प्रसादेन **ज्ञानस्य** मोक्षसाधन-साक्षात्कारात्मक-ज्ञानस्य **सिद्धत्वाद्** इदानीं देवहूतिवद् न साधनकथनम् इति अर्थः. **उपदेशेन** इति, साक्षादवतीर्ण-कपिलोपदेशसामर्थ्येन, न ज्ञानादिना इति अर्थः. ज्ञान-योग-भक्त्यादिकथनन्तु देवहूतेः तेन मार्गेण मुक्तिः. पुष्टिमार्गप्रकारेण तन्मुक्तेः "**किञ्चित् चकार वदनं पुत्रविश्लेषकातरम्**" (भाग.पुरा.३।३३।२०) इति वाक्यात्. अतएव सर्वनिर्णये पूर्वम् उक्तं "**राजवत् कुत्रचित् कृष्णः**" (त.दी.नि.२।३२२) इति ॥१५॥

[का] चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ॥
अधिकारस्तथा सृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा ॥१६॥

[प्र] तेन क्रमात् प्रकरणचतुष्टयं भवति. दशप्रकरणानि पूर्वं निरूपितानि. स्थूलानि गणयति अधिकारः इति ॥१६॥

[टि] **प्रकरणचतुष्टयम्** इति, अधिकार-सृष्ट्युत्पत्ति-मुक्तिभेदेन इति अर्थः. **स्थूलानि गणयति** इति, सौक्ष्म्ये सृष्टिप्रकरणान्येव अर्थभेदेन दशविधानि उक्तानीति संख्यासिद्धेः न गणना, अतः स्थूलानि चतुर्विधानि गणयति इति अर्थः ॥१६॥

[का] पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीयातु द्विधा मता।।
चतुर्थीतु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसंगताः ।।१७।।
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ।।

[प्र] **पञ्चधा सृष्टिः** पूर्वमेव **उक्ता,** चतुर्णामेव दशधात्वमिति तत्र **सृष्टिः पञ्चविधा, उपपत्तिः द्विधा, त्रिधा मुक्तिः,** एवं त्रयाणां दश भेदाः. **अधिकारस्तु ततो भिन्नः,** तस्य **स्कन्धद्वयोपयोगात्. स्कन्धद्वयम् एकं प्रकरणवत्. तेन षष्ट्यध्यायाः सर्ग-विसर्गयोः अधिकारे चतुष्टयमिति भगवतः कलाः निरूपिताः भवन्ति।।१७ १/२।।**

[टि] **पूर्वमेव** इति, "**गुणातीतात् सृष्टिः**" (त.दी.नि.३।३।६) इत्यादिना इति अर्थः. प्रकरणसंख्याधिक्याभावाय चतुर्णामेव अर्थभेदैः दशविधात्वम् आहुः **चतुर्णामेव** इति, अधिकारादि-चतुर्णामेव अर्थभेदैः दशधात्वम् इति अर्थः. ननु अधिकारमिश्रणेन सृष्ट्युत्पत्ति-मुक्त्याद्यर्थभेदगणने एकादशधात्वम् आयाति इति आशंक्य आहुः **अधिकारः ततो भिन्नः** इति. सृष्ट्यादिप्रकरणेभ्यो भिन्नः सर्ग-विसर्गोभयोपयोगाद् न विदुराधिकारस्य सत्त्वे मात्रे प्रवेशो, येन तत्प्रकरणसंख्यां वर्धयति, अतो भिन्नएव प्रकरणेभ्यो वाच्यः इति भावः. ननु तृतीयस्कन्धोक्तस्य अधिकारस्य कथं चतुर्थस्कन्धीय-स्वतन्त्रविसर्गलीलांगत्वं स्कन्धभेदाद् उपपद्यते इति आशंक्य आहुः **स्कन्धद्वयम् एकम्** इति. प्रकारभेदेन फलभेदेन च उभाभ्यां सृष्टेरेव प्रतिपादनाद् इति अर्थः. ननु एवं स्कन्धभेदो अनुपपन्नः एकार्थप्रतिपादकत्वाद् इति चेत्, तत्र आहुः **प्रकरणवद्** इति, यथा प्रकरणानाम् एकस्यैव अर्थस्य प्रकारभेदेन प्रतिपादनाद् एकार्थप्रतिपादनेऽपि भेदः तथा स्कन्धयोरपि इति अर्थः. **तेन** इति, अधिकारस्य भिन्नत्वप्रतिपादनेन इति अर्थः. **सर्ग-विसर्गयोः** इति, तावद्भिरेव तदुभयप्रतिपादनाद् इति भावः. **अधिकारे** इति, उभयविधलीलाश्रवणाधिकारविषये अध्यायचतुष्टयम् इति अर्थः.

स्कन्धद्वयाध्यायसंख्या-सूचितम् अर्थम् आहुः **भगवतः** इति. तथाच कलाज्ञानेन विदुरस्य तद्द्वारा भगवज्ज्ञानाद् हृदये सर्वदा भगवत्प्रकाशः सर्वसन्देहनिवृत्तिः च भविष्यति इति बोधितम्॥१७ १/२॥

[प्र] एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारे अध्यायचतुष्टयमिति तत्र प्रथमाध्याये यादृशो अधिकारः सम्पन्नः तं प्रतिपादयितुम् आह :

[का] प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता॥१८॥
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽभ्यन्तरी मता॥
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेद् अधिकारी परः स्मृतः॥१९॥

[प्र] प्रतिबन्धो इति, **प्रतिबन्धनिवृत्तिः शुद्धिः तीर्थाटनम्** इति **भगवदीयत्वेऽपि त्रयो गुणाः अधिकाः. तेन पूर्वस्माद् विशिष्टो अयं प्रथमः, तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेत् ततोऽपि उत्तमो भवति, तत्रापि आन्तरः चेद् भगवद्गुणो भवति तदा तृतीयः, भगवत्कृपायां चतुर्थः इति. भगवदीयत्वेऽपि चतुष्टयं चेत् परमो अधिकारी भवति. बाह्या शुद्धिः द्विधा : दोषनिवृत्तिरूपा गुणाधायिका च. तत्र प्रथमा अध्यायार्थः. गृहासक्तिरेव प्रतिबन्धो अतः तन्निवृत्तिः वक्तव्या इति शेषः॥१८-१९॥**

[टि] **प्रकरणार्थम्** इति, दशविधप्रकरणार्थम् इति अर्थः. **अधिकारे** इति, अधिकारप्रकरणे इति अर्थः. **तत्र** इति, तस्मिन् प्रकरणे इति अर्थः. **यादृशो अधिकारो** इति, अधिकारे प्रकारचतुष्टयं द्विविधबाह्यशुद्धिकं कथाश्रवण-भगवत्कृपारूपम् अस्तीति तन्मध्ये यादृक्प्रकारकः प्रथमाध्याये सम्पन्नः स प्रतिपाद्यते इति अर्थः. **प्रतिबन्धनिवृत्तिः** इति, मूले **'प्रतिबन्ध'**पदेन तन्निवृत्तिः उच्यते, अधिकारनिरूपणे तन्निरूपणात्. अतएव **गृहासक्तिः** इति तद्विशेषणं, तस्याः मोक्षफलकमार्गे सर्वथा निवर्तनीयत्वात्. नहि गृहासक्ताः पारमार्थिकफलार्थं यतन्ते प्रत्युत अन्यान्

वारयन्ति. भगवल्लीलाश्रवणन्तु त्यक्तगृहासक्तानामेव सम्भवतीति तथा इति भावः.

शुद्धिः तीर्थाटनम् इति, गुणाधायिका बाह्या शुद्धिः इति अर्थः. अन्यथा प्रतिबन्धनिवृत्तेः अनिष्टनिवृत्तिरूप-शुद्धित्वेन तथोक्तिः न स्याद् इति. **भगवदीयत्वेऽपि** इति. यद्यपि विदुर-परीक्षितोः भगवदर्थ-सर्वपरित्यागाद् भगवदीयत्वम् अविशिष्टं तथापि विदुरे तीर्थाटन-भगवद्गुणान्तरत्व-भगवत्कृपारूप-गुणत्रयम् अस्तीति **तेन** गुणत्रयाधिक्येन हेतुना श्रवणदशायामेव **प्रथमो** असम्पन्नश्रवणः **पूर्वस्मात्** परीक्षितो **विशिष्टः** इति अर्थः. परीक्षितितु न तीर्थाटनं नापि श्रवणात् पूर्वमेव उद्भवाद् अवगतगुणस्य विदुरस्येव हृदि गुणस्थितिः नापि विदुरइव निरूपाधिका कृपा किन्तु तन्मातृकृपया तद्रक्षार्थं प्रवृत्तस्य जगति भागवतप्राकट्यार्थं च सा इति न विदुरसमत्वम् इति भावः. **तस्य** इति, भगवदर्थ-सर्वत्यागकर्तुः भगवदीयस्य इति अर्थः.

ततोऽपि इति, अश्रुतभगवच्चरिताद् भगवदीयाद् इति अर्थः. एतेन विदुरे भगवदीयत्वं भागवतश्रवणात् पूर्वमेव भगवत्कथाश्रवणम् अस्तीति द्वितीयो अधिकारी इति अर्थः. **तत्रापि** इति, कथाश्रवणेऽपि यदि ते गुणाः हृदये वसन्ति तदा ततोऽपि उत्तमः तृतीयः इति अर्थः. **गुणः** इति एकवचनन्तु उद्धवोक्तानां गुणानां सर्वेषां कुशलप्रश्नोत्तरार्थत्वेन एकरूपत्वावगमाय इति अर्थः. **भगवत्कृपायाम्** इति. यद् अग्रे कथनाय अतिगूढ-श्रीभागवतार्थो भगवता मैत्रेयस्य अग्रे उद्धवाय कथितइति विदुरे परीक्षिदपेक्षया अधिका कृपा इति अर्थः.

ननु एवं परीक्षिदर्थे समाधौ व्यासायापि साक्षाच्छ्रीभागवतं भगवता प्रोक्तमिति तस्मिन्नपि तथाविधा सेति विदुरे किम् आधिक्यम् एतदंशे

इति चेद्, न, मैत्रेयो हि न उद्धवश्रावणीय-श्रवणाधिकारी, पुष्टिमार्गीयत्वाभावात्. तादृशोऽपि श्राविताइति विदुरकृपया अधिकारा-ऽनधिकारस्फूर्तिरपि भगवतो गतेति तस्मिन्नेव महती कृपा इति अर्थः. **भगवदीयत्वेऽपि** इति, गृहस्थितिपक्षेण भगवत्सम्बन्धित्वेऽपि इति अर्थः. **चतुष्टयम्** इति, प्रतिबन्धनिवृत्त्या चतुष्टयः इति अर्थः. **परमः** इति, सर्वोत्तमः इति अर्थः. एतेन परीक्षिति प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव अस्ति, न अग्रिमगुणत्रयम् अस्तीति न तथात्वम् इति बोधितम्.

दोषनिवृत्तिरूपा इति, शुद्धेः संस्काररूपत्वेन तस्य च दोषनिवृत्तिरूपत्वात् तथात्वम् इति अर्थः. अतएव असंस्कृताः 'अशुद्धाः' इति उच्यन्ते. पृथक्शुद्धिपक्षस्तु गुणाधायिकां ताम् अभिप्रेत्य, यथा "**मन्त्रपूतं जलं पिबेद्**" (ब्रह्मवै.पुरा. ४।७८।६१) इत्यादौ. **तत्र** इति, उभयोः बाह्यशुद्ध्योः इति अर्थः. **प्रथमा** इति, प्रतिबन्धनिवृत्तिरूपा इति अर्थः. ननु प्रतिबन्धान्तरम् अत्र कुतो न उक्तम् इति आशंक्य आहुः **गृहासक्तिरेव** इति. सर्वप्रतिबन्धमूलत्वाद् इति भावः. अतएव **एव**कारः, तदभावे सर्वेषाम् अप्रतिबन्धकत्वाद् इति अर्थः. **शेषः** इति, मूलस्य शेषग्रन्थो अयम् इति अर्थः ॥१८-१९॥

[प्र] ननु क्षत्रियाद् भगवदीयात् शूद्रः कथम् अधिकारी? ततोऽपि उत्तमो वा कथम्? तत्र आह :

[का] शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद् राजन्यताऽस्य हि॥
तावत्क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात् कृष्णसभोज्यता॥२०॥
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तन्तु जीवनम्॥

[प्र] शतं वर्षाणि इति, "शापाद् वर्षशतं यमः" (भाग.पुरा. १।१३।१५) इति वाक्यात्. शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम्, अन्यथा ब्रह्मबीजस्य

मुख्यशूद्रत्वं न उपपद्येत, राजत्वार्थं प्रार्थितत्वात्. क्षत्रियत्वमेव पश्चाद्, अतएव मन्त्राद् आह्वानम्. तस्य अशूद्रत्वे हेत्वन्तरमपि आह **कृष्णसभोज्यता** इति. **अतः** क्षत्रियत्वात् **तस्य अधिकारः**, ब्रह्मबीजत्वं च अधिकप्रयोजनम्. ननु स शतवर्षाण्येव जीवति इति अभिप्रायेण कथं न शापः इति अभिप्रायेण आह **यथायुक्तम्** इति. जीवनन्तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते. सहि धृतराष्ट्रसमानो, दुर्योधनसमानो भीमः, ततोऽपि कनिष्ठो अर्जुनः तत्समानः कृष्णः. तत्र च ''पञ्चविंशाधिकशतम् (शरच्छतं व्यतीताय पञ्चविंशाधिकं प्रभो!'' भाग.पुरा.११।६।२५) इति वाक्यम्. अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति॥२० १/२॥

[टि] विदुराधिकारम् आक्षिपन्ति **ननु क्षत्रियाद्** इत्यादिना. **क्षत्रियाद्** अर्जुनपौत्रत्वेन भगवत्सम्बन्धात् **शूद्रो** जातिहीन-कुलाऽसम्बन्धः च **कथम् अधिकारी** इति अर्थः. **ततोऽपि उत्तमो वा** इति, कदाचिद् भगवद्भजने कुलसम्बन्धो न प्रयोजकः इति भावेन तदीयत्वाद् भवेद् अधिकारितामात्रम् उत्तमत्वं जातिहीनस्य कथं सम्भवति इति अर्थः. **शतवर्षपर्यन्तम्** इति, श्रीभागवतश्रवणावसरे शापप्रयुक्त-शूद्रत्वस्य निवृत्तत्वाद् इति भावः. **अन्यथा** इति, व्यासाद् = ब्रह्मवित्त्वेन पराशरोत्पन्नत्वेन च ब्राह्मणाद् उत्पन्नस्य अस्य ''**शूद्रात् शूद्र्यां समुत्पन्नः**'' (मनुस्मृ. ।) इत्येवंविधं मुख्यशूद्रत्वं ब्रह्मबीजस्य न उपपद्येत इति भावः.

कदाचित् क्षत्रियत्वं सम्भाव्येत इत्यत्र हेतुताम् आहुः **राजत्वार्थम्** इति. व्यासवीर्यस्य राजत्वार्थं तन्मात्रा प्रार्थितत्वात् क्षत्रियत्वं सम्भाव्येत इति अर्थः. **क्षत्रियत्वमेव** इति, व्यासस्य राजभावेन राजपुत्रोत्पत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वेन ततः उत्पन्नस्य **पश्चात्** शापप्रयुक्तशूद्रत्व-निवृत्त्यनन्तरं **क्षत्रियत्वमेव** इति अर्थः. **अतएव** इति, क्षत्रियत्वाभावे मन्त्रे = यज्ञ-विवाहादौ एतस्य आह्वानं न स्याद् इति भावः. **हेत्वन्तरमपि** इति. यदि

अयं शूद्रः स्यात् तदा कृष्णः साम्प्रतं क्षत्रकुलावतंसः तेन सह भोजनं न कुर्याद्, अतो न शूद्रः इति अर्थः.

ननु एवं शूद्रगृहे सेवादौ भगवतो भोजनम् अनुपपन्नम् इति चेद्, न, **सभोज्यता** समभावेन भोजनमेव निषिद्धं, नतु ऐश्वर्यभावेन तदन्नस्वीकारः. अन्यथा "**यो मे भक्त्या प्रयच्छति**" (भग.गीता.९।२६) इति सामान्यवचनम् अयुक्तं स्यात्. अतएव गोवर्धने गोचारणलीलायां पुलिन्दीसमर्पित-सकलपदार्थस्वीकारः. "भक्त्या प्रयच्छति" इति भगवद्ग्रहणे भक्तेरेव प्रयोजकत्वं, न वर्णादिधर्माणाम् इति बोध्यम्. विदुरगृहे पूर्वम् अभोजनन्तु क्षत्रियपाण्डवादि-वैमनस्याभावेन अवतारधर्म-स्थापनार्थम् इति दिक्.

ननु एवं क्षत्रियत्वेनैव उत्तमत्वसिद्धौ ब्रह्मबीजत्वं विदुरे व्यर्थम् इति आशंक्य आहुः **ब्रह्मबीजत्वम्** इति. **ब्रह्मबीजत्वम् अधिकं** धृतराष्ट्राय उपदेशदानरूपं **प्रयोजनं** यस्य तादृशम् इति अर्थः. क्षत्रियस्य उपदेष्टृत्वाभावाद् इति भावः. **ननु स** इति, "**शतायुः वै पुरुषः**" (श.प.ब्राह्म.१२।७।२।-१३) इति श्रुतेः जीवनं शतवर्षावध्येव भवतीति शतवर्षपर्यन्तं शापदानं यावज्जीवाभिप्रायेणेति यावज्जीवं शूद्रत्वात् कथं पश्चात् क्षत्रियत्वम् इति आशंकार्थः. **यथायुक्तन्तु** इति, विदुरस्य जीवनं न श्रुतिसिद्धं किन्तु **यथायुक्तं** यथा यथावद् युक्तिसिद्धं भगवल्लीलार्थं, तदुपयोगिभक्तत्वेन अवतीर्णत्वात्. यावल्लीलादर्शनं तत्स्थितिरिति न तस्य जीवने श्रुतिसिद्धव्यवस्था, पुष्ट्या तद्बाधात्. अन्येषान्तु मर्यादारूपा सा इति अर्थः.

बहुकालम् इति, श्रुतिसिद्धजीवन-कालाधिककालम् इति अर्थः. युक्तिमेव आहुः **सहि** इति. व्यासस्य एकस्मिन्नेव दिने धृतराष्ट्रादिमातृप्रार्थनया राज्यार्थक-पुत्रोत्पत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वाद् इति भावः.

दुर्योधनसमानः इति, "**गदायुद्धे तुल्यवयोबलौ**" (महाभा. । ।) इति वाक्याद् इति अर्थः. **तत्समानः** इति, वयसा तथात्वाद् इति भावः. **तत्र च** इति, कृष्णे इति अर्थः. **वाक्यम्** इति. वाक्यवशाद् एवम् उच्यते. वस्तुतस्तु "**जयति जननिवासः**" (भाग.पुरा.१०।८७।४८) इत्यादिवाक्यैः स सर्वदैव सर्वलीलाविशिष्टः सर्वोत्कर्षेण वर्ततेइति ज्ञेयम्. **अतः** इति, यतः सपाद-शतवर्षपर्यन्तं भगवद्दर्शनमेव, ततः पूर्वं तत्पितृसमत्वात् पञ्चविंशतिवर्षाणि पुत्रोत्पादनक्षमताहेतुभूतानि अधिकानि भविष्यन्तीति **सार्धं शतं तस्य जीवनम्** इति अर्थः. 'वा'शब्दो अनादरे, कदाचित् पञ्चविंशतिवर्षेभ्यः पुरैव पुत्रोत्पत्तिसम्भवाद् इति भावः ॥२० १/२॥

[प्र] एवं चतुर्णाम् अर्थम् उक्त्वा प्रथमाध्यायार्थम् आह :

[का] **अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया॥२१॥**
क्षत्ता सत्संगतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः॥
सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा॥२२॥

[प्र] **अपमानाद्धि निर्विण्णः** इति, स्वतो निर्विण्णः कदाचिद् आगच्छेदपि अतो हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः. स चेद् निर्विण्णो अन्यत्र तिष्ठेत् पुनरासक्तिः भवेद्, अतः तीर्थसेवैव कर्तव्या. तत्रापि तीर्थे देवताबुद्धिः ; तदैव सेवा भवति. तत्रापि कामनाभावाय **विशुद्धः** इति. **क्षत्ता** इति पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा. **सत्संगः** उद्धवसंगः, **तेनैव प्रीतः** नतु प्रश्नार्थम्. तत्र प्रश्नत्रयं कृतवान् : भगवतः कुशलप्रश्नः, सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवतः सामान्यप्रश्नः, चरित्रप्रश्नः च इति. तद् आह **सामान्येन** इति॥२१-२२॥

[टि] चतुर्णाम् इति, मिलितानां तेषां समुदायेन अर्थम् उक्त्वा

इति अर्थः. **अध्यायार्थम्** इति, प्रत्येकम् आह इति अर्थः. **कदाचिद्** इति, यदा शुद्धिविशेषोदयेन दयाद्युत्पत्तिः इति अर्थः. **अतः** इति, यतः अहैतुकनिर्वेदे पुनरागमनसम्भावना इति अर्थः. **हेतुपूर्वकः** इति, निर्वेदस्य किञ्चित् कारणं कल्पनीयम् इति अर्थः. ननु एवं हेतुपूर्वकनिर्वेदे विदुरस्य धृतराष्ट्रोपदेशाय कथं पुनरागमनम् इति चेद्, न, हेतोः दुर्योधनस्य निवृत्तत्वेन तस्य च पाण्डवगृहे सत्त्वेन च भगवदीयगृहत्वात् तदागमनम् इति जानीमः. **साधनीयः** इति, यथा अन्ये तिरस्कुर्युः तथा वचनादिकं वक्तव्यम् इति अर्थः. **स चेद्** इति, हेतुपूर्वकेनापि निर्वेदेन निर्विण्णः इति अर्थः. **अन्यत्र** इति, यदर्थं निर्वेदः तदसम्बन्धिदेशे इति अर्थः. **पुनरासक्तिः** इति, भगवदीयत्वे सत्यपि पूर्वोक्तगुणत्रयासिद्ध्या मुख्याधिकारासिद्धेः इति अर्थः. **अतः** इति, यतः तीर्थसेवयैव गृहाद्यासक्तिनिवृत्तिः, तेषाम् अन्तःकरणशोधकत्वाद् इति अर्थः.

मूले **तीर्थसेवया** इति भिन्नं पदं न विशुद्धौ करणत्वबोधकम् अतः तीर्थसेवया युक्तो भवेद् इति अर्थः. अन्यथा कामनाभावरूप-विशिष्टशुद्धेः तीर्थासाध्यत्वात् करणत्वानुपपत्तिः , तीर्थानां नानाविधफलजन-कताबोधक-पुराणवाक्यैः कामनाजनकत्वात्. अतएव महाभारते "**यज्ञाः तीर्थानि च**" (महाभा. । । , द्रष्ट. त.दी.नि. २।२४८) इति वाक्येन यज्ञानां तीर्थानां च समता उक्ता. **एव**कारेण न तत्र अन्यतः प्रतिग्रहादिकं कर्तव्यम् इति बोधितम्. **तत्रापि** इति. तीर्थसेवायामपि **तीर्थे देवताबुद्धिः** न जलबुद्धिः कार्या, अन्यथा माहात्म्यज्ञान-प्रेमानुरूपा कृतिः सेवेति देवताबुद्ध्यभावे तदभावात् सा न सम्भवेत्. अतः सेवोक्त्यैव एतत् सूचितम् इति अर्थः.

ननु तीर्थसेवयैव शुद्धिसिद्धेः पुनः **विशुद्धः** इति विशेषणं व्यर्थम् इति आशंक्य आहुः **तत्रापि** इति. विशिष्टशुद्धिः त्यागोत्तरं तद्विषयक-कामनाभावएव, अन्यथा "**मिथ्याचारः स उच्यते**"

(भग.गीता.३।६) इति वाक्यात् तथात्वं भवेद् इति अर्थः. **पूर्वमेव** इति अधिकारसिद्धौ प्रथमकारणत्वात्. अजितेन्द्रियस्य कामनासहस्रोदयाद् निवृत्तिमार्गाधिकारसिद्धिसम्भावनाभावाद् इति अर्थः. **उद्धवसंगः** इति, उद्धवसंगस्यैव अधिकारहेतुत्वाद् इति अर्थः. सत्संगो द्विविधः : प्रेमहेतुः ज्ञानहेतुः च. तत्र प्रेमहेतुः अधिकारसम्पादकः, तादृशेन तेन प्रेमोत्पत्त्या श्रवणाधिकारसिद्धेः. नहि अनुत्पन्नप्रेमा भगवच्चरितं श्रोतुम् अर्हति, भक्तिवृद्ध्युपायत्वेन श्रवणादीनां पूर्वं भक्त्यंकुरस्थितिबोधकत्वात्. ज्ञानहेतुस्तु श्रवणसाधको, यथा मैत्रेयसंगः इति अर्थ. **तेनैव** इति, उद्धवसंगेन भगवति प्रेमोत्पादकेनैव **प्रीतः** भगवति प्रीतियुक्तो जातः.

अतएव मूले **हरेः प्रश्नकृद्** इति उक्तम्, अन्यथा स्वसन्देहवारणार्थक-प्रश्नान्तरं कुर्याद् इति भावः. **नतु प्रश्नार्थम्** इति, प्रश्नार्थं प्रीतौ प्रश्नमेव कुर्याद्, नतु उद्धवे गते तद्विरहेण, वस्तुतो भगवद्विरहेण रोदनं कुर्यात्. अतः सत्संगेन भगवति प्रीतिः, नतु प्रश्नकरणार्थम् इति भावः. **भगवतः कुशलप्रश्नः** इति, "**कच्चित् पुराणौ पुरुषौ**" (भाग.पुरा.३।१।२६) इत्यनेन भगवतएव साग्रजस्य विशेषेण प्रश्नः इति अर्थः. **सर्वेषाम्** इति, "**कच्चित् कुरूणां परम**" (भाग.पुरा.३।१।२७) इत्यारभ्य "**सौम्य! अनुशोचे तम् अधःपतन्तम्**" (भाग.पुरा.३।१।४१) इत्यन्तैः वाक्यैः **सर्वेषां** वसुदेवोग्रसेनादीनां **प्रश्नमिषेण** सामान्यतो **भगवतो** भगवत्कुशलमेव पृष्टं, तत्कुशलेनैव तदीयकुशलात्. **चरित्रप्रश्नः च** इति, "**सो अहं नृणाम्**" (भाग.पुरा.३।१।४२) इत्यारभ्य "**वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः**" (भाग.पुरा.३।१।४५) इत्यन्तेन चरित्रप्रश्नः इति अर्थः॥२१-२२॥

[प्र] उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात् प्रकारम् आह :

[का] अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात्॥

मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम् ॥२३॥

[प्र] **अन्तिमं मध्यतः कृत्वा इति. अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरम् उक्त्वा, सामान्योत्तरम् अनुक्त्वा, मध्ये चरित्रम् उक्तम्.** ''कृष्णद्युमणिनिम्लोचे'' (भाग.पुरा.३।२।७) इति विशेषोत्तरं, ''राजँस्त्वया अनुपृष्टानाम्'' (भाग.पुरा.१।१५।२२) इति सामान्योत्तरं ; **मध्ये भगवतः चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितम् इति अर्थः. तत्र हेतुः सम्बन्धकारणाद् इति, भगवतः चरित्रकथनव्यतिरेकेण उत्तरासम्भवात् सम्बन्धे कारणम्. ननु भगवतः चरित्रं न इदं समीचीनं, भक्तानां बन्धूनां मारणाद्, अतः कथम् अधिकारसिद्ध्यर्थं तच्चरित्रम् उक्तम् इति आशंक्य आह मारणे प्राप्तदोषस्य इति. यद्यपि ईश्वरत्वाद् न दोषः तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि ते सर्वे भक्ताः तेन प्रकारेण उद्धृताइति दोषनिवृत्तिः ॥२३॥**

[टि] **क्रमेण उत्तराभावाद्** इति, विशेषप्रश्नस्य भगवद्विषयकस्य पूर्वमेव ''**कृष्णद्युमणि...**'' (भाग.पुरा.३।२।७) इत्यादिना उत्तराद्, अन्तिमचरित्रस्य मध्ये कथनात्, सामान्य-भगवत्कुशलप्रश्नस्य सर्वविषयकस्य चतुर्थाध्याये ''**अथ ते तदनुज्ञाता**'' (भाग.पुरा.३।४।१) इत्यादिना उत्तराद् न अत्र प्रश्नक्रमेण उत्तरम् इति अर्थः. **प्रकारम् आह** इति, पूर्वं विशेषोत्तरम्, अन्ते सामान्योत्तरं, चरित्रोत्तरम् अन्तिममपि मध्ये कृत्वा इति अर्थः. मूले स्थानानि निर्दिशति ''**कृष्णद्युमणि...**'' इत्यादिना.

ननु एकएव प्रश्नो भगवतः तदीयानां भवतु, भगवन्तम् आरभ्य सर्वेषां कृष्णनिरूपणाच्च, चरित्रप्रश्नस्तु द्वितीयइति प्रश्नत्रैविध्यकथनम् अनुपपन्नम् इति आशंक्य एतल्लीलासम्बन्धि-प्रथमस्कन्धोक्तं प्रश्नभेदबोधकं वाक्यम् उदाहरन्ति ''**राजन्! त्वया अनुपृष्टानाम्**'' इति. ''**राजन् त्वया अनुपृष्टानाम्**'' (भाग.पुरा.१।१५।२२) इत्युपक्रम्य ''**निघ्नतां**

... **मिथः**'' (भाग.पुरा.१।१५।२२) इत्यन्तेन वाक्येन तेषां प्रकारान्तरेण उत्तरकथनेन च भिन्नतया प्रश्नविषयत्वनिरूपणात्. अत्र तद्वाक्यं निश्चायकं नास्ति इति सन्देहः स्यादिति तत्रत्यम् अभिहितम्. **द्विविधमपि** इति, ''**यन्मर्त्यलीलौपयिकम्**'' (भाग.पुरा.३।२।१२) इत्यारभ्य ''**अंसे सुनाभायुधम् आपतन्तम्**'' (भाग.पुरा.३।२।२४) इत्यन्तेन ग्रन्थेन माहात्म्यबोधकं वसुदेवस्य वाक्यम् इत्यारभ्य अध्यायपर्यन्तं प्रीत्युत्पादकं च चरितं निरूपितम् इति अर्थः. यद्वा अवतारसामयिकं व्यामोहकं च अथवा उत्पादकं संहारकं च इति अर्थः. **तत्र** इति, द्विविधचरित्रनिरूपणे इति अर्थः. **उत्तरासम्भवाद्** इति, पृष्टं हि भगवतो भक्तानां च कुशलं तदुत्तरं तेषु विद्यमानेषु तैरेव भवति. परोक्षेतु तच्चरित्रैरेव सम्भवतीति विशेष-सामान्यभेदेन उत्तरद्वयनिरूपणार्थम् उत्तरद्वयमध्ये एकैकस्य प्रत्येकं हेतुत्वार्थम् उभयविधचरित्रं निरूपितम् इति अर्थः.

सम्बन्धे कारणम् इति, प्रश्नस्य उत्तरेण सम्बन्धे चरित्रमेव कारणम्. तथाच कारणत्वात् तथा निरूपितम् इति भावः. **न इदं समीचीनम्** इति, **भक्तानां बन्धूनां** लोकसम्बन्धेन सम्बद्धानां चरित्रं ''**संहृत्य स्वकुलम्**'' (भाग.पुरा.३।४।२९) इति वाक्याद् भगवतैव मारणं, तद् ''**न मे भक्तः प्रणश्यति**'' (भग.गीता.९।३१) इत्यादिवाक्यैः वेदविरुद्धं, बन्धूनाम् अर्थे स्वयं क्लेशसहनस्य लोकसिद्धत्वाद्, भक्तरक्षकत्वात् प्रभोः भक्तिमार्गविरुद्धञ्च, इति **न समीचीनम्** इति अर्थः. अधिकारो हि श्रवणादौ, सच स्वस्य भक्तत्वेन स्वानुकूलचरित्रश्रवणेन भवति, भक्तरक्षकचरित्रश्रवणेनैव स्वस्य ''ईदृशः प्रभुः श्रोतव्यः'' इति बुद्ध्युत्पत्तेः. तथाच न ईदृशं चरित्रम् अधिकारसिद्धिप्रतिकूलत्वाद् वाच्यम् इति अर्थः.

ईश्वरत्वाद् इति, अन्यथाकर्तुं समर्थत्वाद् इति अर्थः. अतएव एकादशे ''**नैव अन्यतः परिभवो अस्य भवेत् कथञ्चिद्**''

(भाग.पुरा.११।१।४) इति भगवद्वाक्यम्. **न दोषः** इति, "**तेजीयसां न दोषाय**" (भाग.पुरा.१०।३०।३०) इति वाक्याद् इति भावः. **प्रतीत्या** इति, शास्त्रतो दोषाभावेऽपि बोधितेऽपि लोकदृष्ट्या स्वतः सदोषया दोषाः प्रतीयन्ते, मृतकदाहकवह्नाविव. तथा भगवत्यपि तथा **दोषसम्भवेऽपि** इति अर्थः. **तेन प्रकारेण** इति, "**वृक्षमूलम् उपाविशद्**" (भाग.पुरा.३।४।३) इति वाक्याद् वैष्णवेषु प्रविश्य आन्तररमणार्थम् अवतारलीलासम्बन्धम् अनेन निवर्त्य स्वयञ्च मूलरूपो भूत्वा तेषां नित्यलीलास्थानसम्बन्धं कारितवानिति इतोऽपि उद्धारएव अयम् इति भक्ताहितकर्तृत्व-दोषनिवृत्तिः इति अर्थः ॥२३॥

[प्र] ननु तथापि विदुरः परीक्षिदपेक्षया कथम् उत्तमो, भगवदीयस्य तुल्यत्वाद् इति आशंक्य आह :

[का] सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि॥
माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठः उत्तमतो ह्ययम्॥२४॥
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी॥

[प्र] सेवनाद् इति, पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता, तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां रक्षा, विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च. एतद् हेतुत्रयं परीक्षिति नास्तीति ततोऽपि अयम् उत्तमः. उत्तमत्वं कुत्र उपयुज्यते इति आशंक्य आह कृष्णविश्वासदायिनी इति, विश्वासस्य अभिज्ञापिका निःशंकं प्रवृत्तिः॥२४ १/२॥

[टि] **तथापि** इति, यद्यपि एवं पूर्वोदितप्रकारेण परमाधिकारी तथापि इति अर्थः. **भगवदीयस्य** इति भावप्रधानो निर्देशः; भगवदीयत्वस्य इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः : भक्तेषु भगवदीयत्वमेव तरतम-भावेन अधिकारो, न धर्मान्तरम्. अन्यथा "**केवलेनहि भावेन**"

(भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादिवाक्यानि विरुद्ध्येरन्. तथाच धर्मान्तरस-त्त्वेऽपि विदुरे "परीक्षिति भगवदीयत्वं तत्तुल्यम्" इति सम्यक्कथनम् उचितं, कथं ततः उत्तमत्वकथनम् इति अर्थः. **पूर्वम्** इति, त्यागात् पूर्वं पाण्डवकार्याय भगवति धृतराष्ट्रसमीपम् आगते स्वगृहे समुत्तीर्य भोजनादिभिः **महती** दास्यभावेन **सेवा कृता** इति भगवदीयत्वेऽपि आधिक्यम् इति अर्थः. परीक्षिति तदभावाद् न तथात्वम् इति भावः. **तदाज्ञाकरणम्** इति, भगवदाज्ञया विदुरेण पाण्डवरक्षा लाक्षागृहादौ गूढतन्मन्त्रज्ञापनात् कृता. तथाच तस्मिन् आज्ञादानाद् भगवदीयोत्तमत्वं, परीक्षिति तदभावाद् न तथात्वम् इति भावः. **विशेषतः** इति, श्रीभागवतश्रवणतः पूर्वमेव उद्धवमुखाद् इदानीमेव **विशेषतो** धर्मधर्मि-भेदेन **भगवन्माहात्म्यम्** अग्रिमश्रवणे भावविशेषसम्पादकं विदुरेण श्रुतं, न परीक्षितेति अस्य ततोऽपि उत्तमत्वम् इति अर्थः.

एतद् हेतुत्रयम् इति, पूर्वोक्तम् उत्तमहेतुत्रयम् इति अर्थः. **उत्तमत्वम्** इति, लीलोत्तमत्वं कदाचिद् आनन्दविशेषोदयाय उपयुज्येतापि, श्रोतुः **उत्तमत्वम्** अन्येषां **कुत्र उपयुज्यते** इति अर्थः. **कृष्णविश्वास**... इति. विदुरस्य निःसाधनस्य उत्तमत्वं भगवत्कृतमेव प्रमेयबलेन, न साधनान्तरकृतं परीक्षिदादीनामिव क्षत्रियत्व-भगवत्सम्बन्धित्वादिभिः. तथाच तत्कथाश्रो-तॄणां "हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति इति प्रकारेण अस्माकमपि साधनरहितानां सर्वं प्रभुरेव सम्पादयिष्यति, न साधनान्तरेण सेत्स्यति" इत्येवम्प्रकारको विश्वासः एतत्कथाश्रुत्या भविष्यतीति तत्र एतदुत्तमत्वम् उपयोक्ष्यते इति भावः. ननु परीक्षित्कथापि भगवद्विश्वासदायिकैव, भगवतैव तत्र गर्भरक्षाम् आरभ्य सर्वसम्पादनात् को विशेषो अस्याम् इति आशंक्य आहुः **विश्वासस्य** इति. निःसंशयप्रवृत्तिः हि विश्वासस्य अभिज्ञापिका, विचारे मति-गतौ हि तदभावात्. तथाच परीक्षिच्चरित्रश्रवणे तदुत्तमत्वं स्वाभाविकम् अवगत्य स्वस्य च हीनत्वं निश्चित्य श्रवणेऽपि तादृशाधिकाराभावाद् न फलिष्यतीति सर्वेषां प्रवृत्तिः न भविष्यति

विदुरकथाश्रवणे अधिकारोत्तमत्वमपि भगवतैव सम्पाद्यम् इति भगवति विश्वासाद् निःसंशया प्रवृत्तिः भविष्यतीति मुख्यतया विश्वाससम्पादकत्वम् एतत्कथया इति भावः ॥२४ १/२॥

[प्र] एवं प्रकरणार्थम् उपपाद्य द्वितीयाध्यायार्थम् आह :

[का] द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तरमुच्यते ॥२५॥
तदर्थं हरिमाहात्म्यम् आर्थिकं कृतमेव च ॥

[प्र] द्वितीये इति. विशेषमाहात्म्यमेव प्रश्नस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति. तदा एवम् अर्थो : भगवत्प्रश्नः जीवानां साधारणप्रश्नः, विशेषप्रश्नस्तु तत्तन्नाम्ना; अतो, भगवतो अन्यशेषत्वात् तत्र विश्वासार्थं भगवतः आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमं, पश्चात् कृतं निरूप्यते ॥२५ १/२॥

[टि] **एवम्** इति, प्रथमाध्यायार्थनिरूपणेनापि विदुराधिकारः सर्वोऽपि प्रकरणार्थएव प्रतिपादितः इति अर्थः. ननु उत्तरनिरूपक-द्वितीयाध्यायादिषु भगवन्माहात्म्य-चरित्रादिकमेव उच्यते, तत्र कथं सामान्यविशेष-भावः भगवन्माहात्म्यादेः सर्वदा विशेषरूपत्वाद्, नहि भगवन्माहात्म्यं कदाचिदपि सामान्यं सम्भवति, इति आशङ्क्य आहुः **विशेष...** इति. भगवतो विशेषमाहात्म्यमेव न कदाचित् सामान्यं परन्तु "**समो मशकेन समो नागेन च**" (बृह.उप.१।३।२२) इति श्रुतेः "**बहु स्यां प्रजायेय**" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः च स्वरूपमिव माहात्म्यमपि अन्यसंवलितं सामान्यं भवतीति प्रकृते भिन्नतया प्रश्नाकरणात् "**कुशलं शूरगेहे**" (भाग.पुरा.३।१।२६) इत्यनेन जीवसम्बन्धित्वेन प्रश्नकरणात् प्रश्नस्य जीवपरत्वेन तदुत्तररूपं भगवन्माहात्म्यमपि तत्संवलितमेव निरूपितं, न पृथगिति तत् तथा इति अर्थः. **तदा एवम्** इति, यदा एवं

व्याख्या तदा इति अर्थः. **भगवत्प्रश्नः** इति, **''कच्चित् पुराणौ''** (भाग.पुरा.३।१।२६) इत्यनेन कृतो भगवत्प्रश्नोऽपि जीवनसम्बन्धित्वेन प्रश्नकरणाद् जीवानामेव साधारणः समुदायरूपेण सर्वेषामेव प्रश्नो, भगवत्कुशलेनैव सर्वेषां कुशलात्. **''सामान्येन विशेषेण''** (त.दी.नि.३।-३।२२) इति मूलस्थक्रमोऽपि एवं सङ्गच्छते. वस्तुतो भगवान् न पृष्टएव, अन्यथा उद्धवः स्वरूपनियुक्तः स्वरूपमेव साक्षात् स्वयम् अनुभूयमानं वदेद् इति भावः. **अन्यशेषत्वाद्** इति, सर्वसाधारण्येन प्रश्नाद् इति भावः. **तत्र** इति, उत्तरे इति अर्थः. अपृष्टत्वाद् आर्थिक-भगवन्माहात्म्याकथने विदुरस्य केवलस्वरूपपरत्वाभावेन भगवति सर्वोत्कृष्टत्वेन उच्यमाने विश्वासो न भवेद् इति भावः. **प्रथमम्** इति, चरित्रनिरूपणात् प्रथमं निरूप्यते इति अर्थः. **कृतम्** इति, चरित्रम् इति अर्थः ॥२५ १/२॥

[प्र] तस्य उत्तराङ्गत्वम् आह :

[का] कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात् सम्बन्धतोऽपि तत्॥२६॥
अत्रोक्तं फलसिद्ध्यर्थम् उद्धवप्रेम चोच्यते॥

[प्र] कृतम् इति. तृतीयाध्याये चरित्रम् उक्तमिति तत्साम्याद् इदमपि उत्तरशेषत्वेन उच्यते. कथया कथा सम्बद्ध्यते इति हेत्वन्तरम्. ननु एवं सति किम् अत्र कथानिरूपणेन इति आशङ्क्य आह अत्रोक्तम् इति, द्वितीयाध्याये विश्वासार्थं भगवत्कृतं फलम् उक्तं, तच्चरित्रेऽपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धम् उक्तम्. भगवतो वार्ताकथनम् अध्यायार्थः, तत्र उत्तराङ्गद्वयं : विश्वासार्थं माहात्म्यं, कथायाअपि तथात्वं च. पूर्वाङ्गम् एकं परमा भक्तिः. अभक्तोक्ते सर्वथा न विश्वासःइति उद्धवप्रेम च उच्यते ॥२६ १/२॥

[टि] तस्य उत्तराङ्गत्वम् इति, चरित्रनिरूपणेनैव अनवतारदशायाम्

उत्तरसम्भवात् तदङ्गत्वम् इति अर्थः. ननु एवम् उत्तरमध्ये माहात्म्यनिरूपणं न सङ्गच्छते, तदङ्गत्वाभावाद् इति आशङ्क्य आहुः **तत्साम्याद्** इति. तृतीयाध्याये तु केवलं चरित्रमेव उक्तं ; द्वितीयाध्याये माहात्म्यसहितं "भगवता वयम् एतादृशचरित्रेण अस्मदर्थं कृतेन रक्षिताः" इति चरित्रत्वसाम्यात् तदपि उत्तरशेषमेव, अङ्गसम्बद्धत्वाद् इति भावः. **कथया कथा** इति. माहात्म्यसहित-चरित्रनिरूपणे एतादृशमाहात्म्यसहितो भगवान् देवक्यां जातः चरित्राणि कृतवान् इति कथयोः परस्परं सम्बन्धे हेत्वन्तरम् इति अर्थः. **किम् अत्र कथानिरूपणेन** इति, **अत्र** द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधके "**वसुदेवस्य देवक्याम्**" (भाग.पुरा.३।२।२५) इत्यारभ्य केवलकथारूप-चरित्रनिरूपणे किं प्रयोजनं, तादृशचरित्रस्य तृतीयाध्याये निरूपणीयत्वाद् इति अर्थः. **द्वितीयाध्याये** इति, द्वितीयाध्याये विदुरस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन बोधनीये भगवति विश्वासार्थम् एतादृशएव वस्तुतो भगवान् इति निश्चयार्थं भक्तेषु भगवत्कृतं फलम् उक्तम्. तथाच ततो माहात्म्यावगमाद् विश्वासः इति भावः. **तच्चरित्रेऽपि** इति, द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधके केवलचरित्रकथने यथा भक्तेषु भगवत्कृत-फलनिरूपणेन माहात्म्यावगमाद् भगवति विश्वासः तथा न चरित्रेऽपि भवतीति **तदर्थं** विश्वासार्थं केवलचरित्रमपि द्वितीयाध्याये माहात्म्यबोधक-चरित्रेण **सम्बद्धम् उक्तम्** इति अर्थः.

वार्ताकथनम् इति, पूर्वाध्याये "**वार्तां सखे कीर्तय**" (भाग.पुरा.३।१।४५) इति प्रश्नाद् अत्र उत्तरनिरूपकाध्याये वार्ताकथनम् अध्यायार्थः इति अर्थः. **तत्र** इति, वार्ताकथने इति अर्थः. **विश्वासार्थम्** इति, भगवति विश्वासयुक्ते हि तादृशेन वार्ता वाच्या. सच विश्वासो वक्तृनिष्ठः, श्रोतृनिष्ठो (च!) अपेक्ष्यः. तत्र श्रोतृविश्वासाय वार्ताकथनस्य **पूर्वाङ्गं** वक्तृनिष्ठा **परमा भक्तिः**, अभक्तकथिते "स्वयम् अतादृशो मद्वञ्चनाय एवं वदति" इति बुद्ध्युदयाद् अविश्वासोत्पत्तेः. वक्तुः विश्वासाय उत्तराङ्गद्वयं श्रोतृनिष्ठम् अपेक्षितं, तदैव "वार्ताकथनेन

श्रोता सम्पन्नः'' इति विश्वासोदयात्. तच्च **माहात्म्यं** भगवदीयं वार्ताश्रवणफलरूपं, तच्छ्रवणे तत्र आक्षेपाभावात्. तथा **कथायाअपि (तथात्वं!)** भगवतःइव तादृशमाहात्म्यवत्त्वं ; स्वरूपसमत्वम् इति यावत्. तथाच वार्ताकथनोत्तरं श्रोतुः एतद्द्वयावगतिसिद्धौ वक्तुः ''सम्पन्नं वार्ताकथनम्'' इति विश्वासः. एतद्द्वयाभावे कथितापि सा अकथितैवेति तदभावः इति अर्थः ॥२६ १/२॥

[प्र] तत्र श्लोकान् विभजते :

[का] **षड्भिस्तथैकेन पुनः दशयुक्सप्तभिस्तथा ॥२७॥**
दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥
तृतीयेऽष्टाविंशतिभिः चरित्रं केवलं कृतम् ॥२८॥
विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ॥
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥२९॥
द्वयोराज्ञाप्रसिद्ध्यर्थं पञ्च सन्देहवारणे ॥
चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः ॥३०॥

[प्र] **षड्भिः** इति, **विशेषस्य** कुशलस्य चतुर्थाध्याये **उत्तरं** श्लोकद्वयेन. तद्दोषपरिहाराय **पुनर्भक्तोद्धारे विंशतिः, अविद्यमाने भक्तोद्धारे चत्वारि** वाक्यानि इति शेषः. **एकं वियोजकम्** ''इति सह विदुरेण'' (भाग.पुरा.३।४।२७) इति. **(द्वयोः!)** उभयोः उद्धव-विदुरयोः. सन्देहनिवृत्तिः परीक्षितः. चतुर्भिः गुरुशिष्यसङ्गमः. **विद्यमानः** भक्तः उद्धवः, **अविद्यमानः** विदुरः. एतदकथने क्रूरत्वाद् अभजनीयः स्यात् ॥२७-३०॥

[टि] तत्र इति, द्वितीयाध्याये इति अर्थः. **षड्भिः** इति, **षड्भिः** उद्धवप्रेम, **एकेन** उत्तरं, सप्तदशभिः माहात्म्यं, **दशभिः** चरित्रम्

—एवं क्रमेण **चत्वारोऽपि अर्थाः निरूपिताः** इति अर्थः. **विशेषकुशलस्य** इति, तत्तन्नाम्ना यादवकुशलप्रश्नस्य इति अर्थः. **श्लोकद्वयेन** इति, चतुर्थे "**अथ ते तदनुज्ञाता**" (भाग.पुरा.३।४।१) इत्यारभ्य तद्द्वयेन इति अर्थः. **तद्दोष...** इति, स्वकुलसंहृतिरूप-दोषपरिहाराय इति अर्थः. **अविद्यमाने** इति. अवतारदशायामपि भगवत्समीपे अविद्यमानाः ये भक्ताः तान् उद्धव-मैत्रेयद्वारा उद्धर्तुं तयोः अन्योपदेशाय स्वज्ञानस्थापनबोधकानि "**इति उद्धवाद् उपाकर्ण्य**" (भाग.पुरा. ३।४।२३) इत्यारभ्य "**मर्त्यलोकं जिहासता**" (भाग.पुरा.३।४।२६) इत्येतानि चत्वारि वाक्यानि इति अर्थः. विद्यमानभक्तानान्तु "**वृक्षमूलम् उपाविशद्**" (भाग.पुरा.३।४।३) इति वाक्यात् स्वप्रवेशेनैव उद्धृतत्वेन उपदेशानपेक्षणाद् इति भावः. **एकम्** इति, "**इति सह विदुरेण**" (भाग.पुरा.३।४।२७) इति **एकं** पद्यं तयोः **वियोजकम्** इति अर्थः. वियोजनप्रयोजनन्तु मैत्रेये "विदुराय त्वया वाच्यम्" इति भगवदाज्ञायाः प्रकर्षेण सिद्धिः इति बोध्यम्. अन्यथा उद्धव-सह-स्थितौ परमप्रेमोदयेन भगवति भावेन लयइव स्याद् इति भावः. **उभयोः** इति, भगवान् तु स्वरूपेण उद्धवे, गुणैः विदुरे च प्रविष्टः—इति न तद्वार्तोपरमेन तद्वियोजकं पद्यम् एतद् इति भावः. **सन्देहनिवृत्तिः** इति, परीक्षितः सन्देहसहिता तन्निवृत्तिः "**निधनम् उपगतेषु**" (भाग.पुरा.३।४।२८) इत्यारभ्य "**हरिम् ईजे समाधिना**" (भाग.पुरा.३।४।३२) इत्यन्तैः पञ्चभिः वाक्यैः इति अर्थः. **गुरु-शिष्यसङ्गमः** इति, उपदेशादानाद् उद्धवो न गुरुः किन्तु मैत्रेयएव. शिष्यो विदुरः. तयोः सङ्गमो "**विदुरोऽपि उद्धवात् श्रुत्वा**" (भाग.पुरा.३।४।३३) इत्यारभ्य "**यत्र मित्रासुतो मुनिः**" (भाग.पुरा.३।४।३६) इत्यन्तैः **चतुर्भिः** वाक्यैः इति अर्थः. ननु एतच्चरित्रेण भगवता विद्यमानाऽविद्यमानोभयविध-भक्तोद्धारः कृतः इति कथं ज्ञेयम् इति आशङ्क्य आहुः **विद्यमानः** इति, उभयोः अवतारसामयिक-भक्तत्वेऽपि तत्समये भगवत्सन्निधौ

विद्यमानो उद्धवो अविद्यमानः विदुरः. तयोः स्वतो मैत्रेयद्वारा च उद्धारात् तथाभिप्रायो ज्ञातव्यः इति अर्थः. एतेन भगवत्परोक्षवर्तिनां भगवदाज्ञप्त-भगवदीयोपदेशएव साधकः इति सूचितम्. **एतदकथने** इति, भगवति विद्यमानाऽविद्यमानोभयविध-भक्तोद्धारकत्वाकथने इति अर्थः. **क्रूरत्वाद्** इति, परोक्षस्थित-भक्तोद्धाराऽकर्तृत्वेन तेषु दयाभावात् क्रूरत्वेन इदानीन्तनैः **अभजनीयः स्यात्**. तथाच सर्वभजनीयत्वेन सर्वेश्वरत्वं भगवति न स्याद् इति भावः ॥२७-३०॥

[प्र] एवं श्रोतुः अधिकारं निरूप्य वक्तुः अधिकारम् आह :

[का] मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम् ॥
अतएव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ॥३१॥

[प्र] मैत्रेयस्यापि इति, श्रोतर्येव अनुप्रवेशः. ननु वक्तुः प्राधान्याद् भिन्नतया निरूपणम् उचितं, तत् कथं श्रोतृशेषत्वेन इति आशङ्क्य आह अतएव इति. नहि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो निकटे स्थापितः किन्तु विदुरकृपया. अतो भगवन्मार्गे भक्तएव श्रेष्ठो, न अन्यः इति अर्थः ॥३१॥

[टि] **वक्तुः अधिकारम्** इति, विदुराधिकारे परमे उक्ते तद्वक्तृत्वेन मैत्रेयस्यापि तादृशम् अधिकारम् आह इति अर्थः. **श्रोतरि** इति, विदुरमात्रश्रवणार्थं विदुरं हृदि समानीय मैत्रेये तं भावयित्वा भगवता ज्ञापनाद् इति अर्थः. **प्राधान्याद्** इति, ज्ञानस्य सिद्धत्वेन श्रोतुः मुख्यत्वाद् इति अर्थः. **भिन्नतया** इति, तथैव अध्यायचतुष्टयेन इति अर्थः. **श्रोतृशेषत्वेन** इति, गौणशेषत्वेन मुख्यस्य कथनम् अनुचितम् इति भावः. **भक्तएव** इति, मूले **स्वसिद्धये** इत्यनेन स्वः = स्वीयो भक्तः तस्य सिद्धये = ज्ञानाय प्रभुणा तत्सङ्गकरणाद् भक्तिमार्गे **भक्तएव श्रेष्ठो** हीनोऽपि, **न अन्यः** उत्कृष्टोऽपि इति अर्थः. तस्यच भक्तत्वं "**सेवनात् कृष्णदेवस्य**" (त.दी.नि.३।३।२४) इत्यादिना पूर्वमेव निरूपितम्. मैत्रेये

तदभावाद् वक्तृत्वेऽपि गौणत्वमेव इति अर्थः ॥३१॥

[प्र] एवं चतुर्भिः अधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयति इति आह. उभयोः भेदकम् आह :

[का] अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिः निरूप्यते ॥
तत्त्व-कार्य-विभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ॥३२॥

[प्र] अधिकारे इति, तत्त्व-कार्य-विभेदेन इति कार्यं पुरुषशरीरम्. गुणातीता द्विधा हि (सा!) सृष्टिः. अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरूपितम् ॥३२॥

[टि] **चतुर्भिः अधिकारम्** इति, श्रोतृ-वक्तृभेदेन उभयविधम् अधिकारम् इति अर्थः. **मुख्यसृष्टिम्** इति, गुणातीतसृष्टिम् इति अर्थः. **उभयोः** इति, गुणातीतसृष्टिरूपैकार्थनिरूपकत्वेऽपि **उभयोः** अध्याययोः **भेदकम्** अर्थद्वयम् **आह** इति अर्थः. **पुरुषशरीरम्** इति, पुरुषावतारशरीरमेव अत्र सृष्टौ आधिदैविकतत्त्वकार्यं, न विसर्गरूप-भौतिकतत्त्वादिकम् इति अर्थः. **द्विधा हि** इति, व्यष्टि-समष्टिभेदेन इति अर्थः. तत्त्वानि व्यष्टिः, तन्निर्मित-पुरुषशरीरं समष्टिः इति ज्ञेयम्. **अग्रे** इति, सगुणसृष्टौ इति अर्थः. **उभयोः** इति, तत्त्व-तत्कार्यरूप-व्यष्टि-समष्ट्योः इति अर्थः. **कारणत्वेनैव** इति, तत्त्वैः पुरुषशरीरात्मक-भूतनिर्माणं, तेन च सर्वत्र प्रविष्टेन क्षोभोत्पादनात् तत्रैव इन्द्रिय-मात्रादि-भौतिकनिर्माणम् उक्तमिति कारणत्वेनैव तद्द्वयम् अत्र प्रकरणे उक्तम् इति अर्थः. एतेन एतल्लीलायाः "**सर्गः कारणसम्भूतिः**" (ह.ली.३।१) इति वाक्योक्तं सर्गरूपत्वमपि समर्थितम् ॥३२॥

[प्र] तत्र तत्त्वेषु सन्देहाभावात् समष्टेः कारणत्वं साधयति :

[का] समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम्।।
प्रश्नत्रयं तृतीयेतु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ।।३३।।
षड् भेदाः नाऽवतारे हि साधने नोपसंहृतिः ।।
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येकएव तु।।३४।।
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च।।

[प्र] समष्टेः इति, एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारम् आरभते. तत्र प्रथमं विदुरस्य प्रश्नः ''सुखाय कर्माणि'' (भाग.पुरा.३।५।२) इति पञ्चदशभिः श्लोकैः. तत्र किं पृष्टम् इति विचारणीयम्. उत्तरत्वेन भगवल्लीलाम् आह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूपाम्. ततः तदनुरोधेन एकः प्रश्नः कर्तव्यः इति भवति तदभावाद् विचारः. तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः. फलार्थं विहितानि कर्माणि क्रियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्ति इति एकः प्रश्नः. तत्र अंशत्रयम् अस्ति इति आह **कर्माणि प्रति वर्णिनाम्** इति. न एतानि कर्माणि लौकिकानि किन्तु वैदिकानि, अन्यथा भ्रान्तस्य फलविपर्यये न किञ्चिद्दूषणम्. अतो **वर्णिनामेव कर्माणि प्रति प्रश्नत्रयम्**. कथं सुखं न जायते, दुःखाभावो वा उद्देश्यभेदेन? कथंवा असङ्कल्पितं दुःखं जायते? इति. अथ यदि कर्ममार्गः एतादृशएव तदा प्राणिना किं कर्तव्यम्? इति प्रथमः प्रश्नः.

तत्र यदि उत्तरं भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति, तत्रापि भजनमपि कर्मेति येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथय इति द्वितीयः प्रश्नः. अवतारचरितप्रश्नः तृतीयः. अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम् : उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः नानात्वम् इति. कार्यप्रश्नः पञ्चमः. सर्वत्र भिन्नप्रकार-करणहेतुः प्रश्नः षष्ठः. एवम् अवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति. एवं सति प्रश्नत्रयं भवति.

जीवकर्माणि द्विविधानि : स्वार्थानि भगवदर्थानि च इति,

भगवत्कर्माणि च तृतीयानि ; तत् सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति. एतत्पदं पूर्वेणापि सम्बद्ध्यते वर्णिनाम् इत्यनेन. तद् द्योतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन. साधारण्येन च प्रतिज्ञा. प्रश्नत्रयम् इति, तृतीये भगवत्कार्यप्रश्ने अवताराऽनवतारभेदेन द्वैविध्यम्. तत्र अनवतारप्रश्ने षट् भेदाः. सएव प्रथमः इति प्रथमे पुनः इति उक्तम्. पश्चाद् अवताराः. उद्देशेन ग्रहणसन्देहं वारयति न अवतारे हि इति. अतो अनभिव्यक्त-भगवतएव षट् प्रश्नाः कृताः, उपसंहारेऽपि निरूपिताः ''यानि ईश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्'' (भाग.पुरा.३।५।१६) इति, गृहीतावतारस्य च.

तेन भगवत्कर्मस्वेव द्विविधेष्वपि तस्य उपसंहारः इति तत्रैव उत्तरम् उक्तम् इति न दोषः. यतः साधने जीवकर्तृककर्मणि न उपसंहृतिः. हेत्वन्तरमपि द्वयोरपि विभेदेन इति, ''तद् अस्य कौषारव'' (भाग.पुरा.३।५।१५) इति, ''स विश्वजन्मस्थिति'' (भाग.पुरा.३।५।१६) इति. इदानीं प्रश्नान् गणयितुं प्रथमः उद्देशप्रकारेण एकएव प्रश्नः इति आह प्रकटे ह्येकएव तु इति. प्रकटो अवतारः. अप्रकटे षड्भेदान् वदति जन्मादयः इति. उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः यथा ''ससर्ज अग्रे'' (भाग.पुरा.३।१२।२) इत्यादिना. प्रवेश-नानात्वे एकत्वेन गणिते. तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः ''यैः तत्त्वभेदैः'' (भाग.पुरा.३।५।८), ''येन प्रजानाम्'' (भाग.पुरा.३।५।९) इति॥३३-३४ १/२॥

[टि] तत्त्वेषु इति, व्यष्टिरूपेषु इति अर्थः. सन्देहाभावाद् इति, विसर्गरूपत्व-संशयाभावाद् इति अर्थः. समष्टेः इति, पुरुषशरीरस्य इति अर्थः. एवं प्रकरण... इति, प्रकरणस्य गुणातीतस्य एवम् अनेन प्रकारेण अध्यायार्थं निरूप्य सगुणप्रकरणादौ प्रश्ननिरूपक-पञ्चदशवाक्यानां सम्बन्धिनं प्रश्ननिर्धारकं विचारम् आरभते इति अर्थः.

तत्र इति, पञ्चदशसु श्लोकेषु इति अर्थः. **भगवल्लीलाम्** इति, "**अथ ते भगवल्लीला**" (भाग.पुरा.३।५।२२) इति वाक्याद् इति भावः. **उत्पत्ति...** इति, "**विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था**" (भाग.पुरा.३।५।२-२) इति वाक्याद् इति अर्थः. **ततः तद्...** इति. **तदनुरोधेन** लीलारूपैकोत्तरानुरोधेन **प्रश्नोऽपि एक**एव तद्विषयक-संशयजनकः **कर्तव्यः इति** विचारे क्रियमाणे अर्थो **भवति** इति अर्थः. **तदभावाद्** इति, एकप्रश्नाभावाद् इति अर्थः. **तत्र** इति, विचारे क्रियमाणे भगवल्लीलोत्तरकं प्रश्नत्रयं सेत्स्यतीति तन्मध्ये **प्रथमम्** इति अर्थः. **विहितानि** इति, वेदेन फलकारणत्वेन बोधितानि इति अर्थः. तथाच तादृशानां तेषां विपरीतफलसाधकत्वं प्रत्यक्षसिद्धं न सम्भवति इति भावः. **तत्र** इति, कर्मविषयकप्रश्ने इति अर्थः. **अंशत्रयम्** इति. कथं सुखार्थं क्रियमाणानां सुखासाधकत्वं वा, उद्दिश्य भेदेन दुःखाभावासाधकत्वं कथंवा अर्थः? तथाच कर्मभिः वैदिकैरपि जायमानं सर्गादिसुखम् अन्ते पातात् न सुखम् इति प्रश्नकर्तुः अभिप्रायः इति अर्थः. **किन्तु वैदिकानि** इति, मूले "**सुखाय**" (भाग.पुरा.३।५।२) इति चतुर्थ्या सुखमात्रार्थत्वेन तेषां प्रश्नविषयत्वोक्तेः. **अन्यथा** इति, लौकिककर्मोक्तौ इति अर्थः. **भ्रान्तस्य** इति, लौकिककर्माणि धनार्जनादीनि भ्रान्त्यैव भवन्ति, पूर्वं तत्सिद्ध्यनिश्चयात्. तथाच भ्रान्तस्य शैत्यार्थिनो वह्नौ, तापार्थिनो जलादौ प्रवृत्तस्य यथा **फलविपर्यये** फलाभावे **न किञ्चिद् दूषणं** तत्र तत्फलाभावात् तथा लौकिककर्ममात्रस्य भ्रमप्रतिपन्नत्वेन तत्र निष्फले प्रवृत्तौ फलाभावे न किञ्चिद् दूषणम् इति अर्थः. **अतः** इति. यतो लौकिकेषु कर्मसु सुखहेतुत्वं सम्भावयितुमपि अशक्यं विपरीतानुभवाद् **अतो वर्णिनां** त्रैवर्णिकानां तानि वैदिकानि प्रत्यंशभेदेन **प्रश्नत्रयं**, वस्तुतस्तु एकः इति अर्थः. **उद्देश्यभेदेन** इति. उद्देश्यतावच्छेदकभेदेनैव दुःखाभावस्य भिन्नत्वं, वस्तुतस्तु सुख-दुःखाभाव-रूपेण एकएव भगवान् इति अर्थः. अतएव "**तं यथा यथा उपासते तथैव भवति**" (मुद्गलोप.३)

इति श्रुतिः. **असङ्कल्पितम्** इति, कर्मफले कामः कारणं, तत्र तद्धेतुभूत-दुःखविषयक-सङ्कल्पस्यापि अभावे कथं तदुत्पत्तिः इति अर्थः. **कर्ममार्गः एतादृशः** इति, सुखभ्रमात् प्रवृत्तानां दुःखसाधकः इति अर्थः. **किं कर्तव्यम्** इति, लौकिकं कर्तव्यम् अथवा तूष्णीं स्थातव्यम् इति अर्थः. **प्रथमप्रश्नः** इति, अंशत्रयसहितो वैदिककर्मविषयकः प्रश्नः इति अर्थः.

भगवद्भजनम् इति, यदि त्वया एवम् उत्तरं देयं "यत्र अस्ति परमानन्दः तादृशमपि कर्म अस्ति भगवद्भजनरूपं, तत् कर्तव्यम्" इति, परं तदपि कर्म इति क्रियारूपम्. तस्यापि प्रकारो ज्ञातव्यो भजनं बाह्यम् आन्तरं वा? त्यागेन अत्यागेन वा? पुरुषोत्तमस्य साक्षाद् विभूतीनां च (/ वा ?) कर्तव्यम्? कीदृशः भगवत्प्रीतिसाधकम्? इति येन प्रकारेण कृतं तद्भजनमपि फलं जनयति तत्प्रकारनिरूपको मार्गो वाच्यः इति "**तत् साधुवर्य आदिश वर्त्म शं नः**" (भाग.पुरा.३।५।४) इत्यनेन **द्वितीयः प्रश्नः** इति अर्थः. **अवतार...** इति, "**करोति कर्माणि**" (भाग.पुरा.३।५।५) इत्यनेन **तृतीयः** इति अर्थः. **अवतारव्यतिरेकेण** इति, प्रपञ्चे समागमनव्यतिरेकेण तदा स्वस्थानस्थितेनैव चरित्रकरणाद् इति अर्थः. **प्रश्नचतुष्टयम्** इति, "**यथा ससर्ज अग्रे ... संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते, यथा पुनः स्वे स्वे इदं निवेश्य शेते ... एकः एतदनुप्रविष्टो बहुधा यथा आसीद्**" (भाग.पुरा.३।५।५-६) इत्यादिभिः उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयप्रवेशसूचित-नानात्वविषयकं प्रश्नचतुष्टयम् इति अर्थः. **कार्यप्रश्नः** इति, "**क्रीडन् विधत्ते**" (भाग.पुरा.३।५।७) इति श्लोकेन भगवदवतारचरित्रप्रश्नः इति अर्थः. **पञ्चमः** इति भिन्नतया कथनं पूर्वेषां प्रश्नानां कारणविषयकत्वेन सजातीयत्वबोधनाय. **सर्वत्र** इति, प्रपञ्चे पदार्थेषु भिन्नप्रकारेण कारणं भगवता, नतु एकेन प्रकारेण इत्यत्र यो हेतुः तत्त्वभेदरूपः तद्विषयको "**यैः तत्त्वभेदैः**" (भाग.पुरा.३।५।८) इत्यनेन कृतः **षष्ठः** इति

अर्थः. **एवम्** इति, एते अनवतारचरित्रप्रश्नाः षड् अवतारचरित्रेण सहभूताः **सप्त प्रश्नाः भवन्ति** इति अर्थः. एतेन यावन्ति अनवतारचरितानि तानि अवतीर्यापि लीलासृष्टौ करोति इति बोधितम्.

पर्यवसितम् अर्थम् आहुः **एवं सति** इति. पञ्चदशस्वपि श्लोकेषु जीवकर्माणि भगवत्कर्माणि च पृष्टानि. तत्र **जीवकर्माणि द्विविधानि : स्वार्थानि** स्वफलसाधकानि **भगवदर्थानि** स्वतन्त्रसेवासाधकानि, **भगवत्कर्माणि** तच्चरित्राणि इति त्रयाणां प्रश्नात् **सामान्यतः प्रश्नत्रयम्** इति अर्थः. **एतत्पदम्** इति, एतत्पद्यस्थं **'प्रश्नत्रयम्'** इति **पूर्वेण 'कर्माणि प्रति वर्णिनाम्'** इत्यनेन **अपि** देहलीदीपन्यायेन **सम्बद्ध्यते** इति अर्थः. ननु एवं सम्बन्धे को हेतुः ? तत्र आहुः **वर्णिनाम्** इति, वर्णिनां हि कर्माणि त्रिविधानि भवन्ति सत्त्वादिगुणैः वर्णभेदेन च, शूद्रस्य कर्माभावात् स्मार्तानां शूद्रेषु विहितानां कर्मत्वेन अगणनात्. तथाच तान्येव त्रिविधानि प्रति प्रश्नत्रयम् इति अर्थः. ननु जीवस्वार्थकर्ममात्रविषयक-प्रश्नत्रयं क्वापि नास्ति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **प्रश्नप्रथम...** इति, **"सुखाय कर्माणि"** (भाग.पुरा.३।५।२) इति प्रथमश्लोके सुखाभाव-दुःखाभावाभाव-दुःखसम्बन्धित्वेन कर्मस्वेव प्रश्नत्रयकरणाद् इति अर्थः. एवं सति भगवदर्थ-कर्मप्रश्न-द्विविधभगवच्चरित्रप्रश्नैः सह षट् प्रश्नाः भवन्ति. तथाच षड्गुणा भगवल्लीलैव पृष्टेति सर्वेषाम् एकमेव उत्तरं लीलानिरूपणम् इति भावः. ननु एवं **"प्रश्नत्रये अथ सम्पन्ने"** (त.दी.नि.३।१।७१) इति प्रतिज्ञानुपपत्तिः इति आशङ्क्य आहुः **साधारण्येन** इति. **चस्त्वर्थः, प्रतिज्ञा** तु सामान्यतः त्रयः प्रश्नाः भवन्तीति **साधारण्येन** सामान्यप्रकारेण इति अर्थः. अतएव आभासेऽपि **सामान्यतः प्रतिजानीते** इति उक्तम्. ननु एवं प्रश्नत्रयपक्षेऽपि भगवच्चरित्रस्य द्विविधत्वात् चत्वारः प्रश्नाः भवन्तीति प्रतिज्ञानुपपत्तिः तादवस्थैव इति चेत्, तत्र आहुः **अवतार...** इति, **अवताराऽनवतारभेदेनैव द्वैविध्यं**, वस्तुतस्तु उभयोः उभयत्र सत्त्वाद्

भगवच्चरित्रत्वेन एकत्वम् इति अर्थः. **सएव प्रथमः** इति, **सएव** अनवतारविषयकः प्रश्नएव पश्चादेव स्वसृष्ट-जीवोद्धाराय स्वेच्छया भक्तकृपया वा प्राकट्यात् **प्रथमः** इति अर्थः. **उक्तम्** इति, मूले इति अर्थः. **पश्चाद् अवतारा**ः इति, सृष्ट्यर्थं षड्विधपूर्वोक्तलीला-करणानन्तरमेव इति अर्थः. **उद्देशेन** इति, उद्देशो नाममात्रेण कीर्तनम्. तथाच चरित्राण्येव षड्विधानीति तेषाम् अत्र प्रश्नेषु ग्रहणमिति यः सन्देहः तम् इति अर्थः. **न अवतारे** इति, अवतारेतु दशविधलीला-तदवान्तरभेदैः च चरित्राणाम् अनन्तत्वाद् इति भावः. **अतः** इति, यतो अवतारभेदानन्त्यम् अतो अनभिव्यक्तस्यैव षट् प्रश्नाः, तत्र षण्णामेव चरित्राणां सत्त्वाद् इति अर्थः. ननु तथापि भगवल्लीला सर्वत्र प्रश्नोत्तरत्वेन न युज्यते, प्रथमतएव जीवकर्माणां पृष्टत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **उपसंहारेऽपि** इति, भगवत्प्रश्नाएव उपसंहारे निरूपिताइति तस्य प्राबल्यम् इति जीवकर्मणां सुखासाधकत्वं दुःखसाधकत्वं, भगवत्कर्मणामेव सुखसाधकत्वम् इत्येतद्भिप्रायेण तन्निरूपणम् इति अर्थः. ननु अन्ते "**यानि ईश्वरः**" (भाग.पुरा.३।५।१६) इति वाक्ये 'यानि' इति सामान्योक्त्या जीवरूपेणापि यत् करोति तत् पृष्टम् इति न भगवत्कर्मस्वेव उपसंहारः इति आशङ्क्य आहुः **गृहीतावतारस्य** इति. अस्मिन्नेव पद्ये "गृहीतगुणावतारस्य" इति भगवद्विशेषणाद् इति भावः.

तेन इति, येन हेतुना अनवताराऽवतारभेदेन भगवच्चरित्राण्येव पृष्टानीति तेष्वेव उपसंहाराद् उपक्रमस्य अर्थविचारे दुर्बलत्वात् **तत्रैव** भगवच्चरित्रएव "**अथ ते भगवल्लीला**" (भाग.पुरा.३।५।२२) इत्यादिना **उत्तरम् उक्तम् इति न** प्रश्नोत्तर-वैषम्यदोषः इति अर्थः. ननु उपक्रमे जीवकर्मणामेव पृष्टत्वात् प्राथम्येन उपक्रमस्य पूर्वमीमांसान्यायेन प्रबलत्वात् च तत्रैव उत्तरदानम् उचितमिति तदभावात् प्रश्नोत्तर-वैषम्यदोषो यथास्थितएव इति आशङ्क्य आहुः **यतः साधने** इति. जीवकर्तृककर्माणि

साधनं, भगवत्कर्माणि फलं, मोक्षाधिक-स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपत्वात्. तथाच साधन-फलयोः मुख्यता फलएवेति मुख्ये फले उपसंहारात् तस्यैव प्राबल्यम्. अनयोः बलाबलनिर्णये अर्थबलाबलसत्त्वमेव नियामकम्. अन्यथा "**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**" (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रम्य अन्ते "**य एवं वेद इति उपनिषद्**" (तैत्ति.उप.२।१०) इत्यनेन जीवे उपसंहाराद् उपनिषदां जीवपरत्वमेव स्यात्! प्रकृते तु जीवकर्मणां साधनत्वेन उक्तफलतो हीनत्वाद् उपक्रमे तन्निरूपणे तस्यापि न प्राबल्यम् इति भावः. **हेत्वन्तरमपि** इति, अनवताराऽवतारभेदेन भगवच्चरित्रेष्वेव उपसंहारः इत्यत्र द्वयोः चरित्रयोः कथारूप-कृतिरूपयोः "**तद् अस्य कौषारव...स विश्वजन्मस्थिति....**" (भाग.पुरा.३।५।१५-१६) इति श्लोकाभ्याम् अन्ते भेदेन प्रश्नाद् अयमपि एको हेतुः. अन्यथा "**यानि ईश्वरः**" (भाग.पुरा.३।५।१६) इति सामान्यभाषयैव प्रश्नः कृतः स्याद्, न भेदेन इति अर्थः. **इदानीम्** इति, प्रश्नान् निर्धार्य पञ्चदशसु श्लोकेषु कति प्रश्नाः इति तान् **गणयितुं** लीलारूपोत्तरे सन्देहाभावाय **प्रथमे** सर्वकारणरूपे सृष्ट्यर्थं स्वतएव आविर्भूते **उद्देशप्रकारेण** नाममात्रेण कीर्तनरूपेण **एकएव प्रश्नः**, अवतीर्णचरित्रमात्रम् उद्दिश्य प्रश्नकरणाद् इति भावः. **प्रकटो अवतारः** इति, एतेन भक्त्या तत्तदर्थप्रकटस्य भावेन स्वानन्ददायकत्व-लक्षणचरित्रप्रश्नो न भवति इति बोधितम्. **अप्रकटे** इति, अनवतीर्णेन तु परोक्षरसानुभवाय अन्तर्हितः इति अर्थः. **प्रवेशनानात्वे** इति, प्रपञ्चम् उत्पाद्य तत्र प्रवेशानन्तरमेव भगवतः एकस्य नानात्वस्फुटीभावात् कारण-कार्यभावेन मृद्-घटादीनामिव तयोः एकत्वेन गणना इति अर्थः. **प्रकारद्वय...** इति, "**यैः तत्त्वभेदैः**"-"**येन प्रजानाम्**" (भाग.पुरा.३।५।८-९) इति वाक्याभ्यां लोककल्पन-भेदकरणप्रकारौ पृष्टौ इति अर्थः ॥३३-३४ १/२॥

[प्र] एवं भगवत्कर्मप्रश्नेषु क्रियमाणेषु पूर्वयोः उत्तरं न वक्तव्यमिति स्वरुच्या शास्त्रनिर्धारिण च निरूपयति इति आह :

[का] हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ।।३५।।
स्वरुचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

[प्र] हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारः इति, ''कः तृप्नुयात्'' (भाग.पुरा.-३।५।११) इति चतुर्भिः प्रश्नैः हेतूक्तिः. अनेनैव शास्त्रनिर्धारः : गृहासक्तिः दुःखात्मकं संसारं प्रयच्छति, कर्माणितु गृहासक्तिकार्याणि अतो दुःखजनकत्वम् उचितमेव इति. ननु स्वयं पृष्ट्वा स्वयमेव कथम् उत्तरयति इति आशङ्क्य आह भक्तत्वज्ञापनाय हि इति, भक्तो हि कर्मणाम् असारतां ज्ञात्वा भगवद्धर्मेषु रमते, ततः कर्मप्रश्नः तस्य अयुक्तो भवति, एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वं रुच्यापि इति आह स्वरुचिश्चापि इति. ''परावरेषाम्'' (भाग.पुरा.३।५।१०) इति श्लोकेन स्वरुचिः उक्ता, ''मह्यम्'' (भाग.पुरा.३।५।१६) इति उपसंहारेऽपि. ननु अवतारचरित्रमपि न उत्तरे निरूप्यते इति आशङ्क्य आह षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् इति, स्थितौ अवताराणां प्रवेशं मन्यते. पुरुषे वा अनुप्रवेशः ।।३५ १/२।।

[टि] एवम् इति, उपसंहारे मुख्यतया उभयविध-भगवच्चरित्रप्रश्नेषु क्रियमाणेषु इति अर्थः. पूर्वयोः इति, जीवानां स्वार्थ-भगवदर्थक-कर्मणोः इति अर्थः. न वक्तव्यम् इति, श्रोतुः मम रुच्यभावात् शास्त्रनिर्धारात् च इति अर्थः. हेतूक्त्या इति, ''परावरेषाम्'' (भाग.पुरा.३।५।१०) इत्यनेन स्वस्य भगवच्चरित्रश्रवणे तृप्त्यभावकथनेन तत्रैव रुचिः उक्ता. ''कः तृप्नुयाद्'' - ''मुनिः विवक्षुः'' - ''सा श्रद्दधानस्य'' - ''तान् शोच्यशोच्यान्'' (भाग.पुरा.३।५।११-१४) इति चतुर्भिः श्लोकैः कथायामेव सुखसाधकत्वरूप-हेतूक्त्या अन्येषां दुःखसाधकत्वमेव इति शास्त्रार्थनिर्धारो विदुरस्य इति अर्थः. ननु गृहं हि लोके सुखसाधकं, तदासक्तिनिवर्तकत्वेन कथं कथायाः सुखसाधकत्वमिति हेतुः अयं व्यभिचारी इति आशङ्क्य आहुः गृहासक्तिः इति दुःखात्मकम्

इति, अहन्ता-ममतयोरेव दुःखत्वात्. अन्यथा जीवो अक्षरात्मकःइति स्वानन्दं भगवदानन्दं च सर्वदा अनुभवेद् इति अर्थः. ननु एतावता कर्मणां दुःखसाधकत्वं कथं निश्चितम् इति आशङ्क्य आहुः **कर्माणि तु** इति, गृहासक्तेरेव कार्यरूपाणि कर्माणि, तदभावे विरक्तस्य सर्वत्यागेन मोक्षसाधकवर्त्मनि प्रवेशाद् इति अर्थः. **अतः** इति, यतो गृहासक्तिमूलकानि कर्माणि इति अर्थः. **उचितमेव** इति, दुःखात्मक-कारणजन्यानां तेषां गृहासक्तिपोषकत्वाद् इति भावः. त्यागः सुखात्मकः इति सुखपोषकत्वमेव, दुःखात्मकगृहादित्यागस्य सुखरूपत्वात्. अतएव "**त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः**" (महाना.उप.१०।५) इति श्रुतिः.

ननु एवं सति स्वयमेव पूर्वं कर्माणि किमर्थं पृष्टवान्? पृष्ट्वा वा किमिति तदुत्तरं दत्तवान्? इति आशङ्क्य आहुः **भक्तत्व...** इति. "**सुखाय कर्माणि करोति लोकः**" (भाग.पुरा.३।५।२) इति प्रश्नस्य अन्यार्थं करणात् स्वयमेव तदुत्तरदानेन कर्मणि असारतावगमबोधनात् "**मह्यम्**" (भाग.पुरा.३।५।१६) इत्यनेन स्वनिश्चयज्ञापनात् च स्वस्य भक्तत्वमेव ज्ञापितम्. अन्यथा अभक्ताय भगवदीयो न भगवच्चरित्रं वदेद् इति भावः. ननु भक्तत्वमेव अनेन कथं ज्ञापितम्? ज्ञानिनोऽपि कर्मणि अपसारताप्रतीतिः इति आशङ्क्य आहुः **भगवद्धर्मेषु** इति, **भगवद्धर्मेषु** भगवत्कथाश्रवणादिषु भक्ताएव परमानन्दं प्राप्नुवन्ति, न ज्ञानिनः इति अर्थः. अतएव उक्तम् आचार्यैः निरोधलक्षणे "**ये निरुद्धाः तएव अत्र मोदम् आयान्ति अहर्निशम्**" (नि.ल.११) इति. **ततः** इति, यतो अयं भक्तो अतः तस्य स्वनिमित्तं कर्मप्रश्नो न युक्तः इति अर्थः. **एवं ज्ञापनेन** इति. **एवम्** अनेन प्रकारेण प्रश्नस्वरूपज्ञापनेन यद् भक्तत्वं ज्ञापितं तद् न शास्त्रार्थज्ञानेन माहात्म्यज्ञानात् किन्तु प्रेम्णापि इति ज्ञापयितुम् आहुः **रुच्यापि** इति, रुचिस्तु "**परावरेषाम्**" (भाग.पुरा.३।५।१०) इति श्लोकेनैव उक्ता. तत्रापि प्रेम्णा आधिक्यज्ञापनाय शास्त्रार्थज्ञानज्ञापक-श्लोकचतुष्टयात् पूर्वमेव रुचिः

उक्ता इति भावः. **मह्यम्** इति, कदाचिद् अन्यार्थं प्रश्नोत्तरकथनेऽपि "**यानि ईश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्**" (भाग.पुरा.३।५।१६) इत्यत्र अन्ते 'मह्यम्' इति कथनात् मदर्थं तु उभयविधभगवच्चरितान्येव कथय इति अभिप्रायेण 'मह्यम्' इति उपसंहारोऽपि भक्तत्वज्ञापकः इति अर्थः. ननु मैत्रेयेण अनवतारसामयिक-लीलाषट्कमेव उत्तरे निरूपितम् इति अवतारचरित्रप्रश्नः स्वार्थोऽपि न उत्तरितः इति आशङ्क्य आहुः **स्थितौ** इति, षट्सु उत्तरेषु या स्थितिलीला उक्ता तन्मध्यएव अवतार-तच्चरित्रप्रवेशाद् इति अर्थः. अयम् अभिप्रायः : सत्त्वाधिष्ठानेन भगवदवताराभावे स्थितिः (लीला!) न भवति, "**स त्वं त्रिलोकस्थितये ... बिभर्षि**" (भाग.पुरा.१०।३।२०) इति वाक्यात्. अतएव जगत्स्थित्यर्थं नारायणावतारेण तपःकरणम्॥३५ १/२॥

[प्र] ननु "तत् साधुवर्य! आदिश वर्त्म शं नः" (भाग.पुरा.३।५।४) इति प्रश्नो अनुपपन्नः, प्रश्ने वा उत्तरे वा समानाभावाद् इति आशङ्क्य समाधत्ते :

[का] इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोः भगवत्प्रीणनेऽपि च॥३६॥
उत्तमे पथि सम्प्रश्नः आद्यावेतौ यथोत्तरम्॥

[प्र] इष्टे इति, इष्टे सुख-दुःखाभावे भगवत्प्रीणने वा प्रसिद्धहेतोः अभावाद् अन्यो हेतुः वक्तव्यःइति लोकोपकारार्थं प्रश्नः उचितः. अतएव आद्यौ एतौ सर्वसाधारणौ, लोकोपकारार्थं स्वार्थं च यतनीयम् इति. ननु अस्य उत्तराभावात् कथं प्रश्नः? इति. तत्र आह यथोत्तरम् इति, यथावद् उत्तरम्, उत्तरवाक्ये प्रथमतएव "लोकान् साधु अनुगृह्णता" (भाग.पुरा.३।५।१८) इति प्रशंसायाः कृतत्वात् तृतीयोत्तरेणैव आद्योत्तरं यथावद् उक्तम् इति अर्थः॥३६ १/२॥

[टि] ननु एवं "तत् साधुवर्य! आदिश" (भाग.पुरा.३।५।४)

इत्यनेन मार्गप्रश्नो व्यर्थः, कर्मप्रश्नस्य लोकार्थत्वेन स्वस्य भक्तत्वज्ञापकत्वात्. नच लोकार्थमेव अयं प्रश्नः इति वाच्यं, पूर्ववत् लोके इति प्रश्नवाक्ये कथनात्, प्रत्युत "नः" इति स्वार्थत्वेन कथनात् च. नच मार्गप्रश्नो लीलारूपेण उत्तरेण पूर्यते इति वाच्यम्, उत्तरे लीलाएव निरूप्यन्ते नतु तच्छ्रवणादि येन प्रश्नोत्तरयोः समानं वाक्यं भवेत्. अतो **अनुपपन्न**एव अयं **प्रश्नः** उत्तराभावाद् इति अर्थः. **इष्टे** इति, सुख-दुःखाभावरूपे **इष्टे** लोकानां **प्रसिद्धो** यो वेदादौ कर्मरूपो हेतुः सतु प्रत्यक्षविरोधाद् न सम्भवतीति **अन्य**एव तत्र हेतुः वाच्यः. तथा भगवत्प्रसादेऽपि तस्य, "**भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति**" (महाभा.ता.नि.१।११६), "**भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपायः**" (भाग.पुरा.७।९।९) इत्यादिवाक्यैः. अतः कर्मपराः भगवन्मार्गाज्ञानात् कथं सुखवन्तो भविष्यन्ति इति तेषु दयया तदर्थं तदनन्तरम् अव्यवधानेन मार्गप्रश्नः इति अर्थः. अतएव सर्वाभिप्रायेण "नः" इति बहुवचनम्. अन्यथा चरित्रप्रश्ने 'मह्यम्' इतिवद् अत्रापि एकवचनमेव वदेद् इति भावः. **अतः** इति, प्रश्नवाक्यविचारेण सर्वार्थावेव एतौ प्रतीयेत अतः तथा इति अर्थः. **आद्यौ एतौ** इति, भगवद्भक्तानां दयालुत्वेन प्रथमम् अन्योपकारविचारस्य उचितत्वाद् इति अर्थः. **लोकोपकारार्थम्** इति, तदैव दयासिद्धेः इति भावः. **स्वार्थं च** इति, स्वार्थं प्रयत्नाभावे स्वात्मनि करुणा न सिद्ध्येद् इति भावः. अतएव "**नृदेहम् आद्यम्**" (भाग.पुरा.११।२०।१७) इति श्लोके 'आत्महा' इत्यनेन तस्य आत्मघातित्वम् उक्तम्. **अस्य** इति, लोकार्थप्रश्नस्य इति अर्थः. **उत्तराभावाद्** इति, उत्तरे लीलाकथनरूपे भगवन्मार्गाकथनाद् इति अर्थः. **कथं प्रश्नः** इति, अविचार्य प्रश्नकरणं विदुरे अतिचतुरे न सम्भवतीति केन प्रकारेण प्रश्नः इति अर्थः. **यथावद्** इति, प्रश्नो **यथा** येन प्रकारेण तद्वत् तेनैव उत्तरनिरूपणात्. **प्रथमतएव** "**लोकान् साधु अनुगृह्णता**" (भाग.पुरा.३।५।१८) इति प्रशंसाकारणात् चरित्रविषयक-

तृतीयप्रश्नोत्तरेण लीलाकथनरूपेणैव श्रीभागवतरूपत्वेन उक्तेन लोकोपकार-स्वोपकारत्वप्रकारेण उत्तरं निरूपितम् इति अर्थः ॥३६ १/२॥

[का] उत्तरत्वेन कथनाद् उत्तरं कर्मणि स्थितम् ॥३७॥
अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरम् आद्ययोः ॥

[प्र] तत्र हेतुः उत्तरत्वेन कथनाद् इति. तदेव स्पष्टयति उत्तरं कर्मणि स्थितं भगवच्चरित्रकथने पर्यवसितम्. अतएव सभाजनम्. तदुत्तरेणैव आद्ययोरपि उत्तरम् इति. दुःखाभावः सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव. तेनैव भगवानपि तुष्यति ॥३७ १/२॥

[टि] **तत्र** इति, उभयोपकारकथने इति अर्थः. **उत्तरत्वेन** इति, पृष्टस्य सर्वस्य निःसन्दिग्धतायाः असिद्धौ लीलाकथनस्य उत्तरत्वमेव न स्याद् इति भावः. **तदेव** इति, उत्तरत्वमेव इति अर्थः. **भगवच्चरित्रकथने** इति, भागवतरूपत्वेन भगवच्चरित्रे कथिते सर्वेषामेव उपकाराद् लोकविषयक-स्वविषयकप्रश्नस्य उत्तरं भगवच्चरित्रएव पर्यवसितम् इति अर्थः. **अतएव** इति, यतः प्रश्नः एतादृशः कृतो यत्र भगवल्लीलातिरिक्तं न उत्तरत्वेन वक्तुं पतति अतः "**साधु पृष्टम्**" (भाग.पुरा.३।५।१८) इत्यनेन प्रश्नकर्तुः **सभाजनम्** अभिनन्दनम् इति अर्थः. तदेव विवृण्वन्ति **तदुत्तरेणैव** इति, चरित्रप्रश्नोत्तरेणैव इति अर्थः. **आद्ययोरपि** इति, कर्म-भगवन्मार्गविषययोः प्रश्नयोः इति अर्थः. आद्ययोः उत्तरं येन प्रकारेण भवति तं प्रकारम् आहुः **दुःखाभावः** इति. उत्तरत्वेन निरूपितेन तच्छ्रवणं सिद्धम् अर्थात्. तथाच लीलाश्रवणमेव दुःखाभाव-सुखरूपोभय-पुरुषार्थसाधकं, सएव च मार्गः इति उभयोः उत्तरमपि अनेन जातम् इति अर्थः. ननु लीलाश्रवणस्य कथं मार्गत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **तेनैव** इति. श्रवणेनैव भगवान् तुष्यति, "**शृण्वतां स्वकथा...**" (भाग.पुरा.१।२।१७) इति वाक्याद् इति अर्थः ॥३७ १/२॥

[प्र] ननु भक्तानां स्तुतिः कुत्र उपयुज्यते ? तत्र आह :

[का] **कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः ॥३८॥**
विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोऽपि सुदुष्करम् ॥
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तम् इति स्थितिः ॥३९॥

[प्र] **कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वम्** इति, पौत्रोत्पत्तौ पुत्राणामिव न प्रकृते तत्त्वानां स्वतन्त्रता. ननु सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि, भारतादावपि एतावच्छ्रुतत्वाद् इति आशङ्क्य आह **विशेषतस्तु कथनम्** इति. तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनम् ? तत्र आह **श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थम्** इति, श्रवण-कीर्तनादेः विषयः एतादृश इति ज्ञापनार्थः ॥३८-३९॥

[टि] ननु अत्र प्रकरणे देवतारूपाणां पुरुषशरीरकारणभूत-तत्त्वानां स्तुतेः कुत्र उपयोगः, सृष्टौ अनुपयोगाद् इति आशङ्क्य आहुः **पौत्रोत्पत्तौ** इति, यथा **पौत्रोत्पत्तौ** पौत्रोत्पत्तिविषये **पुत्राणामेव** स्वातन्त्र्यं, न पितुः, तम् अपृष्ट्वैव स्वेच्छया पुत्रोत्पादन-यत्नकरणात्, तथा तत्त्वानामपि स्वकार्योत्पादने स्वातन्त्र्यं भविष्यति इति शङ्का स्यात्. तदभावार्थं स्तुतिनिरूपणेन तदधीनत्वम् उक्तम् इति अर्थः. **प्रकृतोपयोगि** इति, **प्रकृतं** गुणातीतसृष्टिः **तदुपयोगि** सामान्यतो निरूपणम् **एतावद्** यावद् अत्र उच्यते तावद् **भारत**-विष्णुपुराणादावपि **श्रुतत्वाद्** अत्र विशेषतो निरूपणं कर्तव्यम् इत्याशयेन आशङ्का इति अर्थः. **ब्रह्मणोपि** इति मूले, ब्रह्मणः चतुर्मुखत्व-तादृक्सामर्थ्यवत्त्वेऽपि भगवल्लीलायाः अनन्तत्वाद् यावद् उच्यते तावत् स्वल्पमेवेति तस्यापि **विशेषतो** निरूपणं **सुदुष्करम्** इति अर्थः. **तर्हि** इति, विशेषतो निरूपणाभावे कथनस्यैव अत्र किं प्रयोजनं, सामान्यतो निरूपणस्य सर्वत्र भारतादिषु सत्त्वेन ततएव श्रवणसिद्धेः इति अर्थः. **श्रवणकीर्तनादेः** इति, "**तस्माद् भारत**" (भाग.पुरा.२।१।५) इति पद्ये श्रवणादिविधिः प्रतिपादितः,

तत्र **श्रवणादेः विषयः** सर्गादिः **एतादृशः** श्रीभागवतोक्तः एतदानुपूर्वीविशिष्टो न भारताद्युक्तः, तत्र लीलारूपत्वेन सर्गादीनाम् अप्रतिपादनाद्, अतः तद्विषयस्वरूप-**ज्ञापनार्थो** मैत्रेयस्य एवं प्रकारेण सर्गकथनाभिप्रायः इति अर्थः ॥३८-३९॥

[का] सर्वावतारबीजत्वात् पुरुषेणैव तत्कथा ॥
गुणातीतात् सृष्टिलीला द्वयेनैव निरूपिता ॥४०॥

[प्र] अवतारचरित्रस्य अनन्तर्भावम् आशङ्क्य आह **सर्वावतारबीजत्वाद् इति. अध्यायद्वयार्थम् उपसंहरति गुणातीताद् इति ॥४०॥**

[टि] **अवतारचरित्रस्य** इति, उत्तरे षड्विधलीलानिरूपणे स्थितौ अवताराणां तद्धेतुत्वेन अन्तर्भावो ; अवतारचरित्रस्य साधुपरित्राण-दुष्टविनाशहेतोः युद्धादिरूपस्य तु कुत्र अन्तर्भावः, मुक्तिदातृत्वेन प्रलये स्थितशरीरादिनाशनात्, स्थितौ उत्पन्नस्य धर्मसहितस्य रक्षणे च अन्तर्भावायोग्यत्वात् ? अतएव नानात्वकार्यप्रकार-भेदप्रकारादि-प्रश्नविषयचरित्रेषु च न अन्तर्भावः. **सर्व...** इति, **"पुरुषेण आत्मभूतेन वीर्यम् आधत्ते वीर्यवान्"** (भाग.पुरा.३।५।२६) इति श्लोके पुरुषनिरूपणं कृतं, तत्कथा च मायायां वीर्याधानरूपा उक्ता. तथाच स सर्वावतारबीजम्, **"एतन्नानावताराणाम्"** (भाग.पुरा.१।३।५) इति वाक्याद्, अतः तत्कथानिरूपणेन सर्वावतारकथा निरूपिता इति भावः. **अध्यायद्वयार्थम्** इति, पञ्चम-षष्ठाध्यायार्थम् इति अर्थः ॥४०॥

[का] सगुणान्तु त्रयेणाह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ॥
ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥४१॥

[प्र] सगुणा तु लीला त्रिभिः, सृष्टि-भगवतोः मध्ये गुणानाम् अधिकारत्वात्. तेहि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धा निरूप्यन्ते

इति ज्ञापयितुम् आह पूर्वपक्षाधिकत्वतः इति. अत्रापि कारणसम्भूतिः कार्यसम्भूतिः इति अध्यायद्वयम्. तत्र कारणं ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत्. तत् कालशेषत्वेन निरूपणीयम् इति स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते सफलम्॥४१॥

[टि] **त्रिभिः** इति, अध्यायैः इति अर्थः. ननु अत्र पूर्वसर्गात् को विशेषो, अत्रापि भगवतएव मूलत्वप्रतिपादनाद्? इति आशङ्क्य आहुः **सृष्टि-भगवतोः** इति, सृष्टिः कार्यं भगवान् कर्ता, तयोः मध्ये "**भगवान् एकएव आस इदम्**" (भाग.पुरा.३।५।२३) इति वाक्याद् न कोऽपि स्थितः. पूर्वसृष्टौ भगवतएव असहायकर्तृत्वाद् एतत्सृष्टौ तु गुणाएव भगवतः कर्तृत्वे अधिकाररूपाः इति तदस्वीकारे केवलस्य कर्तृत्वाभावादिति गुणवत्त्वं सृष्टिप्रयोजकम् यत्रेति पूर्वसर्गाद् विशेषः इति अर्थः. **तेहि** इति. **मतान्तरभाषया** साङ्ख्यशास्त्र**सिद्धाः** गुणाः **निरूप्यन्ते.** वेदे भागवते च समाधिभाषया भगवति गुणसम्बन्धस्य अनुक्तत्वात् तेऽपि पूर्वपक्षवाक्येष्वेव निरूप्यन्ते, न सिद्धान्तवाक्येषु, तेषां परमतत्त्वसिद्ध(त्व!)ज्ञापनाय इति अर्थः. ननु तथापि "**सा इयं भगवतो माया**" (भाग.पुरा.३।७।९) इत्यादिना अग्रे मायया भगवच्छक्त्या गुणसम्बन्धस्य सिद्धान्तवाक्येषु वक्तव्यत्वेन तददूषणात् पूर्वोक्त-गुणातीतसृष्टिनिरूपणम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आहुः **पूर्वपक्षाधिक-त्वतः** इति. अत्र प्रकरणे सगुणसृष्टावपि पूर्वपक्षाणामेव अधिकत्वं, न सृष्टेः विसर्गरूप-सगुणसृष्टित्वं साङ्ख्येव, मायागुणैः सृष्ट्यनिरूपणात्, किन्तु भगवद्गुणावतार-ब्रह्मरूप-रजोगुणसाहित्यमेवेति गुणातीतसृष्टि-समानत्वमेव. सगुणत्वोक्तिस्तु स्वगुण-रजःप्राकट्येन तत्साहित्यम् आदाय इति अर्थः. अयम् अर्थः : एते त्रयोऽपि सत्त्वादयः सच्चिदानन्दानाम् अंशभूताः भगवतएव. तत्र सति सत्त्वं, चिति रजः, तमः आनन्दे. तेषामेव अवतारा: ब्रह्म-विष्णु-शिवाः प्रपञ्चे फलदानाय. तएव बहुविधसर्गेषु मायासृष्टौ कदाचित् मायया परिगृहीताः तद्गुणाः उच्यन्ते,

यथा भगवतः ऐश्वर्यादयो विभूतिरूपेषु स्थिताः तद्गुणाः. तथाच तत्सृष्टौ न मूलभूतसृष्टित्वम् उच्यते, विभूतिकार्येषु मूलभूतकार्यत्वमिव. वस्तुतस्तु ब्रह्मवादे सर्वं मूलकार्यं तथापि लीलायां भेदः, तत्तद्रूपेण करणात्. प्रकृतेतु सर्गलीला इयं मूलरूपेण 'भगवच्'छब्दवाच्येन उच्यते श्रोतव्यत्वेनेति न तादृशसगुणसृष्टि-निरूपकत्वम् अस्य प्रकरणस्य इति पूर्वपक्षरूपेणैव तेषां गुणानां निरूपणम् इति भावः. **अत्रापि** इति, अस्मिन् सगुणप्रकरणेऽपि गुणातीतप्रकरणवदेव कारण-कार्यसृष्टिरेव उच्यते, न विसर्गरूपा सगुणसृष्टिः इति अर्थः, तस्यां विभूतिरूपायां सत्त्वादिभेदेन सनकादि-मरीच्यादि-महादेवादीनां त्रिगुणानामेव सृष्टेः निरूपणीयत्वाद् इति भावः.

कारणं ब्रह्मा इति, रजोगुणसहितो भगवानेव इति अर्थः. **स्तोत्रमेव** इति, यद्यपि ब्रह्मकार्यं सर्वमेव त्रिगुणात्मकं जगत् तथापि तद् अत्र कार्यत्वेन न निरूप्यते, विसर्गनिरूपणापत्तेः. अतः तत् सृष्टिकारणरूप-ब्रह्मस्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते. तदग्रे एतद्विभूतिनिरूपणार्थं कालप्रकरणे कारणभूत-कालशेषत्वेनैव, तदधीनाद् ब्रह्मणो, निरूप्यतेइति न कुत्रापि मुख्यविसर्गनिरूपणमिति सर्वप्रकरणेषु सर्गनिरूपणं निष्पप्रत्यूहं सेत्स्यति इति भावः. ननु स्तोत्रस्य कार्यत्वोक्तिः अनुपपन्ना, ब्रह्मणा कृतत्वेऽपि न जगत्सृष्टिरूपत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **सफलम्** इति, स्तोत्रमात्रमेव न अत्र अध्याये निरूप्यते किन्तु तत्फलम् अग्रे क्रियमाण-जगत्प्रकाशनं "**व्यज्य इदं ... कञ्जनाभः तिरोदधे**" (भाग.पुरा.३।९।४४) इति वाक्याद् निरूप्यतेइति सूक्ष्मप्रकारेण सर्वापि सृष्टिः ब्रह्मणो हृदयागताः निरूपिताःइति तद्विशिष्टं स्तोत्रं सृष्टिरूपत्वात् कार्यरूपमेव इति अर्थः ॥४१॥

[प्र] एवं सामान्यतः त्रयाणाम् अध्यायानाम् अर्थाः निरूपिताः अधुना विचार्यन्ते. ननु इयं लीला विसर्गमध्ये, न सर्गे इति आशङ्क्य आह :

[का] एतद्विभूतिरूपत्वाद् अन्येषां न विसर्गता।।
साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुज्यते।।४२।।
अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम्।।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते।।४३।।

[प्र] **एतद्विभूतिरूपत्वाद्** इति. **एतद्** इति, प्रथमसृष्टस्वरूपं पुरुषरूपम् उच्यते. **अन्येषां** ब्रह्मादीनाम् अस्ति विभूतित्वं, ब्रह्मादीनाम् अस्ति च **विसर्गता.** उभयोः किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **साधारण्येन कथनम्** इति. भागवतं हि सारोद्धारात्मकम् उत्तमाधिकारसहितं च, तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम्. तर्हि विसर्गो न वक्तव्यः इति आशङ्क्य आह **यादृशो हि विसर्गः** इति. तस्य न विभूतित्वं सम्भविष्यति इति भावः ।।४२-४३।।

[टि] **त्रयाणाम्** इति, सप्तमाध्याये पूर्वपक्षत्वेन गुणनिरूपणं, मायायाः भगवच्छक्तित्वनिरूपणेन न अन्यगुणसम्बन्धइति तदंशस्य जीवस्य विक्षेपशक्तिरूपया मायया विक्षेपात् तद्गुणसम्बन्धे "**स वै निवृत्तिधर्मेण**" (भाग.पुरा.३।७।१२) इत्यादिना तन्निवर्तकोपायज्ञान-भगवत्कृपा-भक्त्यादिकम् उक्तम्. तथा अष्टमे कारणभूत-ब्रह्मोत्पत्तिः उक्ता. नवमे तत्कार्यरूपं सृष्टिसहितं स्तोत्रम् उक्तमिति **सामान्यतः त्रयाणाम् अध्यायानाम् अर्थाः निरूपिताः** इति अर्थः. **अधुना विचार्यन्ते** इति, एते त्रयोऽपि अर्थाः पूर्वोक्तसर्गरूपत्व-दृढीकरणाय पूर्वपक्ष-सिद्धान्ताभ्यां विचार्यन्ते इति अर्थः. **इयम्** इति, एतत्प्रकरणोक्ता इति अर्थः. **विसर्गमध्ये** इति, कारणभूत-ब्रह्मस्वरूपनिर्णयपूर्वकं चतुर्मुखोत्पत्तिनिरूपणे-ऽपि सृष्टेः ब्रह्मकृतायाएव निरूपणाद् इति अर्थः. **प्रथमसृष्टस्वरूपम्** इति, 'एतच्'छब्देन नाभिकमलस्थित-ब्रह्मसहितं सर्वजगत्समष्टिरूपं तदात्मकं मूलभूत-पुरुषावताररूपम् उच्यते. तथाच तत्कार्यभूतानां कारणत्वेन उक्तानामपि ब्रह्मादीनां मूलभूत-विभूतिरूपत्वमेवेति विभूतिरूप-

विसर्गनिरूपणमेव, न मुख्यविसर्गनिरूपणम् इति अर्थः. अतएव अन्येषां ब्रह्मप्रकृतीनां विभूतिरूपत्वं, न ब्रह्मणः इति आशङ्क्य तस्यापि मूलरूप-विभूतित्वमेव इति अभिप्रायेण आहुः **ब्रह्मादीनाम्** इति. ननु ब्रह्मणः सर्वकारणस्य कथं विभूतिरूपत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **अस्ति च** इति. गीतायां विभूत्यध्याये "**यच्चापि सर्वभूतानां बीजम्**" (भग.गीता.१०।३९) इति वाक्येन तस्यापि तत्त्वेन निरूपणाद् इति भावः. ननु विभूतित्वेऽपि कार्यरूपत्वाभावात् कथं विसर्गता, स्वतएव जातत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **विसर्गता** इति. "**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्**" (श्वेता.उप.६।१८) इति वाक्यात् तथात्वमपि इति अर्थः. **उभयोः** इति, यदि ब्रह्मादीनां विसर्गत्वं तदा सर्गस्कन्धे सर्ग-विसर्गयोः निरूपणे किं प्रयोजकम् इति अर्थः. **भागवतं हि** इति. "**सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्**" (भाग.पुरा.१।३।४२) इति वाक्याद् अत्र भागवते सर्गादीनां सारोद्धारःइति सर्गादिषु यः सारांशः साक्षात्पुरुषोत्तमलीलारूपो मोक्षरूप-सर्गादिरूपः स गृहीतःइति स यादृशः स्वविभूतिसहितो भगवानेव तादृशो अत्र निरूप्यते इति पुराणान्तरे सर्गादीनां यत् साधारण्येन स्वविभूतिं विहाय केवलं तन्मात्रनिरूपणं तद् न उपयुज्यते इति अर्थः. किञ्च अत्र श्रोत्रधिकारवैशिष्ट्यादपि न साधारण्येन कथनं घटते इति अभिप्रायेण आहुः **उत्तमाधिकारसहितं च** इति. अत्र अधिकारी परमोत्तमएव प्रतिपादितः परीक्षिद् विदुरः च, अन्येषां निरूपणन्तु एतदुत्तमतावगत्यर्थमिति तादृशेषु सर्वोत्तममेव सर्गादिकं वक्तव्यम् इति अर्थः. **तेन** इति, येन हेतुना भागवतं सारोद्धाररूपम् अधिकारः च उत्तमः तेन न पुराणान्तरसमतया अत्र सर्गादिकं निरूप्यम् इति अर्थः. **न विसर्गत्वेन** इति, किन्तु सर्गविभूतित्वेन इति अर्थः. **तर्हि विसर्गः** इति, विसर्गस्य सर्गविभूतित्वे तस्य अत्र निरूपणात् चतुर्थस्कन्धे स्वातन्त्र्येण तन्निरूपणं न कार्यम् इति अर्थः. **यादृशो हि** इति, विसर्गोऽपि सर्गवत् साक्षाद्भगवल्लीलारूपः विभूतिकः. तस्य धर्मादयः

पुरुषार्थाः विभूतयः. तथाच तत्सहितः चतुर्थस्कन्धे चतुर्भिः प्रकरणैः निरूप्यतेइति **तस्य** स्वविभूतिसहितत्वाद् **न विभूतित्वं सम्भविष्यति.** अत्रतु तदनिरूपणाद् विभूतिरूपत्वमेव इति भावः ॥४२-४३॥

[प्र] गुणातीतात् सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वतएव निरूपिता भगवदाज्ञया, तावता विदुरस्य आकाङ्क्षायां, समाप्तौ सर्वसन्देहवारकं भागवतमेवेति सूतवत् शुकवद् भागवतमेव उपक्षिपति. तत्र अस्य परम्पराशेषात् सङ्कर्षणात्, तथा सति ब्रह्मादिक्रमेण न आगतम् इति कथं भागवतम् इति आशङ्क्य आह :

[का] कृष्णोक्तन्तु पुराणं हि श्रीभागवतम् उच्यते ॥
अयमर्थस्त्वन्यमुखाद् नोद्भविष्यति कर्हिचित् ॥४४॥

[प्र] कृष्णोक्तम् इति, भगवता प्रोक्तं भागवतम्. गीतादीनामपि भागवतत्वमेव परं न पुराणत्वम्. नहि अन्यो भगवल्लीलां जानाति इति अभिप्रायेण आह अयम् अर्थः इति ॥४४॥

[टि] ननु मैत्रेयेण भागवतन्तु सप्तमाध्यायम् आरभ्यैव उक्तम्, **'' अद्यापि कीर्तयामि अङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ''** (भाग.पुरा. ३।६।३६) इति वाक्यात्, तथाच अध्यायद्वयीयकथा न भागवते प्रवेक्ष्यति इति आशङ्क्य आहुः **स्वतएव** इति, विशिष्य विदुरप्रश्नाभावेऽपि अनुचितत्वमपि अविचार्य **भगवदाज्ञया** उद्धवश्रवणसमयप्राप्तया **स्वतएव** भगवदुक्त-गुणातीतसर्गरूपा पराकाष्ठापन्ना लीला उक्ता इति भगवदुक्तत्वाद् भागवतएव प्रवेक्ष्यति इति भावः. ननु तथापि कथनम् अनुचितं, प्रश्नाभावे स्वस्य सापेक्षतादोषसम्भवाद् इति आशङ्क्य आहुः **तावता** इति. नहि सामान्यतोऽपि अश्रुते भगवति आकाङ्क्षा श्रोतुः इति तदाकाङ्क्षोत्पादनार्थमेव भगवदुक्तं सूक्ष्मतमं भागवतम् उक्तम्. तदपि

भगवदाज्ञयेति वस्तुतो भगवतैव उक्तम्. अन्यथा तद्विस्ताररूप-भागवतश्रवणाकाङ्क्षा न भवेत्. अतः तावता गुणातीतसर्गनिरूपणेन तस्य आकाङ्क्षायाम् अग्रे भागवतनिरूपणं सेत्स्यतीति विदुरार्थमेव तन्निरूपणाद् न मैत्रेयस्य सापेक्षतादोषः सम्भविष्यति इति भावः. अतएव अग्रिमप्रकरणारम्भे साकाङ्क्षताज्ञापिकैव विदुरस्य पूर्वपक्षकृतिः. अन्यथा उपेक्षैव कृता स्याद् इति भावः. **समाप्तौ** इति, गुणातीतप्रकरणसमाप्तौ इति अर्थः. **सर्वसन्देहवारकम्** इति, एतच्छ्रवणेन विदुरस्य आकाङ्क्षा उत्पन्ना इति अवगत्य भगवद्रूपमेव **भागवतं** "**भिद्यते हृदयग्रन्थिः**" (मुण्डकोप.२।२।८) इति श्रुतेः **सर्वसन्देहवारकं**, न जीवबुद्धिः इति तदेव वक्तव्यत्वेन विदुरस्य अग्रे "**अद्यापि कीर्तयामि**" (भाग.पुरा.३।६।३६) इति वाक्येन **उपक्षिपति** समीपे उपस्थापयति इति अर्थः.

ननु स्वातन्त्र्येण कथने काव्यादीनामिव स्वबुद्धिपरिकल्पितत्वमेव भवेद्, न भगवद्रूपत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **सूतवत् शुकवद्** इति. "**सो अहं वः श्रावयिष्यामि**" (भाग.पुरा.१।३।४५), "**एवम् एतत् पुरा पृष्टः**" (भाग.पुरा.३।१।१), "**अधीतवान् द्वापरादौ**" (भाग.पुरा.२।१।८) इत्यादिवाक्यैः सूत-शुकाभ्यां यथा न स्वातन्त्र्येण उक्तं तथा मैत्रेयेणापि न स्वातन्त्र्येण उक्तम् इति अर्थः. ननु तथापि मैत्रेयोक्तस्य न भागवतत्वं, शेषपरम्परया प्राप्तत्वाद्, ब्रह्मादिपरम्परया प्राप्तस्यैव तत्त्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **भगवता प्रोक्तम्** इति. 'भागवत'शब्दो न रूढः पुराणविशेषे; किन्तु, यौगिकः तथाच तेन प्रोक्तम् इति अधिकारका-ऽण्प्रत्ययेन भगवत्प्रोक्तत्वं तस्य शब्दस्य अर्थः. अतः सर्वासु परम्परासु भगवत्प्रोक्तत्वम् एतद् न व्यभिचरतीति मैत्रेयोक्तस्य ब्रह्मपरम्परातिरिक्त-परम्परागतस्यापि भागवतत्वम् इति अर्थः. ननु एवम् अस्य शब्दस्य यौगिकत्वे तम् आदाय गीतादिष्वपि तथा व्यवहारः स्याद् इति आशङ्क्य आहुः **भागवतत्वमेव** इति, अन्यथा

तद्विस्तारत्वम् अस्य सर्वथा भेदे न स्याद् इति भावः. ननु एवं व्यवहारो न दृश्यते गीतादिष्विति रूढएव अयं शब्दो निरुच्यताम् इति आशङ्क्य आहुः **न पुराणत्वम्** इति. गीतायां वस्तुतो भागवतत्वमेव, तत्सूक्ष्मरूपत्वात्, तथापि पुराणगणनायां विस्पष्टतया पुराणरूपे अस्मिन्नेव 'भागवत'शब्दप्रयोगेण तत्रैव व्यवहारो, गीतायां पुराणरूपत्वाभावेन न तथा व्यवहारः इति भावः. वस्तुतस्तु व्यवहारेऽपि तथा न दोषः इति ज्ञेयम्. ननु व्यासोक्ते अस्मिन् मूलतो भगवत्प्रोक्तत्वम् आदाय किमिति 'भागवत'शब्दो निरूप्यते, तथाच रूढो व्यासस्य भगवदवतारत्वेन तत्प्रोक्तत्वाद्, यौगिको वा सर्वपुराण-स्मृतिसाधारणः उच्यताम् इति आशङ्क्य आहुः **अयम् अर्थः** इति मूले. **नहि अन्यः** इति, व्यासो हि कलावतारः पुरुषोत्तमधर्मवेत्तैव, तद्धर्मज्ञानावतारत्वाद्, न स्वरूपवेत्ता. भागवते लीलानिरूपक-पुरुषोत्तमस्वरूपमेवेति तन्निरूपणं **''स्वयम् आत्मानम् आत्मना''** (भाग.पुरा.६।७।१०) इति वाक्यात् तज्ज्ञेनैव कर्तव्यम् इति मूलभूतभगवत्प्रोक्तत्वम् आदाय अत्र 'भागवत'शब्दः इति अर्थः. अतएव पूर्वम् उक्तं निबन्धे **''ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बोधं भजनादृते''** (त.दी.नि.२।६०) इति॥४४॥

[प्र] ननु अत्र परम्परायां पराशराद् मैत्रेयस्य अध्ययनं, सतु विष्णुपुराणम् आह इति प्रसिद्धिः, तस्माद् अस्य न भागवतम् इति आशङ्क्य आह :

[का] वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम्॥
सर्वतोमुखम् एतद्धि तदर्थं शेषतः कथा॥४५॥
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणम् इहाण्वपि॥

[प्र] वैष्णवादिपुराणानि इति, ''त्रयोविंशति (साहस्रं) वैष्णवम्'' (ब्रह्मवै.पुरा.४।१३३।१२) इति. त्रयोविंशतिसहस्रपरिमितं पुराणं

भिन्नमेव, तद् व्यासेनैव कृतम्, ''अष्टादशपुराणानाम्'' (महाभा.१८।-५।४७) इति वाक्यात्. इयन्तु पराशरसंहिता भिन्नैव. पराशरो हि भागवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथा बोधितवान्, तस्मात् तदपि भागवतमेव इति न कोऽपि विरोधः. ननु तथापि परम्परा भिन्नैवेति कथं भागवतम् इति चेत्, तत्र आह **सर्वतोमुखम्** इति. भगवतोहि स्वरूपं (भगवतैव) भागवते वक्तव्यम्. तद् भगवान् स्वयमेव कदाचिद् वदति. कदाचित् सङ्कर्षणो वासुदेवस्यैव तत्त्वं वदति, ''तत्त्वम् अतः परस्य'' (भाग.पुरा.३।८।३) इति वाक्यात्. ननु तत्र वाक्यानुपूर्वी विसदृशी, तत् कथम् अनयोः एकत्वम्? तत्र आह **अर्थमात्रप्रधानत्वाद्** इति. सर्गादयो अर्थाः यादृशाः भागवते विवक्षिताः तएव पराशरवक्तृकेऽपि सन्तीति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्॥४५१/२॥

[टि] ननु तथापि मैत्रेयोक्तस्य न भागवतत्वम् आयाति एतत्परम्परायां, पराशरतो अध्ययनेन. तेनच लोकप्रसिद्ध्या विष्णुपुराणाध्यापनात्. पुराणम् एतद् विष्णुपुराणं वैष्णवमेव इति अर्थः. **प्रसिद्धिः** इति, लोकप्रसिद्धिरेव इति अर्थः. वस्तुतस्तु पराशरसंहिता भिन्नैव इति अग्रे वाच्यम् इति भावः. **तच्छेषाणि** इति, पुराणसङ्ख्यागणनप्रस्तावे त्रयोविंशतिसहस्रश्लोकपरिमितं विष्णुपुराणं पराशरोक्ताद् भिन्नमेव, एतस्य अल्पत्वात्. अतएव तद्विस्तारोऽपि अत्र स्कन्धद्वयेनैव जातः. तस्माद् व्यासकृतमेव, न पराशरकृतम्. लोकप्रसिद्धिस्तु भ्रमात्. तथाच वैष्णवादिसर्वेषां व्यासकृतानां पुराणानां दशलक्षणलक्षित-श्रीभागवतीय-पञ्चलक्षण-प्रतिपादकत्वात् तच्छेषत्वमेव, भागवतवद् भगवत्परम्परासिद्धत्वाभावाद् न मुख्यत्वम् इति अर्थः. अन्यपुराणानां परम्पराप्राप्तत्वाभावाय आहुः **व्यासेनैव कृतम्** इति, व्यासेन स्वज्ञानबलेन प्रादुर्भावितम् इति अर्थः. अन्यथा पुराणत्वं न स्यात्, ''पुरा न—नवं पुराणम्'' इति निरुक्तेः. श्रीभागवतन्तु तेनापि समाधौ परम्परया प्राप्तम् इति स्वज्ञानसामर्थ्येन कृतत्वाद् अन्येषां पुराणानां तच्छेषत्वं युज्यते इति भावः. ननु विष्णुपुराणन्तु

लोकप्रसिद्ध्या पराशरेण परम्परया प्राप्तमेव अस्तु, तस्य व्यासकृतत्वे किं प्रमाणम् इति आशङ्क्य आहुः **अष्टादश**... इति. एतस्य व्यासकृतत्वाभावे "**अष्टादशपुराणानाम्**" (महाभा. १८।५।४७) इति वाक्ये सङ्ख्यानुपपत्तेः.

ननु एवम् अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेन श्रीभागवतस्यापि व्यासकृतत्वमेव आयातीति न सर्वमुख्यत्वसिद्धिः इति चेद्, न, महाभारतान्तर्गतगीतावद् अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वेऽपि मुख्यत्वोपपत्तेः, दशलक्षणलक्षितत्वात् च. ननु अस्य अष्टादशपुराणान्तर्गतत्वमेव असम्भवि, महाभारतकरणानन्तरम् एतत्करणात्, पुराणानाम् अष्टादशानान्तु भारतात् पूर्वमेव "**अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः**" (स्कन्दपुरा.७।१।२।९४) इति वाक्येन करणाद् इति चेद्, न. अष्टादशस्वेव भागवतम् अस्ति सूक्ष्मं, वृत्रासुरवधोपेतत्वादि-लक्षणं, परं तत् पञ्चलक्षणमेव एतस्माद् भिन्नम्. अतएव तत्र धर्मविस्तरवर्णनम् उक्तं, प्रकृतेतु भक्तिः प्रतिपाद्यतेइति मूलरूपस्य अवताररूपे प्रवेशवद् एतस्यापि परम्पराप्राप्तस्य अधिकलक्षणयुक्तस्य तत्र प्रवेशःइति न भेदो नापि अभेदः इति सर्वम् उपपद्यते सङ्ख्यादिकमिति न वाक्यविरोधः इति अर्थः. ननु तथापि एककर्तृत्वमेव आयाति इति कथम् एतन्मुख्यतोपपत्तिः इति चेत्, कृष्णावतारे मूलरूपप्रवेशेन सर्वावतारमुख्यत्ववद् एतस्य भगवदाविष्ट-तदवतारव्यासकृतस्य तत्र प्रवेशेन तन्मुख्यत्वसिद्धेः. कृष्णावतारे अभेदप्रतीतिवद् अत्रापि अभेदप्रतीतिः. अतएव आचार्यैः प्रथममेव "**भक्तिजनिकां संहिताम् आरभमाणः**" (सुबो.१।१।१) इति संहितात्वमेव उक्तं, पश्चादेव पुराणप्रवेशात् पुराणत्वं, खिलस्य हरिवंशस्य भारतप्रवेशाद् भारतत्वमिव. किञ्च सर्वेषामेव पुराणानां धर्मप्रतिपादकत्वमेव. सच धर्मो वैदिको वाक्यानिच. तत्र व्यासैः वैदिकान्येव उपनिबद्धानि, न अपूर्वरचना. तथाच स्त्री-शूद्रादीनां धर्मानधिकारिणां न तैः कार्यसिद्धिः, त्रयीतु श्रुतिगोचरा न भवतीति कथं धर्मसिद्धिः तेषां भविष्यतीति

कृपया स्त्री-शूद्रादीनाम् अर्थे सर्ववेदार्थोपबृंहितं लौकिकचरित्रनिरूपकं, ननु अनवतारसामयिक-भगवल्लीलारूप-वेदार्थसर्गादिपञ्चलक्षणबोधकं भारतं कृतवान्. ततोऽपि कलौ न निस्तारो, धर्मज्ञानेऽपि कलौ देशादिषट्-साधनाभावाद् धर्मासिद्धेः. अतएव व्यासस्य शोकः , सर्वोद्धारार्थं पुराण-भारताद्युपायकारणेऽपि कलौ तदनुद्धारात्. तथाच अवतारदशायां निःसाधनजनोद्धृतये भक्तदुःखेन मूलरूपप्राकट्यवद् अत्रापि व्यासदुःखेन परमकृपालुः श्रीभागवतरूपेण स्वप्राकट्यं कृतवान्; परन्तु, अवताररूपे तत्प्रवेशवद् अत्रापि पुराणरूपे तस्मिन् प्रवेशःइति न अनुपपत्तिः काचित्. अतएव आचार्यैः मङ्गलाचरणीय-प्रथमश्लोके "**भक्तिवत् च स्वतन्त्रं शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति यः**" (सुबो.१।१।का.१) इति उक्तम्. एतद्भेदानवगमात् तद्वाक्यमात्रम् अवलोक्य भ्राम्यन्ति विद्वांसोऽपि इति सर्वम् अनवद्यम्. अतएव एतस्य "**अम्बरीष! शुकप्रोक्तम्**" इति वाक्ये शुकप्रोक्तत्वं लक्षणम् उक्तम्. "**यदि इच्छसि भवक्षयम्**" (पद्मपुरा.६।१९५।३६) इत्यनेन मुक्तिसाधकत्वं च उक्तम्. अन्यस्य तु व्यासकृतत्वमेव ; न शुकोक्तत्वम्. अन्यथा अन्यव्यावर्तकं 'शुकप्रोक्तम्' इति विशेषणं न वदेत्. अत्र व्यासोक्तिः कीरवद् अर्थज्ञानाभावेन शब्दमात्रानुवादिकैव. अर्थप्राकट्याय अतएव अस्मदाचार्य-वर्यावतारः. भगवद्वाक्यत्वाद् अवताररूपस्य व्यासस्य भजनाभावेन पूर्वं तदर्थानवबोधः. अतएव परीक्षिच्छ्रवणावसरे भजनसिद्ध्यर्थमेव श्रोतृत्वम्. एतेन व्यासस्य कीरस्येव श्रवणसमये स्वकृतत्वस्फूर्तिरपि न आसीद् इति सूचितम्.

इयन्तु इति, पराशरेण मैत्रेयं प्रति अभिहिता भागवतार्थनिरूपिका संहिता इति अर्थः. ननु पराशरसंहितायाः भागवतार्थत्वेन किं विनिगमकम् इति आशङ्क्य आहुः **पराशरो हि** इति, साङ्ख्यायनवद् अनाद्यनन्तपरम्पराप्राप्तं भागवतं श्रुत्वैव मैत्रेयाय पराशरसंहिताकथनात् तथात्वम् इति अर्थः. **तथा** इति, भागवतार्थत्वेन तस्मै पराशरो बोधितवान्

इति अर्थः. ननु तथापि न अस्य भागवतत्वं, 'भगवच्'छब्दवाच्येन परमकाष्ठापन्नेन प्रोक्तत्वाभावाद् इति आशङ्क्य आहुः **न कोऽपि** इति, सङ्कर्षणस्यापि तद्विभूतित्वेन भगवत्त्वाद् इति भावः. **परम्परा भिन्ना** इति. तथाच कारणभेदात् कार्यमपि भिद्येतेति परम्पराद्वयसिद्धयोः भागवतयोरपि भेदः स्याद् इति भावः. **भगवतो हि** इति, लीलाविशिष्टं भगवत्स्वरूपं यत्र निरूप्यं तत्र यादृशं रूपं निरूपणीयं तादृशरूपेण भगवतैव तद् वक्तुं शक्यमिति स्वतः स्वविभूतिरूपतो वा भगवानेव वदतीति भगवत्प्रोक्तत्वेन भागवतमेव इति अर्थः. **स्वयमेव** इति, यदा मूलरूपं तल्लीलाविशिष्टं परोक्षे भक्तानां बोधाय वक्तुम् इच्छति तदा स्वयमेव तादृशाधिकारिणे वदति, यथा उद्धवाय. यदा पुनः अवताररूपविवक्षा तदा तादृग्रूपेण, यथा नारायणो ब्रह्मणे. यदा वा विभूतिरूप-मुक्तिदानादि-कार्यविवक्षा तदा विभूतिरूपेण, यथा सङ्कर्षणः सनत्कुमाराय. तथाच सर्वत्र तत्तद्रूपैः भगवानेव वक्तेति सर्वथा अस्य भगवत्प्रोक्तत्वमेव इति अर्थः. **कदाचिद्** इति. यदा "**तत्त्वम् अतः परस्य**" (भाग.पुरा.३।८।३) इति वाक्यात् सङ्कर्षणाद् अग्रिमस्य वस्तुतोऽपि तदंशित्वात् **परस्य** वासुदेवस्य **तत्त्वं** विवक्षितं भवति तदा "**सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः, वासुदेवः स विज्ञेयः तस्यांशोऽनन्तः उच्यते**" (सुबो.१०।१।२४।का.१) इति वाक्यात् तस्य सङ्कर्षणांशित्वेन तत्तत्त्वस्य तदंशभूतेन सङ्कर्षणेनैव वक्तुम् उचितत्वात् तदा तद्द्वारैव वदति इति अर्थः.

ननु तत्र इति, पराशरसंहितायाम् एतन्मूलत्वेन उच्यमानायाम् इति अर्थः. **विसदृशी** इति, विलक्षणा इति अर्थः. **कथम् अनयोः** इति, पराशरसंहितारूप-मैत्रेयोक्त-भागवतयोः इति अर्थः. **सर्गादयः** इति. श्रीभागवतस्य शब्दार्थभेदेन उभयविधस्य पूर्वं हृदये भगवत्स्थिति-भक्तिदान-रूपफलद्वय-कथनाद् भक्तेः मुख्यफलत्वेन तद्दायकस्य अर्थस्यैव प्राधान्यं, भगवद्भजनवत्. तथाच श्रीभागवते **सर्गादयः** पुरुषोत्तमलीलारूपाः **अर्थाः**

(यादृशाः !) यावद्भेदभिन्नाः **विवक्षिताः** वक्तुम् इष्टाः तादृशाएव **पराशरवक्तृके** तत्संहितारूपे भागवते **सन्ति** इति अर्थैक्याद् उभयोः ऐक्यम् इति अर्थः. शब्दभेदस्तु वेदशब्दवद् अस्यापि फलविशेषबोधनाय. अतएव पूर्वम् उक्तम् **''एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः''** (त.दी.नि.३।१।१०) इति. यथा वेदधारणेन नारायणता तथा एतद्धारणेन कृष्णता भवति इति अर्थः. तथाच अवान्तरफलं परमफलं श्रीभागवतादेव भवतीति परोक्षे प्रकटो भगवानेव इदम् इति भावः. एवं भगवदुक्तस्य ब्रह्मोक्तस्य सङ्कर्षणोक्तस्य च भागवतस्य सूक्ष्मता , सूतोक्त-शुकोक्त-मैत्रेयोक्तानां तद्विस्तृतिरूपाणां स्थूलरूपता इति सिद्धम्॥४५ १/२॥

[प्र] केचित् पुनः सूक्ष्मं भागवतं भगवद्-ब्रह्मसम्वादपरम्परया समागतं द्वितीयस्कन्धमात्रं, स्थूलन्तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतम् इति (आहुः !) :

[का] स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिद् आहुर् मृषैव तत्।।४६।।
पञ्चमादन्यवत् कृत्वा तया शास्त्रविरोधतः ।।

[प्र] तं पक्षं दूषयति स्थूल... इति. पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरेण उक्तं, नापि व्यासः पराशरात् श्रुत्वा पञ्चमादिकं कथयति. तथा सति ''कस्मै येन पुरा'' (भाग.पुरा.१२।१३।१९) इति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्परा विरुद्ध्येद्, मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात्. अतः सर्वतोमुखत्वख्यापनार्थमेव अर्थप्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपिता इति निश्चयः ।।४६ १/२॥

[टि] **केचिद्** इति, ब्रह्मोक्तं द्वितीयस्कन्धमात्रं स्वांशसहितं सूक्ष्मं, स्कन्धमात्रपरिमितत्वात्; अग्रे दशस्कन्धात्मकम् **''एवम् एतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल''** (भाग.पुरा.३।१।१) इति तृतीयारम्भे शुकवाक्याद् ब्रह्मोक्त-सूक्ष्मस्य मैत्रेयोक्तं स्थूलम् इति, तयोः उभयोः

शुकेन अनुवादाद् : एवं स्थूल-सूक्ष्मविभागम् आहुः इति अर्थः. **तं पक्षम्** इति, पूर्वोक्तं **केचिद्** इत्यारभ्य उक्तं पक्षम् इति अर्थः. **पञ्चम...** इति. स्थानादिलीलानिरूपकं पञ्चमम् आरभ्य स्कन्धाष्टकम् इति अर्थः. **न पराशरेण** इति. मैत्रेयकथने बीजं हि पराशरात् श्रवणम्. तत्र पराशरेण तु स्वसंहितायां सर्ग-विसर्गावेव उक्तौ, न स्थानादिकम् इति तच्छिष्यस्य तदुक्तानुवादकस्य मैत्रेयस्य कुतः स्थानादि-वक्तृत्वम् इति "मैत्रेयोक्तं दशस्कन्धात्मकं श्रीभागवतं स्थूलम्" इति उक्तिः परेषां न घटते इति अर्थः. ननु व्यासस्य पराशरोत्पन्नस्य ततएव श्रुत्वा स्थानादिकथनमिति तेषामपि पराशरोक्तत्वात् तच्छिष्यत्वेन तत्रापि मैत्रेयकथनं सम्भाव्येतइति पूर्वोक्तैव स्थूल-सूक्ष्मव्यवस्था इति आशङ्क्य आहुः **नापि** इति, व्यासोऽपि न पञ्चमस्कन्धात्मकं पराशरात् श्रुत्वा वदति, अन्यथा "**कस्मै येन पुरा प्रोक्ता**" (भाग.पुरा.१२।१३।१९) इत्यनेन द्वादशस्कन्धे श्रीभागवतसमाप्तौ ब्रह्म-नारदपरम्परा व्यासोक्तौ उच्यमाना बाधिता भवेत्. अतो न व्यासोक्तौ पराशरपरम्परा इति अर्थः. **मध्ये च** इति. यदि "व्यासः पराशराद् उपश्रुत्य वदति" इति उच्येत तदा व्यासोक्तत्वेनैव सम्पूर्णस्य पराशरवक्तृकत्वं भविष्यति इति तदर्थं मध्ये मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्याद्, व्यासेनैव तत्कार्यकरणाद् इति अर्थः.

अतः इति, यतो अत्र श्रीभागवते परम्पराबाहुल्यम् अतः श्रीभागवतस्य सर्वतोमुखत्वं = भगवतइव सर्वतः प्रादुर्भाववत्त्वं तज्ज्ञापनार्थं बहुत्वम् उक्तम् इति अर्थः. ननु सर्वतोमुखत्वं भगवतोऽपि न मूलरूपेण, तस्य स्वेनैव निरूपणात् स्वतएव प्रादुर्भावकरणात्, कुतः पुनः तद्रूपस्य श्रीभागवतस्य सर्वतोमुखत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **अर्थप्राधान्य...** इति, अर्थस्य = श्रीभागवतार्थस्य प्राधान्यं = मुख्यत्वं तद्विवक्षया मूलत्वेन अस्यामपि परम्परायां शेषस्य = सङ्कर्षणस्य कथा निरूपिता इति अर्थः. अन्यथा अर्थस्य साधारणत्वे जीवतएव परम्परा प्रोक्ता स्याद् इति

भावः. तथाच यथा हिरण्यगर्भो अनन्तो वा बहुभिः मुखैः पूर्वं वेदम् अवादि तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनाय ; अन्यस्य तद्वक्तृत्वासम्भवात् स्वयमेव तथा निरूपितवान्, तथा भगवानपि भागवतार्थम् अत्यलौकिकं स्वयमेव अन्यवक्तृत्वासम्भवात् स्वविभूतिरूपैः तस्य सर्वतोमुखत्वज्ञापनाय उक्तवान् इति भावः ॥४६ १/२॥

[प्र] एवं दूषणसमाधानम् उक्त्वा प्रकृते सङ्गतिम् आह :

[का] गुणातीतात् सृष्टिकथा स्वतः उक्ताऽतिगोप्यतः ॥४७॥
कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता ॥

[प्र] गुणातीताद् इति, एतत् पराशरमुखाद् न श्रुतमिति किम् अत्र मूलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह कृष्णाज्ञया तन्मुखतः इति. अनेन मैत्रेयस्य कृष्णमुखादेव भागवतश्रवणम् इति निरूपितम्. भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच, अवतीर्य तु मेत्रेयोद्धवाभ्याम्. उद्धवात् परम्परा न स्पष्टा. मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ॥४७ १/२॥

[टि] **प्रकृते सङ्गतिम्** इति, गुणातीतकथायाः स्वतः उक्तत्वेन भगवतोक्तत्वाभावात् **प्रकृते** भागवते सङ्गतिः न स्याद् इति आशङ्क्य ताम् आह इति अर्थः. **स्वतः उक्ता** इति मूले, गुणातीतसृष्टिकथायाः परम्पराभावाद् अतिगोप्यत्वेन गूढार्थे सामान्यतोऽपि ज्ञानाभावेन प्रश्नासम्भवात् कृष्णाज्ञया प्रश्नाभावेऽपि सा स्वतः उक्ता इति अर्थः. ननु तथापि मैत्रेयस्य कथने भगवदाज्ञासत्त्वाद् दोषाभावेऽपि एतस्य भगवत्प्रोक्तत्वाभावेन कथं भागवतत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **अनेन** इति. "**आशृण्वतो माम्**" (भाग.पुरा.३।४।१०) इति उद्धववाक्याद् विदुरार्थं भगवता मैत्रेयो भागवतं श्रावितमिति भगवन्मुखतः श्रुतत्वेन तत्प्रोक्तत्वाद् भागवतत्वम् इति अर्थः. **कृष्णमुखादेव** इति, प्रथमतः सूक्ष्मरूप-श्रीभागवतश्रवणे भगवन्मुखात् सम्पन्ने पश्चात् तद्विस्ताररूपस्य अन्यतः श्रवणं श्रुतश्रवणमिवेति अश्रवणमेव इति अभिप्रायेण एवम्

उक्तम् इति अर्थः.

अतः परम् अवतीर्णाऽनवतीर्णस्वरूपभेदेन सर्वत्र भागवते भगवत्प्रोक्तत्वं विशदयन्ति **भगवान्** इति. **आदिरूपेण** इति, येन रूपेण जगत्कारणभूतेन ब्रह्मणे वेदम् अवादीत् तेनैव रूपेण श्रीभागवतमपि उक्तवान् इति अर्थः. एतेन श्रीभागवते तुल्योत्पत्तिकतया वेदतुल्यत्वमपि सूचितम् इति भावः. **अवतीर्य तु** इति, अनवतीर्णेनैव केवलेन एतत्प्राकट्यकरणे वेदतुल्यतया तदुपयुक्तानां द्विजानामेव तदुपयोगः स्यात्, तथाच अस्य न सर्वोद्धारकत्वं सिद्ध्येदिति स्वयं निःसाधनानां स्त्री-शूद्रादीनाम् अर्थे मूलरूपेण अवतीर्यापि भागवतं मैत्रेयोद्धवाभ्याम् उक्तवानिति एतस्य सर्वोद्धारकत्वसिद्धिः इति अर्थः. भगवता तु उभययोः कथनं साक्षात्परम्परया श्रीभागवतेन सर्वोद्धाराय. तत्र मैत्रेये परम्परा, उद्धवे साक्षात् तथाकरणम् इति ज्ञेयम्. अतएव उद्धवं प्रति "**अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन् इह तिष्ठतु**" (भाग.पुरा.३।४।३१) इति भगवद्वाक्यम्.

न स्पष्टा इति, विदुरार्थे मैत्रेयमिव शिष्यं भगवान् उद्धवं न आज्ञापितवान् कस्यापि अर्थे. सर्वलोकार्थत्वेन उद्धवाज्ञापनाद् उद्धवैः, यः श्रीभागवतं स्वहृदयएव स्थापयति कस्यापि अग्रे न वदति तादृशम् अन्विष्य स्वतः कृपया कथनाद्, ये शृण्वन्ति ते मूकशर्करावत् स्वयमेव अनुभवन्तीति न उद्धवपरम्परा स्पष्टा इति अर्थः. वस्तुतस्तु उद्धवे स्वयं भगवान् आविष्टो भक्तिबीजरक्षणायेति सद्भूमौ बीजावापे तदुपायैः तत्र अङ्कुरोत्पत्तिवद् अङ्गीकृतजनहृदये उद्धववार्ताश्रवणेन तदागतौ भक्तिबीजावापे भगवद्गुणश्रवणादिभिः उपायैः भक्त्यङ्कुर-प्रेमाद्युत्पत्तिरिति न उद्धवस्य साक्षादुपदेष्टृत्वं किन्तु हृदये प्रविश्य भगवद्भक्ति-तत्स्वरूपप्रकाशकत्वमिति न परम्परा अस्य स्पष्टा इति भावः. अतएव "**न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनः**" (भाग.पुरा.३।४।३१) इत्यनेन सर्वथा स्वसमत्वम् अभिधाय अग्रे स्वज्ञानग्राहकत्वम् उक्तम्

"**अतो मद्वयुनं लोकम्**" (भाग.पुरा.३।४।३१) इत्यनेन. तथाच यथा भगवतः स्वप्रकाशकत्वं तद्धृदयं प्रविश्य तथैव अस्यापीति भक्तिरूपेण अवतीर्णो भगवानेव उद्धवःइति साक्षादुद्धारकत्वं तस्मिन् युज्यते इति भावः. अत्र परम्परां स्पष्टयति **मैत्रेयः** इति॥४७ १/२॥

[प्र] इदम् अत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकं, विदुरस्तु न एवंविधः इति आह :

[का] अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर् नाऽपेक्ष्यते क्वचित्॥४८॥
इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः॥

[प्र] अत्यन्तशुद्धचित्तस्य इत्यनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम्. भगवदीयो यः कश्चिद् भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतम् इति सामान्यलक्षणम्॥४८ १/२॥

[टि] ननु भागवतं सर्वसन्देहनिवृत्तिरूप-फलजनकमिति भगवन्मुखात् श्रवणे मैत्रेयस्य सन्देहाभाववद् मैत्रेयाद् गुणातीतप्रकरणरूपमुख्यभागवतश्रवणे विदुरस्य न सन्देहाभावः प्रत्युत संशयोत्पत्तिरिति कथम् उत्तमवक्तृमुखाकर्णि-तमपि भागवतं न फलजनकं जातम् इति आशङ्क्य श्रोतरि सकृच्छ्रवणमात्रेण मुख्यबोधजनकाधिकार-न्यूनताम् आहुः **न एवंविधः** इति. यथा मैत्रेयः परमशुद्धचित्तो व्यामोहकलीलाकरणोद्युक्त-प्रभुस्वरूपदर्शनेऽपि अव्यामुग्धः, स्वस्थचित्ततया भगवदुक्तश्रवणात्, तथा उद्धवतः तादृशचरित्रश्रवणेऽपि शोकाविष्टत्वाद् न विदुरः शुद्धचित्तःइति श्रीभागवतमपि न तस्य सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वसन्देहनिवृत्तिरूप-फलजनकं जातम् इति अर्थः. अतएव अस्मदाचार्यैः श्रीभागवतमुख्याधिकारनिरूपणे पूर्वं विपरीतादिभाव-नारहितः इति उक्तं "**विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः सुहृद्**" (त.दी.नि.२।३२८) इति श्लोके. तथाच विदुरे श्रवणात् पूर्वं सर्वथा विपरीतभावना न निवृत्तेति फले विलम्बो, युक्त्यादिकथनरूपो वक्तृप्रयासः

च जातः इति भावः. सुहृत्त्वन्तु उद्धवे सर्वोपकारकत्वाद्, अपकारि-ज्येष्ठभ्रातुः उपकारकरणाद् विदुरे च ज्ञेयम्. विपरीतभावनायाः पूर्वम् अनिवृत्तेः उद्धवतो न्यूनता. अतएव पुनः धृतराष्ट्रोद्धारार्थं गतो विदुरो "**न आवेदयत् सकरुणः**" (भाग.पुरा.१।१३।१३) इति वाक्याद् इयं वार्ता शोकजनिकेति स्वयं तथा ज्ञात्वा युधिष्ठिरादिभ्यो न उक्तवान्. तथाच कश्चिदंशो विपरीतभावनायाः स्थितएव. अतएव तस्य प्रभासे शोकहेतुभूते देहपरित्यागो अलौकिकशरीर-निष्पत्त्यर्थकः. अन्यथा उद्धवइव अनेनैव देहेन हृदि प्रभुम् अनुभवन् वियोगेन सर्वदा तिष्ठेद् इति भावः.

अनेन इति, परम्परात्रयकथनेन इति अर्थः. तथाच यथा भगवान् यो यथा वदति, यथा वा ध्यायति, तथा भवति, नानावादानुरोधित्वाद् "**यद् यद् धिया**" (भाग.पुरा.३।९।११) इति वाक्यात् च, तथा भागवतमपि तत्तदधिकारानुसारेण तत्र-तत्र प्रकटीभवतीति भगवतइव एकत्वेऽपि तस्याः बहुरूपत्वम् इति भावः. सिद्धं सामान्यतो अर्थम् आहुः **भगवदीयः** इति, अनेन भागवतार्थः शब्दान्तरेणापि निरूपितो भगवदीयैः भागवतरूपः इति बोधितम्. अतएव पराशरसंहितायां भागवतत्वम्. **सामान्यलक्षणम्** इति, विशेषलक्षणन्तु शब्दात्मकत्वे सति सर्वोद्धारार्थप्रकट-साकारभगवत्स्वरूपत्वम् इति अर्थः ॥४८ १/२॥

[प्र] युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः, भागवतार्थस्तु अलौकिकः इति, तथापि अधिकाराभावे सो अर्थो न स्फुरतीति सन्देहे जाते तन्निराकरणम् अवश्यं कर्तव्यम्. तत्र यावता यो मन्यते तथा तस्मै निरूपणीयम् इति स्थितिः. तथा मैत्रेयोऽपि विदुरबुद्धिम् आश्रित्य समाधत्ते. तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तञ्च आह :

[का] गुणातीतात् सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥४९॥
कार्यकारणवैजात्याद् लोकहेतोरभावतः ॥
निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयम् ईरितम् ॥५०॥

[प्र] **गुणातीताद्** इति, यथा बालः पुरुषस्य निषेकाद् जन्म अज्ञात्वा भोजन-मेहनेएव पश्यन्, तत्रापि तथा कल्पयन्, तदपि अनुपपन्नम् इति संशयीभवति. तत्र वक्ता बालं यथाकथञ्चिद् बोधयति. वस्तुतस्तु न स सिद्धान्तः किन्तु यथा निरूपितं "भगवान् एक आस इदम्" (भाग.पुरा.३।५।२३) इति सएव सिद्धान्तः. विदुरस्य संशये हेतून् आह **कार्यकारणवैजात्याद्** इति, कारणं गुणरहितं कार्यं सगुणम् इति. लोकहेतुश्च कामः. एवं गुणातीते सन्देहद्वयम्॥४९-५०॥

[टि] **लौकिकः** इति, स्वबुद्ध्या ब्रह्मनिरूपणमिव इति अर्थः. "**तं तु औपनिषदम्**" (बृह.उप.३।९।२६) इति श्रुतेः तस्य वेदैकसमधिगम्यत्वाद् इति भावः. **अलौकिकः** इति, व्यासहृदयेऽपि भगवतइव समाधावेव प्रकटत्वाद् इति भावः. ननु मैत्रेयः किमिति ज्ञाततत्स्वरूपो लोकनीतिम् अनुसृत्य युक्तिभिः तत्संशयं निराकृतवान् इति आशङ्क्य आहुः **तथापि** इति. **अधिकाराभावे** इति, विदुरस्य तथा चित्तशुद्ध्यभावात् मुख्याधिकाराभावे इति अर्थः. **सो अर्थः** इति, यो मैत्रेयहृदये भासते मुख्याधिकारात् सः इति अर्थः. **अवश्यम्** इति, भगवता विदुरार्थं स्वस्य आज्ञप्तत्वाद् न उपेक्षणीयः इति अर्थः. ननु तथापि समाहितिं विदुरस्य "भगवदुक्ते किमिति संशयः क्रियते! मन्तव्यमेव" इति प्रकारेण कुतो न कृतवान् इति आशङ्क्य, श्रोतृ-वक्त्रोः लोके रीतिः ईदृशी : मुख्यार्थस्फूर्त्यभावेन युक्तिभिः अनिरूपणे तस्य अविश्वासः स्याद्, इति ज्ञापनाय लोकस्थितिं निरूपयन्ति **तत्र यावता** इति, **यावता** निरूपणेन **यो** अधिकारी येन प्रकारेण **मन्यते** जानाति तावता **तस्मै** तेन प्रकारेण **निरूपणीयम्** इति अर्थः. **तथा** इति, लोकरीत्यनुसारेण इति अर्थः. **विदुरबुद्धिम्** इति, गुणातीतस्य वस्तुतः उपाधिसम्बन्धाभावे न सगुणत्वं सम्भवति इति पूर्वपक्षकर्तुः विदुरस्य बुद्धिः, तामेव आश्रित्य "**सा इयं भगवतो माया**" (भाग.पुरा.३।७।९)

इत्यादिना उपाधिसम्बन्धं वदन्नेव "तस्याः भगवच्छक्तित्वेन तदभेदाद् नित्यसम्बन्धएव, न जीववद् व्यामोहार्थं भगवतः सकाशात् प्रकटायाः भेदेन व्यामोहिकायाः संसारसिद्धये आगन्तुकः सम्बन्धः" इत्यनया रीत्या **समाधत्ते** इति अर्थः. अन्यथा शुद्धब्रह्मवादप्रकारेण भगवच्छक्तेः मायायाः तद्रूपत्वमेव वदेद् इति भावः. **तत्र** इति, सगुणप्रकरणे इति अर्थः. ननु तथापि पूर्णज्ञानो मैत्रेयः स्वज्ञानानुसारेणैव किमिति न उक्तवान्? कुतः तद्बुद्धिम् आश्रित्य इति आशङ्क्य बालदृष्टान्तेन विदुरस्य तथाकथन-श्रवणानधिकारं निरूपयन्ति **यथा** इति. **अज्ञात्वा** इति, बालकस्य निषेकज्ञानाभावाद् इति अर्थः. **भोजन-मेहनेएव** इति, **यथा बालः** भोजनं तथा **मेहनं** जन्महेतुभूतेन्द्रियं च प्रत्यक्षतः स्वस्मिन् **पश्यन्** निषेकम् **अज्ञात्वा तत्रापि** पितर्यपि **तथा** तयोरेव पुरुषोत्पत्तौ कारणत्वं **कल्पयन्** स्वतः पुरुषोत्पत्त्यभावात् **संशयीभवति** "को वेद इदं भवति कारणं न वा?" इति, तथा विदुरोऽपि सर्वम् इदं भगवत्सामर्थ्येन जायते इति अज्ञात्वा स्वस्मिन् प्रयत्नं गुणसम्बन्धं च पश्यन् सर्वत्र तयोरेव कारणत्वं कल्पयन् भगवतो गुणातीतत्वे कथं कारणता इति तत्र संशयी जातः इति अर्थः. तथाच बालकानुभव-संशयौ यथा अज्ञानकृतौ तथा एतस्यापि शुद्धब्रह्मवादाज्ञानकृतावेव इति भावः. **यथाकथञ्चिद्** इति, निषेकप्रकारो बालस्य अग्रे न वक्तव्यःइति वक्ता तत्समाधानं मुख्यवार्ताम् आच्छाद्य, करोति प्रकारान्तरेण एकत्रशयनेन पुत्राः जायन्ते इति तथा मैत्रेयोऽपि स्त्रीसम्बन्धवत् मायासम्बन्धेन सर्वम् उत्पद्यते इति प्रकारेण करोति. बीजन्तु भगवत्सामर्थ्यं तद्रूपत्वं वा अमुख्याधिकारित्वाद् न वदति इति अर्थः. **वस्तुतस्तु** इति, बालबोधकसङ्गोपित-वाक्याप्रतीतार्थवद् न अयं मुख्यः सिद्धान्तः इति अर्थः.

सएव इति. यो गुणातीतप्रकरणे "**भगवान् एक आस**" (भाग.पुरा.३।५।२३) इत्यादिभिः सर्वरूपेण भगवानेव इदं ; भेदेतु

कर्तृत्वं कार्यत्वम् इति तदभावात् सएव सर्वम् इति यः सिद्धान्तः सएव इति अर्थः. ननु एवं कर्तृत्वम् अवास्तवमेव आयाति, तथा सति कर्तृत्वबोधकाऽनन्तश्रुति-स्मृतिविरोधः इति चेद्, न, स्वस्य सूक्ष्मस्य परमानन्दरसरूपस्य लीलया अनुभवार्थं तदधिष्ठान-स्थूलप्रपञ्चरूपेण प्रकटीकरणस्यैव कर्तृत्वात्. अतएव श्रुतिः "**असद् वा इदम् अग्रे आसीत् ततो वै सद् अजायत. तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते इति. यद् वै तत् सुकृतम्. रसो वै सः. रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**" (तैत्ति.उप.२।७). एतदर्थस्तु : '**इदं**' परिदृश्यमानं जगद् '**वै**' निश्चयेन तदभिन्नत्वाद् '**अग्रे**' प्रपञ्चरमणेच्छातः पूर्वम् '**असद्**' भेदेन अविद्यमानम् '**आसीत्**'. '**ततः**' प्रपञ्चरमणेच्छातः '**सद्**' भेदेन विद्यमानम् '**अजायत**'. ननु एवम् असतः सत्ता "**कथम् असतः सद् जायेत ?**" (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुत्यन्तरविरुद्धा कथं घटते इति आशङ्क्य आहुः '**तद् आत्मानम्**' इति. '**तद्**' ब्रह्मैव स्वयं मायाद्यसहायमेव "**कदाचित् सर्वम् आत्मैव भवति इह जनार्दनः**" (त.दी.नि.१।३७) इति न्यायेन '**आत्मानं**' स्वस्वरूपमेव '**अकुरुत**' स्वक्रियाशक्तिं स्वस्मिन्नेव योजितवान् स्थूलरूपभवनाय यस्मात् '**तस्माद्**' हेतोः '**तद्**' ब्रह्मैव '**सुष्ठु**' समीचीनं सुतराम् आधिक्येन वा '**कृतं**' यस्य तादृशम् '**उच्यते**'. नहि अन्यः स्वक्रियां स्वस्मिन् योजयितुं शक्तः. ननु एवं स्वस्य स्थूलरूपकरणे किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आह '**रसो वै सः**' इति. यः आत्मानं स्वयम् अकुरुत प्रपञ्चरूपेण स रसात्मा = स्थायिभावरूपः. अतः स्वस्वरूपानन्दानुभवार्थं रसस्य साधिष्ठानस्यैव अनुभवयोग्यत्वाद् अधिष्ठानं प्रपञ्चरूपं स्वात्मानं कृतवान्. तत्र स्वांशान् जीवान् नायिकेव स्थापितवान्. ततः तेषां स्वरूपभूतानामेव पत्नीवद् अर्धशरीररूपाणां रसात्मक-स्वस्वरूपप्रवेशनेन स्वानन्दानुभवं कारितवान्. अतएव "**ततः पतिः च पत्नी च अभवताम्**" (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुत्यन्तरेण स्वस्यैव उभयरूपत्वम् उक्तम्. तथाच सर्वसामग्रीसहितं रसात्मकं

स्वस्वरूपमेव क्रीडेच्छया प्रकटितवान् इति उक्तम्. ननु प्रपञ्चप्राकट्यम् अस्तु परं तस्मिन् रसात्मक-मूलरूपप्रादुर्भावे किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **'रसं हि'** इति. **'अयम्'** अंशभूतः तिरोहितानन्दो अथवा अंशत्वेन अल्पत्वाद् अल्पानन्दः ''तदीयो अहम्'' इति स्फूर्तिजनिताऽऽनन्दवान् जीवो **'रसं'** स्थायिभावरूपमेव **'लब्ध्वा'** प्रकटं प्राप्यैव **'आनन्दी भवति'** भगवत्समानः पूर्णानन्दवान् भवति, योषेव सर्वसौख्ये सत्यपि पुरुषरसम् अनुभूय, इति स्वसमानतासम्पादनेन पुष्टिमार्गीयमुक्तिदानार्थमेव सर्वरूपेण स्वात्मकरणम् इति भगवतो मुख्यसर्गलीला इयं मोक्षरूपा इति अर्थः.

विदुरस्य संशये इति, गुणातीतस्य कर्तृत्वम् उपपद्यते न वा इत्येवंरूपे इति अर्थः. **कारणं गुणरहितम्** इति, गुणातीतसृष्टिप्रकरणे तथैव प्रतिपादितत्वाद् इति अर्थः. **कार्यं सगुणम् इति, जगतः त्रिगुणात्मकत्वस्य प्रतीतिसिद्धत्वाद् इति अर्थः. लोकहेतुः** इति. यत् कामयते जनः तत् करोतीति कामस्यैव लोके कार्यविषयकोद्यमहेतुत्वेन सिद्धत्वाद् इति अर्थः. **एवम्** इति, कार्यं कथं कारणविजातीयं, कथं वा हेत्वभावे कार्यम् इति **गुणातीते** कारणभूते कारणत्वविषयकं **सन्देहद्वयम्** इति अर्थः ॥४९-५०॥

[प्र] तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिकएव जगत्कर्ता निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति. तथापि तदेव न सम्भवतीति तृतीयो दोषः समायाति इति आह :

[का] सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति॥
तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धो जीवेऽप्येवम् अभेदतः ॥५१॥

[प्र] सोपाधित्वे इति. एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् **तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धः** इति उक्तम्. इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेऽपि॥५१॥

[टि] **तत्परिहारार्थम्** इति, एतत्सन्देहद्वयपरिहारार्थम् इति अर्थः. **सोपाधिकएव** इति, मायावादिरीत्या इति अर्थः. **तथापि** इति, सोपाधिकत्वाभ्युपगमे सन्देहपरिहारेऽपि **तदेव** ब्रह्मैव उपाधिसम्बन्धे तन्मतरीत्यापि **न सम्भवति** किन्तु तदा जीवः इति जगत्कर्तुः जीवत्वापत्तिरूपः **तृतीयो दोषः आयाति** इति अर्थः. दोषद्वयन्तु तस्मिन् अकारणत्वाऽकर्तृत्वरूपं सन्देहद्वयेन पूर्वमेव निरूपितम् इति भावः. **एतस्य** इति, जगत्कर्तुः सोपाधित्वे जीवत्वापत्तिरूपस्य **दूषणस्य** इति अर्थः. **समाधानाभावाद्** इति. मायासम्बन्धेन ब्रह्मणो जीवभावं वदतो मायावादिनो न समाधानम् अस्य दूषणस्य ; तदंशजीववादिनस्तु मायायाः तच्छक्तित्वेन तत्सम्बन्धेऽपि न तस्य जीवभावो अंशित्वाद् इति समाधानस्य सत्त्वात्. अतः तन्मते परिहाराभावाद् वज्रलेपायितो अयं दोषः इति **सिद्धः इति उक्तम्** इति अर्थः. **इदमेव** इति, गुणातीतप्रकरणे "**आत्मेच्छानुगतौ आत्मा नानामत्युपलक्षणः**" (भाग.पुरा.३।५।२३) इति वाक्येन तस्यैव आत्मनाम् आत्मनो भगवतः स्वेच्छया आत्मत्वम् उक्तम्. तत्रापि ब्रह्मणो जीवभावे सोपाधिकत्वं सिद्ध्येद् इति ब्रह्मत्वमेव न स्याद् इति पूर्वोक्तमेव दूषणम् इति अर्थः ॥५१॥

[प्र] मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भगत्वादिकं सम्भवतीति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्ये च निरूपयितुं शक्ये सति भवति इति आह :

[का] मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात् ॥
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ॥५२॥

[प्र] मायासम्बन्ध... इति, एवम् एका शङ्का ब्रह्मगा अपरा जीवगा इति पूर्वपक्षं निरूप्य सिद्धान्तं निरूपयति प्रथमस्य परीहारः इति. "सा इयं भगवतो माया यद् नयेन विरुद्ध्यते" (भाग.पुरा.३।७।९)

इति भगवता मायायाश्च नित्यएव सम्बन्धः षष्ठ्या निरूपितः ॥५२॥

[टि] **मायासम्बन्धे** इति, जीवेऽपि ब्रह्माभेदतो अब्रह्मत्वापत्तिभिया मायासम्बन्धएव वक्तुं शक्यः, तस्य अज्ञत्वादिहेतुत्वेन अब्रह्मत्वापादकत्वात्. तथाच तदभावे ब्रह्मणएव जीवभावे तस्मिन् मायासम्बन्धकार्यं दुर्भगत्व-कर्मक्लिष्टत्वादिकं च कथं सम्भवति? अतो ब्रह्म-जीवयोः अभेदे मायासम्बन्धो, ब्रह्मणि जीवे मायाकार्यसम्बन्धो, अनयोः क्रमेण परिहार्यत्वम् ; अन्यथा उभयोः ब्रह्मत्वं न स्याद् इति भावः. सन्देहद्वयस्य विषयभेदं निरूपयन्ति **एवम्** इति. **एका** इति, जगत्कर्तृत्वाय मायासम्बन्धे ब्रह्मत्वं न स्याद् इति अर्थः. **जीवगा** इति, तस्यैव जीवभावे तदभिन्नत्वेन मायाकार्यस्य तत्र अवक्तव्यत्वाद् दुर्भगत्वादिकं कथं सम्भवति? इति ब्रह्मणि जीवे च शङ्काद्वयम् इति अर्थः. **पूर्वपक्षम्** इति, पूर्वपक्षस्तु : गुणातीतसर्गे हि सर्वस्य ब्रह्मात्मकता उक्ता सा न घटते, जडस्य सगुणत्वेन कारणविजातीयत्वात्. नहि विजातीयं तदात्मकं भवति, पटस्य मृदात्मकतापत्तेः. ब्रह्मणः कार्यसजातीयत्वार्थं सोपाधिकत्व-स्वीकारे मायासम्बन्धेन अब्रह्मत्वापत्तिः. तादृशतदात्मत्वेऽपि न ब्रह्मात्मकतासिद्धिः, मायासम्बद्धस्य तस्य अब्रह्मत्वात्. जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वे मायाकार्य-दुर्भगत्वाद्यनुपपत्तिः, तदर्थं तत्र मायासम्बन्धस्वीकृतौ ब्रह्मत्वासिद्धेः. जीव-ब्रह्मणोः भेदस्वीकृतौ अंशांशिभावेन तदात्मकत्वसिद्धावपि क्लेशाद्यनुपपत्तिः, ब्रह्मांशस्य स्वतः क्लेशाद्यसम्भवात्. मायासम्बन्धे तु स्वीक्रियमाणे ब्रह्मात्मकत्वमेव तस्य न स्यात्. तस्माद् गुणातीतसृष्टिः स्वात्मसृष्टिः सर्वथा अनुपपन्ना. किञ्च कर्तृत्वमपि तादृशे असम्भवि, कामाभावात्, तत्सत्त्वे सगुणत्वापत्तेः. तदभावे लोक इव प्रयत्नानुपपत्तिः. अतः सगुणस्यैव कर्तृता वाच्या, न शुद्धब्रह्मणः. **नित्यएव** इति, भगवदाकारत्वेनैव जल-शैवालवत् सर्वदा तिष्ठतीति तथा इति अर्थः ॥५२॥

[प्र] ननु एवं सति भगवत्त्वहानिः स्याद् इति आशङ्क्य आह :

[का] भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम्॥
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः॥५३॥

[प्र] भगवत्त्वाविरोधित्वम् इति, 'भगवत्'पदेन इति अर्थः. ननु विक्षेपशक्तिपक्षेऽपि भगवत्त्वाविरोधः उपपद्यते इति आशङ्क्य आह असमासात् प्रधानत्वम् इति, 'भगवतो'-'माया' इति पदद्वयस्य असमासाद् एककार्यत्वाभावः, तेन न मायावैशिष्ट्यं भगवतः किन्तु सा पृथगेव दासीवत् तिष्ठति इति उक्तम् (भवति)॥५३॥

[टि] भगवत्त्वहानिः इति, मायावृतत्वे कारागृहावृत-पुरुषवद् असमर्थत्वं स्याद् इति अर्थः. **प्रकृत्या** इति (मूले!). नहि भस्मना वृतो वह्निः दाहसमर्थो भवति, तदपसारणे सर्वदाहसामर्थ्यात्. तद्वद् अत्रापि 'भगवत्'पदेनैव सामर्थ्यं वाच्यम् इति अर्थः. **विक्षेप**... इति. ननु भगवत्त्वं विक्षेपशक्तिपक्षेऽपि उपपद्यते, तद्वैशिष्ट्येऽपि सदोषोऽपि 'राजराजा' इतिवत् शक्त्या तथात्वेऽपि न भगवत्त्वं विरुद्ध्यते इति चेद्, न, एतदुपपत्तावपि न प्रधानत्वोपपत्तिः, उभयोः वैशिष्ट्येन समत्वात्. आवरणपक्षे तु दूरेस्थित-दासीवद् आवारयति इति प्रधानत्वम् उपपद्यते इति अर्थः॥५३॥

[प्र] एवं भगवति परिहारम् उक्त्वा जीवे परिहारम् आह :

[का] द्वितीयस्य परीहारे विरोधात् कार्यबाधनम्॥
विरोधमात्रम् आहोस्विद् आद्ये सेयं दृशिर्यतः॥५४॥

[प्र] द्वितीयस्य इति, 'भगवतो'-'माया' इति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः. द्वितीये पक्षं विकल्पयति विरोधात् कार्यबाधनम् आहोस्विद्

विरोधएव इति. आद्ये समाधानं सा इयं दृशिः यतः इति. कार्यबाधनं कर्तुं न शक्यते, संसारस्य सिद्धत्वात्. ननु एतदेव न स्याद् इति उच्यते इति चेद्, भगवन्मायया तदुपपत्तिः इति बुद्ध्यताम्॥५४॥

[टि] **विरोधाद्** इति (मूले!). ब्रह्मरूपे जीवे मायाकार्यस्य दुर्भगत्वादेः विरोधात् कार्यमेव मिथ्याभूतम् इति कल्प्येत, जगदप्रतीतिप्रसङ्गात्. नच शुक्तिरजतवद् मायया सा इति वाच्यम्, अविद्यया जीवत्वम् इति जीवानां तत्प्रतीतेः निवारयितुं शक्यत्वात् तदपगमे जीवत्वमेव न इति न प्रतीतिः. ननु प्रतीतमेव निषिद्ध्यते इति चेत्, **संसारस्य** इति, **सिद्धत्वाद्** अनादिसिद्धत्वात्. कथम् अनादिसिद्धत्वम् इति आहुः **ननु** इति. **एतदेव** इति, सिद्धत्वमेव इति अर्थः. **भगवन्मायया** इति, प्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूलया सर्वभवनसमर्थरूपया मायैव संसारः सम्पादितो जीवानाम् इति तद्विषयसिद्ध्यर्थं भगवतैव कार्यताम् उत्पादितमिति न तद्बाधः कर्तुं शक्यः॥५४॥

[प्र] तथापि युक्तिविरोधः इति द्वितीयपक्षे समाधानम् आह :

[का] द्वितीये भूषणं तस्याः विरोधो नतु दूषणम्॥
विरुद्धकार्यसम्बन्धः तत्कृतस्तेन वर्ण्यते॥५५॥

[प्र] द्वितीये इति, **कथं भूषणम्** इति आशङ्क्य आह **विरुद्धकार्यसम्बन्धः** इति, **माययाहि विरुद्धं कार्यं दृश्यते : शिरः छिद्यते जीवति, अन्त्राणि निष्कास्यन्ते स्वस्थश्च इति॥५५॥**

[टि] **द्वितीये** इति, जीवे मायया युक्तिविरुद्ध-कार्योत्पादनं स्वस्वरूप-प्रकाशकत्वेन भूषणमेव इति अर्थः॥५५॥

[प्र] ननु अत्रापि का उपपत्तिः इति आकाङ्क्षायाम् आह :

[का] विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।।
दर्शनं ज्ञानिनोऽप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ।।५६।।
इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।।
तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ।।५७।।

[प्र] विरोधोऽपि प्रतीत्यैव इति, सर्वभवनसमर्थत्वाद् ब्रह्मणः, तच्छक्तित्वाद् मायायाश्च तथात्वम्. अयम् आत्मविपर्ययः ईश्वरस्य कार्पण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यति इति आशङ्क्य आह दर्शनं ज्ञानिनोपि एवम् इति, यस्तु जीवे ज्ञानी = जीवस्वरूपाभिज्ञः. जीवस्वरूपन्तु सर्वावस्थासु भासतएव, ईश्वरस्वरूपमेव परं न भासते. अतः स्वप्नद्रष्टा भगवानेवेति तेन सह स्वस्य अभेदज्ञानात् स्वशिरश्छेदः स्वप्ने भासते. वस्तुतस्तु जीवस्वाप्नशरीरस्य शिरश्छेदः ईश्वरेण दृश्यते, स्वयञ्च तदभेदात् पश्यति. सुषुप्त्युक्रान्त्योरेव भेददर्शनं, शारीरात्मा प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तो अन्वारूढः इति भेदेन निरूपणात्. ब्रह्मविदः तत्र भेदेन अनुभवः, अन्यस्यतु अबोधः ; तद् आह इति दृष्टान्ततः इति. स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवत्स्वरूपे देहाद् भेदो निरूपितः, तत्र द्रष्टा भगवानेव इति. तर्हि शिरो जीवस्य इत्यत्र किं प्रमाणम्? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमसः इति. यस्तु देहादिसंसारे जलप्राये अहम् इति मन्यते तस्यैव कर्मादिः, नतु आकाशस्थस्य. अतो भेदेऽपि जीवस्यैव तच्छिरः. अस्य अनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो भवतीति तन्निवृत्त्युपायः उच्यते इति आह तन्निवृत्तिप्रतीकारः इति, ''स वै निवृत्तिधर्मेण'' (भाग.पुरा.३।७।१२) इत्यादिना ।।५६-५७।।

[टि] स्वप्नद्रष्टा भगवानेव इति, स्वप्ने जीवस्य प्राज्ञेन आत्मना

सम्परिष्वक्तत्वाद् इति अर्थः. समुपसर्गे वा नवा भेदो बोधितः. वस्तुतस्तु न अभेदः, परिष्वक्तत्वाद् इति अर्थः. तेन सह इति अभेदज्ञानाद् इति, अभेदाध्यासाद् इति अर्थः ॥५६-५७॥

[प्र] मार्गद्वयेन अनर्थनिवृत्तिः : भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च. तत्र प्रथमपक्षे शनैः तिरोभावः इति मैत्रेयाभिप्रायः. सर्वतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे. तदा न स्वप्नदर्शनं ; जागरणेऽपि न देहादौ आत्मबुद्धिः किन्तु सुषुप्तिवत् सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभवः. तत्र प्रथमपक्षे मुक्तिः वक्तव्या इति मैत्रेयः कैमुतिकन्यायेन ''अशेषसंक्लेशशमम्'' (भाग.पुरा.३।७।१४) इति श्लोकेन निरूपयति इति आह :

[का] निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ॥
तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवा हेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या ॥५८॥

[प्र] निदर्शनं सुलभम् इति, दृष्टान्तो अत्र सुलभः, सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात्. साधनं च सुलभं, सर्वत्र सतां भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात्. चकाराद् न अत्र देशाद्यपेक्षा. ननु एवं सति कथं न सर्वेषाम् अनर्थो निवर्तते? तत्र आह गूढा सूक्तिः इति. समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः गूढा गुप्ता. तेनैव हि भगवत्प्रकाशः. सच दुर्लभःइति न सर्वमुक्तिः. अतएव भक्तिमार्गो दुर्लभःइति तद्दर्शनम् उक्तम्. ज्ञानमार्गः उक्तः तदपि तदेव दर्शनम्. यन्न भेद्यम् आत्मनो भेदं न भासयति. एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः, भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यतेइति. सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता, न स्वेच्छया यथाकथञ्चित्कृता. इयम् आद्या प्रथमतः एवं कर्तव्या, पश्चाद् भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवति इति अर्थः ॥५८॥

[टि] तत्र प्रथमपक्षे इति, ज्ञानपक्षे शनैः तिरोभावे युक्तिप्रकारो

वक्तव्यः इति अर्थः. **कैमुतिकन्याय...** इति. यत्कथया एवं तत्साक्षात्कारः कथं न इति अर्थः ॥५८॥

एतावत्येव लब्धा इयं टिप्पणी.



॥ उ त्स व नि र्ण या: ॥

(श्रीमत्कल्याणरायकृता:)

॥ अथ एकादशीनिर्णयः ॥

तत्र वैष्णवानाम् एकादशी कीदृशी उपोष्या इति विचार्यते : स्मार्त-निर्णयस्तु माधवाचार्यादिभिः विस्तरेण कृतएव अस्तीति सो अत्र न उच्यते.

तत्र एकादशीव्रतस्य 'नित्य'-'सदा'दिशब्दैः फलश्रवणात् च नित्यत्वं काम्यत्वं च सिद्धम्. तथाहि गरुडपुराणे **''उपोष्या एकादशी नित्यं पक्षयोः उभयोरपि''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). सनत्कुमारोऽपि **''एकादशी सदा उपोष्या पक्षयोः शुक्ल-कृष्णयोः''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). विष्णुरहस्येऽपि **''द्वादशी न प्रभोक्तव्या यावदायुः सुवृत्तिभिः''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). कण्वोऽपि **''एकादशीम् उपवसेद् न कदाचिद् अतिक्रमेद्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति, **''एकादश्यां न भुञ्जीत कदाचिदपि मानवः''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. तथा **''परमापदम् आपन्नो हर्षे वा समुपस्थिते सूतके मृतके चापि न त्याज्यं द्वादशीव्रतम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति.

एकादश्यां श्राद्धं कृत्वापि न भोक्तव्यम्. तथा आह कात्यायनः **''उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं भवेद्, उपवासं तदा कुर्याद् आघ्राय पितृसेवितम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति.

अकरणे प्रत्यवायोऽपि सनत्कुमारेण दर्शितो **''न करोति हि यो मूढः एकादश्याम् उपोषणं, स नरो नरकं याति रौरवं तमसावृतम्''**

(द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति, ''**मद्यपानाद्, मुनिश्रेष्ठ!, पातैव नरकं व्रजेद्, एकादश्यन्नकामस्तु पितृभिः सह मज्जति**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. नारदीयेऽपि ''**यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च, अन्नम् आश्रित्य तिष्ठन्ति तानि विप्रे हरेः दिने**'' (द्रष्ट.नार.पुरा.१।२३।८). कूर्मपुराणे ''**रटन्ति इह पुराणानि भूयो भूयो, वरानने!, न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं सम्प्राप्ते हरिवासरे**'' (द्रष्ट.नार.पुरा.२।२४।२३-२४/पद्मपुरा.६।२३४।११).

संक्रान्त्यादिषु उपवासनिषेधः संक्रान्त्यादिनिमित्तको, न एकादशीनिमित्तकः. तद् उक्तं जैमिनिना ''**तन्निमित्तोपवासस्य निषेधो अयम् उदाहृतो न अनुषंगकृतो ग्राह्यो यतो नित्यम् उपोषणम्**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). अयम् अर्थः : एकादश्युपवासस्य नित्यत्वात् संक्रान्त्युपवासस्य च काम्यत्वात् काम्योपवासनिषेधेन नित्योपवासनिषेधो न सिद्ध्यति इति.

उपवासस्वरूपं विष्णुधर्मोत्तरे निरूपितम् ''**उपावृतस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह, उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः**'' (द्रष्ट.अग्निपुरा.१७५।५-६/भवि.पुरा.१।१०३।२०,१।६४।४) इत्यादीनि नित्यत्वविधायकानि.

विष्णुरहस्ये ''**यदि इच्छेद् विष्णुसायुज्यं सुतान् सम्पदम् आत्मनः, एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोः उभयोरपि**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). ''**अष्टवर्षाधिको मर्त्यो हि अशीतिन्यूनवत्सरः, एकादश्याम् उपवसेत् पक्षयोः उभयोरपि**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). 'अष्टवर्षाधिकः' इति उपनयनस्य उपलक्षणम्.

''**भार्या पत्युः मतेनैव व्रतादीन् आचरेत् सदा**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति स्त्रीणामपि अधिकारः.

वैष्णवैस्तु कृष्णापि उपोष्या इति आह **''नित्यं भक्तिसमायुक्तैः नरैः विष्णुपरायणैः, पक्षे पक्षे च कर्तव्यम् एकादश्याम् उपोषणं, सपुत्रः च सभार्यः च स जनो भक्तिसंयुतः, एकादश्याम् उपवसेत् पक्षयोः उभयोरपि''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). सनत्कुमारः **''एकादश्योः द्वयोः यस्तु विरोधं कुरुते नरः, तस्य उद्धारं न पश्यामि यावदाहूतसम्प्लवं, यथाच एकादशी शुक्ला तथा कृष्णा तथा इतरा, तुल्ये ते मनुते यस्तु सहि वैष्णवः उच्यते''** (. । ।).

''संसारसागरोत्तारम् इच्छन् विष्णुपरायणः, ऐश्वर्यं सन्ततिं स्वर्गं मुक्तिं वा यद्यद् इच्छति, एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोः उभयोरपि'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). स्कन्दपुराणे **''यदि इच्छेद् विपुलान् भोगान् मुक्तिं च अत्यन्तदुर्लभाम् एकादश्याम् उपवसेत् पक्षयोः उभयोरपि''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इत्यादीनि काम्यत्वबोधकानि.

नित्यत्वेन उपवासे केवलम् एकादश्यां सायं प्रातः च भोजनं वर्जयेद्, दशमी-द्वादश्योः न एकभक्तनियमः. तद् उक्तं कात्यायनेन **''नित्योपवासी यो मर्त्यः सायं प्रातः भुजिक्रियां, सन्त्यजेत् मतिमान् विप्रः सम्प्राप्ते हरिवासरे''** (कात्या.स्मृ. । ।) इति. 'विप्रः' इति सर्ववर्णोपलक्षणम्.

काम्योपवासेतु दशम्यां द्वादश्यां च एकभक्तं कार्यम्; एकादश्यान्तु उपवासः कार्यः. तद् उक्तं देवलेन **''सायम् आद्यन्तयोः अह्नोः सायं प्रातः च मध्यमे, उपवासफलप्रेप्सुः जह्याद् भक्तचतुष्टयम्''** (देव.स्मृ. । ।) इत्यत्र 'फलप्रेप्सुः' इत्यनेनैव अस्य कामविषयत्वं ज्ञायते.

उपवासांग-तिथिनिर्णयस्य वेधाधीनत्वाद् एकादश्यां दशमीवेधो

निरूप्यते, सच माधवीये द्विविधः उक्तो : अरुणोदयवेधः सूर्योदयवेधः च. अयमेव 'योग'शब्देन उच्यते.

तत्र अरुणोदयवेधवचनानि भविष्योत्तरपुराणे **''अरुणोदयकालेतु दशमी यदि दृश्यते, सा विद्धा एकादशी तत्र पापमूलम् उपोषणम् अरुणोदयवेलायां दशा(/दिशा)गन्धो भवेद् यदि, दुष्टं तत्तु प्रयत्नेन वर्जनीयं नराधिप!''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). गरुडपुराणे **''दशमीशेषसंयुक्तो यदि स्याद् अरुणोदयः, नैव उपोष्यं वैष्णवेन तद्दिनैकादशीव्रतम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय).

अरुणोदयस्य प्रमाणं स्कन्द-नारदाभ्याम् उक्तम् **''उदयात् प्राक् चतस्रस्तु नाडिकाः अरुणोदयः''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. अत्र वेधा-ऽतिवेध-महावेधाः अरुणोदयमध्यएव.

योगस्तु सूर्योदयवेधः स्मार्तविषयत्वेन व्यवस्थापितः. अत्र कला-काष्ठादिवेधो गृह्यते. न अत्र तिथ्यन्तरवत् त्रिमुहूर्तत्वं वेधे अपेक्षितम्. तद् उक्तं नारदीये **''लव(/पल)वेधेऽपि, विप्रेन्द्र!, दशम्या एकादर्शीं त्यजेत्, सुरायाः बिन्दुना स्पृष्टं यथा गंगाजलं त्यजेत्''** (नार.पुरा.२।२।३८) इति, **''कलाकाष्ठादिगत्यैव दृश्यते दशमी, विभो!, एकादश्यां न कर्तव्यं तत्र, राजन्!, कदाचन''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. स्मृत्यन्तरेऽपि **''कलार्धेनापि विद्धा स्याद् दशम्यैकादशी यदि, तदापि एकादर्शीं त्यक्त्वा द्वादर्शीं समुपोषयेत्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). तथाच गोभिलः **''अरुणोदयवेलायां दशमी यदि संगता, सम्पृक्तैकादर्शीं तान्तुतु मोहिन्यै दत्तवान् विभुः''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. गरुडपुराणेऽपि **''उदयात् प्राक् त्रिघटिकाव्यापिनी एकादशी यदि, सन्दिग्धैकादशी नाम वर्ज्या इयं धर्मकांक्षिभिः, उदयात् प्राक् मुहूर्तेन व्यापिनी एकादशी**

यदा, सम्पृक्तैकादशी नाम वर्ज्या इयं धर्मसिद्धये'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.-४ एकादशीनिर्णय). **''आदित्योदयवेलायाः आरभ्य षष्ठिनाडिकाः, सम्पृक्तैकादशी नाम त्याज्या धर्मफलेप्सुभिः, पुत्रपौत्रप्रवृद्ध्यर्थं द्वादश्याम् उपवासयेत्, तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यान्तु पारणम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति भविष्यपुराणे. **''अरुणोदयकाले च दशमी यदि दृश्यते, तत्र न एकादशी कार्या धर्मकामार्थदर्शिनी''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय), **''अरुणोदयवेलायां विद्धा काचिद् उपोषिता, तस्य पुत्रशतं नष्टं तस्मात् तां परिवर्जयेद्, दशम्यनुगता यत्र तिथिः एकादशी भवेत्, तत्र अपत्यविनाशः च परेत्य नरकं व्रजेत्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). ब्रह्मवैवर्तेऽपि **''दशमी-शेषसंयुक्तां यः करोति विमूढधीः, एकादशीफलं तस्य न स्याद् द्वादशवार्षिकम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय). विष्णुरहस्येऽपि **''दशमीशेषसंयुक्ताम् उपोष्या एकादर्शी किल, संवत्सरकृतेन इह नरो धर्मेण मुच्यते''** (विष्णुरहस्य. । ।).

सो अयं कला-काष्ठादिवेधो अरुणोदये सूर्योदये च समानः, वैष्णवदीक्षां प्राप्तो वैष्णवः, ''परमापदम् आपन्नो हर्षे वा समुपस्थिते, न एकादशीं त्यजेद् यस्तु यस्य दीक्षा अस्ति वैष्णवी, समात्मा सर्वभूतेषु निजाचाराद् अविच्युतो, विष्णवर्पिताखिलाचारः सहि वैष्णवः उच्यते'' इति वाक्यात्. सामान्य-विशेषाभ्यां प्रतिषिद्धत्वाद् अरुणोदयविद्धै-कादशी वैष्णवेन परित्याज्या.

यस्तु 'योग'सञ्ज्ञकः चतुर्थः सूर्योदयवेधः तस्य त्याज्यत्वम् अर्थात् सिद्धं, वचनेभ्योऽपि अरुणोदयवेधोऽपि यदा त्यज्यते तदा किं वक्तव्यं सूर्योदयवेधे इति!

विष्णुधर्मोत्तरे दशमीवेधः चतुर्विधो निरूपितः : **''पञ्चचत्वारिंश-**

त्स्पर्शः संगः पञ्चाशता मतः, पञ्चपञ्चाशता शल्यं वेधः षट्पञ्चाशता मतः, स्पर्शादिचतुरो वेधान् वर्जयेद् वैणवो नरः'' (। ।) तथाच स्मृत्यन्तरे **''अर्धरात्रात् परा यत्र एकादशी उपलभ्यते, तत्र उपवासः कर्तव्यो नतु वै दशमीकला''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय).

युगभेदेन व्यवस्थापि विष्णुधर्मोत्तरएव उक्ता **''स्पर्शादिचतुरो वेधाः सुप्रसिद्धाः कृते हि ते, संगादयस्तु त्रेतायां शल्याद्यौ द्वापरे कलौ''** (। ।). (अस्य अर्थस्तु : स्पर्शादिचत्वारो वेधाः कृतयुगे ग्राह्यत्वेन सुतरां प्रकर्षेण सिद्धाः. तथा संगादयो वेधाः त्रेतायुगे ग्राह्यत्वेन कर्तव्यत्वेन प्रकर्षेण सिद्धाः. तथा शल्यम् आद्यं ययोः तौ शल्याद्यौ शल्यवेधौ द्वापरे कलियुगे च प्रकर्षेण ग्राह्यत्वेन सिद्धौ. अनया व्यवस्थया कलियुगे शल्यवेधएव आदरणीयः. अतएव माधवाचार्यैः उक्तम् **''अरुणोदयात् पूर्वम् अर्धरात्रात् परतोऽपि यदि दशमीकला विद्यते तदा न उपवासः कर्तव्यः, तदभावेतु उपवासः कर्तव्यः''** (कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. अतएव उक्तं श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे **''पूर्वम् अन्यथाकरणेऽपि भगवन्मार्गप्रवेशानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्घटिका दशमी चेत् तदा एकादशी त्याज्या''** (त.दी.नि.प्र.२।२४५) इति.

यातु वेधरहिता शुद्धा एकादशी सा द्विविधा : आधिक्येन युक्ता, तद्रहिता च. आधिक्यं च त्रिविधम् : एकादश्याधिक्यं, द्वादश्याधिक्यम्, उभयाधिक्यं च इति. त्रिष्वपि एतेषु पक्षेषु शुद्धामपि एकादशीं परित्यज्य परेद्यवि उपवासः कर्तव्यः. तत्र एकादश्याधिक्ये नारदः आह **''सम्पूर्णा एकादशी यत्र द्वादश्यां वृद्धिगामिनी, द्वादश्यां लंघनं कार्यं त्रयोदश्यान्तु पारणम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. स्मृत्यन्तरेऽपि **''एकादशी यदा पूर्णा परतः पुनरेव सा, पुण्यं क्रतुशतस्य उक्तं**

त्रयोदश्यान्तु पारणम्'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. विष्णुरहस्ये **''एकादशी कलां प्राप्ता येन द्वादशी उपोषिता, तुल्यं क्रतुशतेन स्यात् त्रयोदश्यान्तु पारणम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशी-निर्णय) इति.

द्वादश्याधिक्ये व्यासः आह **''एकादशी यदा लुप्ता परतो द्वादशी भवेद्, उपोष्या द्वादशी तत्र यदि इच्छेत् परमां गतिम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति.

उभयाधिक्ये भृगुः आह **''सम्पूर्णा एकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा, तत्र उपोष्या द्वितीयातु परतो द्वादशी यदि''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ ए-कादशीनिर्णय) इति. स्मृत्यन्तरेऽपि **''सम्पूर्णा एकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा, सर्वैरेव उत्तरा कार्या परतो द्वादशी यदि''** (पद्मपुरा.४।१५।३७-३८) इति. नारदोऽपि **''एकादशी भवेत् पूर्णा परतो द्वादशी यदि, एकादशीं परित्यज्य द्वादशीं समुपोषयेद्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति.

द्वादश्यां पारणं द्वादशीप्रथमपादं त्यक्त्वा कर्तव्यम्. तद् उक्तं **''द्वादश्याः प्रथमः पादो 'हरिवासर'सञ्ज्ञकः, तम् अतिक्रम्य कुर्वीत पारणं विष्णुतत्परः''** (। ।).

''शयन-बोधिनीमध्ये या कृष्णैकादशी भवेत्, सैव उपोष्या गृहस्थेन न अन्या कृष्णा कदाचन'', (द्रष्ट.ब्रह्मवै.पुरा.४।२६।३९) शुक्लामेव सदा गृहि इत्यादिनिषेधे फलाहारादिकं कार्यम्, **''उपवासे निषिद्धेतु भक्ष्यं किञ्चिद् प्रकल्पयेद्, न दुष्यति उपवासेन तद् उपवासफलं भवेत्/लभेत्, नक्तं हविष्यान्नम् अनोदनं वा फलं तिलाः क्षीरम् अथ अम्बु च आज्यं, यत् पञ्चगव्यं यदि च अपि वायुः प्रशस्तम् अत्र उत्तरम् उत्तरं च''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति

वायुपुराणोक्तत्वाद् अव्रतघ्नत्वात् च. अशक्तावपि एतदेव कार्यम्.

पञ्चपञ्चाशद्घटिकादशमीमध्ये पलमात्र-न्यूनतायामपि न एकादशी त्याज्या, वेधाभावात्. अष्टमहाद्वादशीनां पृथगुपवासप्राप्तौ काम्यत्वाद् न आवश्यककर्तव्यता.

एवं वैष्णवानाम् एकादशी निर्णीता.

इति श्रीकल्याणरायविरचितः एकादशीनिर्णयः समाप्तः

सूतके च एकादशीव्रतविचारः

सूतकादौतु वाराहे ''**सूतके च नरः स्नात्वा प्रणम्य मनसा हरिम्, एकादश्यां न भुञ्जीत व्रतम् एवं न लुम्पते, सूतकेऽपि न भुञ्जीत एकादश्यां सदा नरः**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति. स्त्रीणां रजोदर्शनेऽपि आह माधवीये ऋष्यशृंगः ''**सम्प्रकृते(वृत्ते)ऽपि रजसि न त्याज्यैकादशीव्रतम्/त्याज्यं द्वादशीव्रतम्**'' (द्रष्ट.कालमाधव - प्र.४एकादशीनिर्णय) इति. तथा विष्णुरहस्ये ''**परमापदम् आपन्नो हर्षे वा समुपस्थिते, सूतके मृतके चापि न त्याज्यं द्वादशीव्रतम्**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति.

इति सूतके च एकादशीविचारः

अथ श्रवणद्वादशीनिर्णयः

यत्पदाम्बुरुहध्यानं चिन्तामणिरिवाखिलान्॥
ददात्यर्थान् तमेवाहं वन्दे श्रीविट्ठलेश्वरम्॥१॥

मात्स्ये ''**द्वादश्यां शुक्लपक्षेतु नभस्ये श्रवणं यदि, उपोष्या**

एकादशीं तत्र द्वादशीमपि उपोषयेत्'' (मत्स्यपुरा. । ।). भविष्योत्तरात् **''मासि भाद्रपदे शुक्ला द्वादशी श्रवणान्विता, सर्वकामप्रदा पुण्या (च) उपवासे महाफला, संगमे सरितां स्नात्वा द्वादश्यां समुपोषितः... (समग्रं फलम् आप्नोति न अत्र कार्या विचारणा''** (भवि.पुरा.४।७५।२-५).

श्रवणद्वादशी यदि एकादश्यामेव स्यात् तदा विष्णुशृंखलयोगः स्यात्. तत्र एकेन उपवासेन एकादशीव्रतं श्रवणद्वादशीव्रतं च द्वयमपि कृतं भवति. तद् उक्तं मत्स्यपुराणे **''द्वादशी श्रवणर्क्षं चेत् स्पृशेद् एकादशीं यदि, सएव वैष्णवो योगो 'विष्णुशृंखल'सञ्ज्ञकः, तस्मिन् उपोष्य विधिवत् नरः प्रक्षीणकल्मषः, प्राप्नोति अनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम्''** (मत्स्यपुरा. । ।) इति. विष्णुधर्मोत्तरे **''एकादशी द्वादशी च वैष्णव्यमपि तत्र चेत्, तद् 'विष्णुशृंखलं'नाम विष्णुसायुज्यकृद् भवेत्''** (विष्णुध.उत्त.पुरा. । ।). हेमाद्रिमते एकादश्याः श्रवणयोगाभावेऽपि श्रवणयुत-द्वादशीयोगमात्रेण विष्णुशृंखलं भवति, **''द्वादशी श्रवणस्पृष्टा स्पृशेद् एकादशीं यदि, सएव वैष्णवो योगो 'विष्णुशृंखल'सञ्ज्ञकः''** (हेमाद्रि. । ।) इति हेमाद्रौ मात्स्योक्तेः. निर्णयामृतमतेतु श्रवणस्य एकादशी द्वादशीभ्यां योगएव विष्णुशृंखलं भवति, न अन्यथा इति, ''द्वादशी श्रवणर्क्षं चेत् स्पृशेद् एकादशीं यदि, सएव वैष्णवो योगो 'विष्णुशृंखल'सञ्ज्ञकः'' इति वाक्यात्. **''एकादशी द्वादशी च वैष्णव्यमपि तत्र चेत्, तद् 'विष्णुशृंखलं'नाम विष्णुसायुज्यकृद् भवेत्''** (. । ।).

यदा द्वादशी-श्रवणर्क्ष-युतायाम् एकादश्याम् उपोषितायां द्वादश्यां श्रवणर्क्षं वर्धते, द्वादशी ऋक्षात् न्यूना भवति, तदा तिथ्यन्तो न अपेक्षणीयः. तद् उक्तं निर्णयामृते **''तिथिनक्षत्रसंयोगे उपवासो यदा भवेत्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ जयन्तिनिर्णय), **''तावदेव न भोक्तव्यं**

यावद् एकस्य संक्षयः, विशेषेण, महीपाल!, श्रवणं वर्धते यदि, तिथिक्षये न भोक्तव्यं द्वादशीं नैव लंघयेद्''* (*..*द्रष्ट.निर्णयामृत - द्वादशीनिर्णय) इति.

यदा एकादशी सम्पूर्णा द्वादशी च श्रवणनक्षत्रयुक्ता तदा एकादश्याम् उपोष्य श्रवणद्वादश्यां पृथग् उपवासः कार्यः. ननु व्रतस्य पारणान्तत्वाद् असमाप्ते पूर्वव्रते कथं व्रतान्तरारम्भः? **''पारणान्तं व्रतं ज्ञेयं व्रतान्ते विप्र(/तद्धि)भोजनम्, असमाप्ते व्रते पूर्वे नैव कुर्याद् व्रतान्तरम्''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ जयन्तिनिर्णय) इति विष्णुधर्मोत्तरे निषेधाद् इति चेद्, न, अद्भिः पारणाद्. अत्र उभयोः व्रतयोः एकदैवतत्वात् च न दोषः. तद् उक्तम् **''एकादशीम् उपोष्यैव द्वादशीमपि उपोषयेत्, नच अत्र विधिलोपः स्याद् उभयोः देवता हरिः''** (.पुरा. - । ।) इति. मार्कण्डेयः **''श्रवणर्क्षसमायुक्ता द्वादशी यदि लभ्यते, उपोष्य द्वादशीं तत्र त्रयोदश्यान्तु पारणम्''** (मार्क.पुरा. । ।) इति.

इयञ्च द्वादशी अहोरात्रमध्ये घटिकार्धमपि श्रवणयोगमात्रेण कृत्स्नापि पुण्या भवति. तद् उक्तं मत्स्यपुराणे **''द्वादशी श्रवणोपेता कृत्स्ना पुण्यतमा तिथिः, नतु सा तेन संयुक्ता तावत्येव प्रशस्यते''** (मत्स्यपुरा. । ।).

श्रवणद्वादशीम् अधिकृत्य उक्तं नारदीयपुराणे **''तिथिनक्षत्रयोः योगे योगः चैव नराधिपः, द्विकलो यदि लभ्येत स ज्ञेयो हि आष्टयामिकः''** (नार.पुरा. । ।).

विष्णुशृंखलयोगे पूर्वदिनएव श्रवणद्वादशीव्रतः कार्यम्. यदा शुद्धा अधिका द्वादशी परदिनएव उदयकालीनश्रवणयोगवती पूर्वदिनेतु उदयकालव्यतिरिक्तकालीन-श्रवणयोगवती तदा उत्तरा ग्राह्या. यदातु

उभयत्र उदयकालीनः श्रवणयोगः तदा पूर्वैव ग्राह्या. यदातु एकस्मिन् अहोरात्रे श्रवणम् एकादशीं स्पृष्ट्वा द्वादशीं स्पृशति तदा फलाधिक्यम् उक्तं नारदीये **''संस्पृश्य एकादशीं राजन् द्वादशीं यदि संस्पृशेत्, श्रवणं ज्योतिषां श्रेष्ठं ब्रह्महत्यां व्यपोहति''** (नार.पुरा. । ।) इति. अस्मिन् च विष्णुशृंखलयोगे एकादश्युपवासः तन्त्रेण अनुष्ठेयः, एकदैवतत्वाद् विरोधाभावात् च. यदातु द्वादश्याम् उपोषितायां द्वितीयदिने श्रवणं वर्धते तदा ऋक्षान्तो न अपेक्षितः, **''ऋक्षान्ते पारणं कुर्यात् विना श्रवणरोहिणीम्''** (. । ।) इति वचनात्, विष्णुधर्मे श्रवणान्तमात्रे पारणनिषेधात्.

यदातु एकादश्यामेव श्रवणनक्षत्रं स्यात्, न द्वादश्यां, तदा एकादश्यामेव श्रवणद्वादशीव्रतं कार्यम्. तद् उक्तं विष्णुपुराणे **''याः काश्चित् तिथयः प्रोक्ताः पुण्याः नक्षत्रयोगतः, तास्वेव तद् व्रतं कुर्यात् श्रवणद्वादशीं विना''** (विष्णुपुरा. । ।). अस्य अर्थो : याः काश्चित् तिथयो येनकेनचित् नक्षत्रविशेषयोगेन पुण्याः प्रोक्ताः तद्विहितं तास्वेव कुर्यात्, न तिथ्यन्तरे तन्नक्षत्रयुक्ते. सो अयं श्रवणद्वादशीं विना नियमः. श्रवणद्वादशीव्रतन्तु श्रवणैकादश्यामपि भवति इति अर्थः. उक्तञ्च भविष्योत्तरे **''द्वादश्याः ते विधिः प्रोक्तः श्रवणेन यो, युधिष्ठिर!, सर्वपापप्रशमनः सर्वसौख्यप्रदायकः, एकादशी यदा सा स्यात् श्रवणेन समन्विता, विजया सा तिथिः प्रोक्ता भक्तानां विजयप्रदा''** (भवि.पुरा.४।७६।१-२). नारदीयपुराणे **''यदा न प्राप्यते ऋक्षं द्वादश्यां वैष्णवं क्वचिद्, एकादशी तदा उपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता, उभयोः देवता विष्णुः पुराणपुरुषोत्तमः, विभेदोऽपि न कर्तव्यो विभेदात् पतते नरः''** (नार.पुरा. । ।).

यदातु दिनद्वयेऽपि न श्रवणं तदा द्वादश्यामेव उत्सवः.

यस्तु उपवासद्वयासमर्थः स्वीकृतैकादशीव्रतः च तस्य एकादश्यामेव

उपवासो, द्वादश्यान्तु पूजामात्रविधिः. तथाच मत्स्यपुराणे ''**द्वादश्यां शुक्लपक्षेतु नक्षत्रं श्रवणं यदि, उपोष्या एकादशी तत्र द्वादश्यां पूजयेद् हरिम्**'' (मत्स्यपुरा. । ।). यमोऽपि ''**श्रवणेन सिते यत्र द्वादशी लभ्यते क्वचिद्, उपोष्या एकादर्शी तत्र द्वादश्यां पूजयेद् हरिम्**'' (यमसंहि. । ।). यस्तु उपवासद्वयासमर्थो अस्वकृतैकादशीव्रतः तस्य द्वादश्यामेव उपवासः स्यात्. तथाच नारदीयपुराणे ''**उपोष्य द्वादशीं पुण्यां विष्णुऋक्षेण संयुताम्, एकादश्युद्भवं पुण्यं नरः प्राप्नोति असंशयम्, एवम् एकादशीं त्यक्त्वा द्वादश्यां समुपोषणात्, पूर्ववासरजं पुण्यं सर्वं प्राप्नोति असंशयम्**'' (नार.पुरा. । ।). त्यागो अत्र निराहारस्य. 'भुक्त्वा' इति पाठे भुक्त्वा इत्यत्र भोजनं फलाहारः. यथा उक्तं भविष्ये ''**उपवासद्वयं कर्तुं न शक्नोति नरो यदि, प्रथमे अह्नि फलाहारो निराहारो अपरे अहनि**'' (भवि.पुरा. - । ।). यस्तु उपवासद्वयं प्रति समर्थः तं प्रति दिनद्वयेऽपि उपोषणं विहितम् ''**एकादशीम् उपोष्यैव**'' (. । ।) इत्यनेन. यस्तु उपवासद्वयासमर्थः स्वीकृतैकादशीव्रतः स भगवत्पूजां कृत्वा उत्सवान्ते वा पारणं कुर्यात्, कालमाधवीये ''**तिथ्यन्ते च उत्सवान्ते वा व्रती कुर्वीत पारणम्**'' (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय) इति स्मरणाद् उत्सवान्त-पारणस्यापि विधानाद् इति. अतएव उक्तं तत्त्वार्थदीपे ''**तथा वामनजयन्त्युत्सवकरणे एकादश्याम् उपोषणम् अकृत्वापि द्वादश्याम् उपोषणं कर्तव्यम्. किंबहुना? उत्सवः प्रधानभूतः, भुक्त्वा च उत्सवो निषिद्धो, भगवदावेशाभावाद्**'' (त.दी.नि.प्र.२।२४५) इति.

''**आभाकासितपक्षेषु मैत्रश्रवणरेवती, संगमे नैव भोक्तव्यं द्वादशद्वादशीः हरेद्**'' (. । ।) इत्येतादृशवचनन्तु कालनिर्णयमाधवीयादिषु अनुपलभ्यमानत्वात् पारणस्य निर्णीतत्वात् च अमूलकमिव आभाति. तेन पूर्वोक्तैव व्यवस्था इति.

श्रीमत्कल्याणरायेण पितृपादाब्जसेविना॥

यथामति विनिर्णीतं श्रवणद्वादशीव्रतम् ॥१॥

इति श्रीकल्याणरायविरचितः श्रवणद्वादशीनिर्णयः समाप्तः

अथ दोलोत्सवनिर्णयः

''तपस्ये मासि राकायां यदा उत्तराफाल्गुनी भवेत्, तदा दोलोत्सवः कार्यः तच्च श्रीपुरुषोत्तमः'' (ब्रह्म.पुरा. । ।) इति ब्रह्मपुराणवाक्यात्, **''नरो दोलागतं दृष्ट्वा गोविन्दं पुरुषोत्तमं, फाल्गुन्यां संयतो भूत्वा गोविन्दस्य पुरं व्रजेद्''** (ब्रह्मपुरा.६०।१८) इति कृत्यचिन्तामणौ ब्रह्मपुराणवाक्यात् च पूर्णिमोत्तराफाल्गुनीयोगे दोलोत्सवः कार्यः. तिथि-नक्षत्रयोगाभावेऽपि तिथ्यपेक्षया नक्षत्रस्य बलिष्ठत्वात् नक्षत्रप्राधान्याद् यदा उत्तराफाल्गुनी भवति तदा दोलोत्सवः कार्यः. तच्च दोलाधिरोहणं भगवतो दक्षिणाभिमुखतया. तथाच गरुडपुराणे **''दक्षिणाभिमुखं देवं दोलारूढं व्रजेश्वरं, सकृद् दृष्ट्वा तु गोविन्दं मुच्यते ब्रह्महत्यया''** (गरु.पुरा. । ।).

इति दोलोत्सवनिर्णयः

अथ चन्दनोत्सवनिर्णयः

निर्णयामृते भविष्योत्तरे **''वैशाखस्य तृतीयायां श्रीसमेतं जगद्गुरुं, नारायणं पूजयेथाः पुष्पधूपविलेपनैः''** (भवि.पुरा.१०१।१९). ब्रह्मपुराणे पञ्चतीर्थीमाहात्म्ये **''यः पश्यति तृतीयायां कृष्णं चन्दनरूषितं, वैशाखस्य सिते पक्षे स याति अच्युतमन्दिरम्''** (ब्रह्मपुरा.६०।२१) इति वाक्याद् अक्षयतृतीयायां विशेषेण चन्दनं समर्पणीयम्. सा तृतीया पूर्वाह्नव्यापिनी ग्राह्या. दिनद्वयेऽपि तद्व्याप्तौ परैव त्रिमुहूर्तव्यापिनी द्विमुहूर्तव्यापिनी वा ग्राह्या.

इति चन्दनोत्सवनिर्णयः

अथ ज्येष्ठाभिषेकनिर्णयः

''ज्येष्ठ्यां/ज्यैष्ठ्यां ज्येष्ठर्क्षयुक्तायां यः पश्येत् पुरुषोत्तमं, कुलैकविंशम् उद्धृत्य विष्णुलोकं स गच्छति'' (ब्रह्मपुरा.६०।२२) इति ब्रह्मपुराणवाक्यात्, **''मासि ज्येष्ठे च सम्प्राप्ते नक्षत्रे च ऐन्द्रदेवते, पौर्णमास्यां तदा स्नानं सर्वकालं हरेः द्विजाः''** (ब्रह्मपुरा.६२।३) इति ब्रह्मपुराणे ब्रह्मवाक्यात् च ज्येष्ठापौर्णिमासीयोगे ज्येष्ठाभिषेकोत्सवः कार्यः. तिथि-नक्षत्रयोगाभावे तिथ्यपेक्षया नक्षत्रस्य बलिष्ठत्वात् नक्षत्रप्राधान्याद् यदा ज्येष्ठा भवति तदा ज्येष्ठाभिषेकोत्सवः कार्यः.

इति ज्येष्ठाभिषेकनिर्णयः

अथ रथोत्सवनिर्णयः

निर्णयसिन्धौ तिथितत्त्वे स्कन्दपुराणवचनम् **''आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया पुष्यसंयुता, तस्यां रथे समारोप्य रामं च रमया सह, यात्रोत्सवं प्रवर्त्य अथ प्रीणयेत द्विजान् बहून्''** (स्कन्दपुरा.२।२।२९।३३-३४) इति वचनात् पुष्ययुक्तद्वितीयायां रथोत्सवः कार्यः. तिथि-नक्षत्रयोगाभावे तिथ्यपेक्षया नक्षत्रस्य बलिष्ठत्वाद् यदा पुष्यनक्षत्रं भवति तदा रथोत्सवः कार्यः.

इति रथोत्सवनिर्णयः

अथ पवित्रारोपणनिर्णयः

हेमाद्रौ विष्णुरहस्ये **''श्रावणस्य सिते पक्षे कर्कटस्थे दिवाकरे, द्वादश्यां वासुदेवाय पवित्रारोपणं स्मृतं, द्वादश्यां श्रवणे वापि पञ्चम्याम् अथवा द्विज, आनुकूल्येषु कर्तव्यं पञ्चदश्याम् अथापि वा''**

(हेमाद्रि / विष्णुरहस्य । ।) इति. विष्णुरहस्ये ''**पवित्रारोपणं विष्णोः भक्तिरत्नप्रदायकं, स्त्रीपुंकीर्तिप्रदं पुण्यं सुखसम्पद्धनावहम्**'' (विष्णुरहस्य. । ।). रामार्चनचन्द्रिकायां ''**तत्र उत्तमं पवित्रन्तु षष्ट्या सह शतैः त्रिभिः, सप्तत्या सहितं द्वाभ्यां पवित्रं मध्यमं स्मृतं, साशीतिना शतेनैव कनिष्ठं तत् समाचरेत्**'' (रामार्चनचन्द्रिका पट-ल५). तथा ''**पवित्रारोपणं विष्णोः कर्तव्यं श्रद्धयान्वितैः, सम्पूर्णा जायते यस्मात् पूजा सांवत्सरीकृता, साधारपवित्राणि त्रिभिः सूत्रैः समाचरेद्, उत्तमन्तु शतग्रन्थि पञ्चाशद्ग्रन्थि मध्यमं, कनिष्ठन्तु पवित्रं स्याद् यत् त्रिंशद्ग्रन्थिशोभनं, षड्त्रिंशद् चतुर्विंशद् द्वादश इति च केचन, चतुर्विंश-द्वादशाष्टौ इति एके मुनयो विदुः**'' (रामार्चनचन्द्रिका पट-ल५). हेमाद्रौ विष्णुरहस्ये ''**अष्टोत्तरशतं कुर्यात् चतुःपञ्चाशदेव वा, सप्तविंशतिरेव अथ ज्येष्ठ-मध्य-कनीयसम्**'' (हेमाद्रि / विष्णुरहस्य । ।). श्रीविष्णोः पवित्रारोपणं भगवत्प्रसादहेतुत्वाद् भक्त्यादिदाय-कत्वाद् वैष्णवैः कर्तव्यम्. तच्च पूर्वोक्तवचनैः द्वादश्यादिषु आनुकूल्ये च विहितत्वाद्, द्वादश्यामेव इति नियमाभावाद्, ''**यदा न प्राप्यते ऋक्षं द्वादश्यां वैष्णवं क्वचिद्, एकादशी तदा उपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता, उभयोः देवता विष्णुः पुराणपुरुषोत्तमः, विभेदोऽपि न कर्तव्यो विभेदात् पतते नरः**'' (नार.पुरा. । ।) इति नारदीयपुराणवचनाद् एकादशी-द्वादश्योः एकदेवतात्वेन ऐक्याद्, विभेदकरणे दोषश्रवणाद् एकादश्याः हरिवासरत्वेन भगवदानुकूल्याद् एकादश्यां वैष्णवैः श्रीमद्भगवते पवित्रं समर्पणीयम्. तत्रापि असम्भवे कार्तिकक्यवधि यदाकदाचित् समर्पणीयम्. तत्र प्रकारः : सौवर्ण-रौप्य-पट्टसूत्रैः यथासम्भवम् उक्तप्रकारेण पवित्राणि कारयित्वा तानि पीठादौ वस्त्रोपरि स्थापयित्वा प्राणान् आयम्य ''भगवतः पुरुषोत्तमस्य पवित्रारोपणार्थं पवित्राधिवासनं करिष्ये'' इति संकल्प्य गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्यैः पञ्चोपचारिकया पूजया अधिवासनं कृत्वा आरार्तिकं विधाय नमस्कृत्य

तानि भक्त्या श्रीभगवते समर्पयेत्. द्वितीयदिवसे गुरवे समर्प्य स्वयञ्च परिदध्यात्. अयमेव दोलादौ अधिवासनप्रकारः. पवित्राधिवासने प्रकारान्तरस्य पूजामार्गीयत्वाद् न भक्तिमार्गीयेण प्रकारान्तरं कर्तव्यम्. श्रीपुरुषोत्तमातिरिक्त-देवानां पवित्रारोपणस्य स्मार्तपरत्वात् तत्र देवपूजकपरत्वात् च न भक्तिमार्गीयकर्तव्यता इति.

इति पवित्रारोपणनिर्णयः

अथ नृसिंहजयन्तीनिर्णयः

द्वितीयदिने मुहूर्तमात्रसत्त्वेऽपि नृसिंहचतुर्दशी त्रयोदशीविद्धा न कार्या. तद् उक्तं बृहन्नारसिंहे **''केवलं च प्रकर्तव्यं महिनं फलकांक्षिभिः, वैष्णवैस्तु न कर्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी''** (नृसिंहपुरा. । ।) इति. गोविन्दार्णवेऽपि उक्तं **''शुक्लपक्षचतुर्दश्यां मासि 'माधव'सञ्ज्ञके, प्रादुर्भूतो नृपं च अस्यः तस्मात् तां समुपोषयेद्, अनंगेन समायुक्ता न सा उपोष्या चतुर्दशी, पूर्णायुक्तान्तु तां कुर्यात् नरसिंहस्य तुष्टये, यः करोति नरो मोहात् कामविद्धां चतुर्दशीं, धनापत्यैः वियुज्येत तस्मात् तां परिवर्जयेत्''** (गोविन्दार्णव । ।). प्रतापमार्तण्डे **''तत्र शुक्ला परायुता युग्मवाक्यात्''** (प्रतापमार्तण्ड । ।). व्यासः **''शुक्ला चतुर्दशी ग्राह्या परविद्धा सदा व्रते''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ चतुर्दशीनिर्णय) इति. नारदीये **''तृतीया एकादशी षष्ठी पौर्णमासी चतुर्दशी, पूर्वविद्धा न कर्तव्या कर्तव्या परसंयुता''** (द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ चतुर्दशीनिर्णय) इति. कृष्णातु पूर्वविद्धा ग्राह्या.

इति नृसिंहजयन्तीनिर्णयः

अथ दीपोत्सवनिर्णयः

अथ चतुर्दश्यमावास्याप्रतिपन्निर्णयो : निर्णयामृत-प्रतापमार्तण्ड-

"आश्विनस्य सिते पक्षे चतुर्दश्यां विधूदये॥
कर्तव्यं मंगलं स्नानं नरैः नरकभीरुभिः॥१॥
पूर्वविद्धचतुर्दश्यां कार्तिकस्य सितेतरे॥
पक्षे प्रत्यूषसमये स्नानं कुर्यात् प्रयत्नतः॥२॥
चन्द्रक्षयेऽश्विने मासि पितृकर्म विधाय च॥
दीपदानं ततः कुर्यात् सायाह्ने च तथोल्मुकम्॥३॥
दर्शे तु पैतृकं कर्म कृत्वा मासि तथाश्विने॥
नीराजनं द्वितीयेऽह्नि प्रातःकाले विधीयते॥४॥
द्वितीयायां स्वसा भ्रातुर्मांगल्यं विदधाति च॥
नन्दायां मंगलं भ्रातुर्दर्शे नीराजनं नहि॥५॥
चतुर्दश्याम् अमावास्या श्राद्धकाले भवेद् यदि॥
तस्याः प्रदोषे कर्तव्यं श्राद्धदीपोत्सवोल्मुकम्॥६॥
श्राद्धकाले भवेद् दर्शोऽपराह्णे प्रतिपद् यदि॥
दीपदानादिकं कर्म तत् प्रदोषे न दूष्यति॥७॥
पितृकार्यं पुरस्कृत्य कुर्याद् उल्मुकहोलिके॥
नन्दा वा यदि वा पूर्णा तत्र दोषो न दूष्यति॥८॥
दर्शश्राद्धं विना यस्मिन् राष्ट्रे दीपोल्मुकं भवेत्॥
तद्राष्ट्रं नाशम् आयाति परचक्राग्नितस्करैः॥९॥
नैकः श्राद्धद्वयं कुर्याद् अनिमित्ते कदाचन॥
निमित्ते सति कर्तव्यं विना बुद्धिमहालयम्॥१०॥
पूर्वं नीराजनं कृत्वा दीपान् दत्त्वा तथैव च॥
पश्चाद् यः कुरुते श्राद्धं तत् सर्वम् आसुरं भवेत्॥११॥
संलग्नमेव कर्तव्यं दीपोत्सवदिनत्रयम्॥
विभेदं कुरुते यस्तु नरके स निमज्जति॥१२॥
आश्विने मासि दर्शादितिथयः कीर्तितास् त्रयः॥

दीपदानादिकार्येषु कर्तव्याः पूर्वसंयुताः ॥१३॥
अथवा संगवाद् ऊर्ध्वम् एते तु तिथयस् त्रयः ॥
भवन्ति वृद्धिगामिन्यः कर्तव्याः परसंयुताः ॥१४॥
अर्धोदयात् सहस्रांशोः प्रातः स्यात् त्रिमुहूर्तकः ॥
संगवस् त्रिमुहूर्तः स्याद् मध्याह्नस् त्रिमुहूर्तकः ॥१५॥
शारदस् त्रिमुहूर्तः स्यात् सायाह्नस् त्रिमुहूर्तकः ॥
देवकार्ये तिथिर् ग्राह्या संगवान्तप्रमाणिकाः ॥१६॥
आश्विने मासि दर्शादितिथिषु तिथितर्पणे ॥
सव्येन कुरुते विद्वान् अन्यथा नरकं व्रजेत् ॥१७॥
राज्यकामो यथावृद्धिश्राद्धम् अभ्युदयं चरेत् ॥
तथा दीपोत्सवं वृद्धिं वृद्धिवद् हृष्टचेतनात् ॥१८॥
नीराजनं प्रतिपदि प्रातःकाले विधीयते ॥
देवानां नृपतेः विप्रशिशुनारीनृपांगणे ॥१९॥
उल्मुकं च तथा होला नन्दायां ज्वलते यदि ॥
दुर्भिक्षं राष्ट्रभंगं च परचक्रं विनिर्दिशेत् ॥२०॥
प्रतिपद्दर्शसंयोगे उत्सवं कुरुते यदि ॥
आयुर्वृद्धिः प्रजासौख्यं राज्यं च विपुलं धनम् ॥२१॥
स्निग्धस्नानं न कर्तव्यं द्वितीयायां सदैव हि ॥
दशम्यां च त्रयोदश्यां वर्जयित्वा तथाऽश्विनम् ॥२२॥
कार्तिकस्यासिते पक्षे यदा सूर्योदयो भवेत् ॥
यत्नेन वर्जयेद् भद्रां गावः क्रीडन्ति भूतले ॥२३॥
गवां क्रीडादिने नन्दा द्वितीया मिश्रिता यदा ॥
आयुःक्षतिः प्रजानाशः छत्रभंगो नराधिपे ॥२४॥
अमांशे क्रीडिता गावोऽक्षयं राज्ञि तिथिस्मृता ॥
गवां वृद्धिः सुखं लोके पुत्रपौत्रप्रवर्धनम् ॥२५॥
प्रतिपद्दर्शसंयोगे गावश्च प्रतिपूजिताः ॥

आयुर्वृद्धिः प्रजाः सर्वाः राज्यं च विपुलं धनम्॥२६॥
गोक्रीडनदिने यस्मिन् सायं दृश्येत चन्द्रमाः॥
तत्र नश्यति राज्यं च पशूनां च क्षयो भवेत्॥२७॥
तस्मात् तत्सम्भवे पूर्वदिने गोक्रीडनं भवेत्॥
ततः पूर्वदिने कार्यं श्राद्धं दीपोत्मुकादिकम्''॥२८॥

यदा तुले भानुः तदा पूर्वयुतैव कर्तव्या तुलासंस्थे सूर्ये परविद्धानिषेधश्रवणात्.

''कार्तिकस्य सिते पक्षे तुलाभानुर्यदा भवेत्॥
यत्नेन वर्जयेद् भद्रां गवां क्रीडनकर्मणि॥२९॥
आश्विनान्ते चतुर्दश्यां तुलासंस्थे दिवाकरे॥
दिनान्ते दृश्यते चामा कलामात्रापि कर्हिचित्॥३०॥
तदापराह्णे श्राद्धं स्यात् सायं दीपोत्मुकादिकम्॥
प्रातर्गोक्रीडनं कार्यं दर्शे नन्दायुते सदा॥३१॥
अमावास्यां क्रीडनं चेद् गवां लोकस्य मातृणाम्॥
अश्वेष्वाधिभयं नैव राज्ञः शस्त्रभयं नहि॥३२॥
प्रतिपद्दर्शसंयोगे गावो यत्र प्रपूजिताः॥
तत्रायुर् वर्धते नित्यं राज्यं पुत्रं धनं तथा॥३३॥
अमावास्याप्रदोषान्ते नन्दा यत्रहि दृश्यते॥
दीपज्योतिः पितृणां च ज्येष्ठपुत्रो विनश्यति॥३४॥
नन्दा किञ्चिद्युता यत्र दृश्यते च द्वितीयया॥
बलेर्दिनं न कर्तव्यं चन्द्रदर्शनसम्भवात्॥३५॥
गवांहि क्रीडमानेन द्वितीया मिश्रिता यदा॥
हरत्यायुः प्रजानांहि छत्रभंगो नराधिपे॥३६॥
सायाह्ने च चतुर्दश्याम् अमा यत्र प्रदृश्यते॥
तत्र श्राद्धं तथा दीपं पितृणाम् अर्चनं भवेत्॥३७॥

रिक्तं विदृश्यतेऽमा वा पितृकार्येषु पुण्यदा॥
अमा विदृश्यते नन्दा ग्राह्या तत्र चतुर्दशी॥३८॥
पलम् एकम् अमावास्या दिनान्ते च यदा भवेत्॥
विज्ञेया नित्यकार्ये सा क्षयो वृद्धिरकारणम्॥३९॥
चतुर्दशी चतुर्यामा परं दर्शो यदा निशि॥
तस्य श्राद्धं तथा दीपान् सर्वकामफलप्रदा॥४०॥
तिथिः दीपवती, राजन्!, सर्वकामफलप्रदा॥
दीपदाने तथा श्राद्धे विद्यारम्भे विशेषतः॥४१॥
इत्थञ्च कौमुदी रात्रिर् विचन्द्रापि तथान्विता॥
कर्तव्या गीतवादित्रयुक्ता निद्राविवर्जिता॥४२॥
अमावास्याप्रदोषे च ये दद्युः पितृदीपकम्॥
तेषाम् अघविनाशं च पश्यन्ति पितरो ध्रुवम्॥४३॥
सायाह्ने च चतुर्दश्याम् अमावास्या प्रदुष्यति॥
तद्दिने दीपकं कुर्यात् पितृणां श्राद्धसंयुतम्॥४४॥
प्रतिपज्ज्वालयेद् अग्निं द्वितीयायां बलेर्दिनम्॥
दुर्भिक्षं राष्ट्रभंगं च छत्रभंगस् तथा भवेत्॥४५॥
प्रतिपद् ज्वालयेद् अग्निं पूजां च पशुपालनम्॥
द्वितीये गोसवो यत्र तं देशं परिवर्जयेत्॥४६॥
गावश्च क्रीडमाना हि द्वितीयामिश्रिता यदि॥
आयुःक्षयं प्रकुर्वन्ति छत्रभंगं धनक्षयम्॥४७॥
अमा वै क्रीडिताः गावः प्रतिपन्मिश्रिता यदि॥
गवां वृद्धिकरी लोके पुत्रपौत्रविवर्धिनी॥४८॥
पर्वणा मिश्रिता नन्दा गोसवे बलिपूजने॥
तद्राष्ट्रं सुखम् आयाति गवां यत्नं विवर्धते''॥४९॥

अथ यमद्वितीया

''कार्तिकस्य सिते पक्षे द्वितीया याऽस्ति नारद!॥

प्रतिपत्संयुता कार्या न कार्यातु तृतीयया॥१॥
प्रातराश्वयुजदर्शे कृताऽभ्यंगादिमंगलः॥
भक्त्या संपूजयेद् लक्ष्मीम् अलक्ष्मीं विनिवर्तयेत्॥२॥
स्वातिस्थिते रवाविन्दुर् यदि स्वातिगतो भवेत्॥
पञ्चगव्योदकैः स्नायात् कृताभ्यंगविधिर्नरः॥३॥
नीराजनैर् महालक्ष्मीम् अर्चयेत् श्रियम् आप्नुयाद्॥
ऊर्जे शुक्लद्वितीया चेत् तिथिः स्वातिप्रयुक् प्रभो॥४॥
मानवो मंगलस्नायी नैव लक्ष्म्या वियुज्यते॥
दीपैर्नीराजनात् चात्र सैषा दीपावलिः स्मृता॥५॥
वत्सरादौ वसन्तादौ बलिराज्ये तथैव च॥
तैलाभ्यंगम् अकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते॥६॥
एतानि वाक्यानि (व्रतोत्सवादेः
पुराणग्रन्थ?)स्मृतिरोधितानि॥
धर्मार्थभोगरहितान्यपि मंगलानि
(ध्येयानि कर्तव्यविबोधकानि?)॥७॥
सर्वत्र सुखम् आप्नोति नरो धर्मपरायणः॥
कीर्तिः लक्ष्मीः जयः सौख्यं पुत्रपौत्रसमन्वितः"॥८॥

इति स्मृतिसमुच्चये वाराहपुराणे विष्णुपुराणे च एवमादीनि दीपोत्सवनिर्णय-प्रतिपादकानि सन्ति.

इति दीपोत्सवनिर्णयः

इति श्रीमत्-प्रभुचरणैकतान-श्रीमद्-गोविन्दात्मज-
श्रीकल्याणराय विरचितोत्सव विशेष निर्णयः
स म्पू र्ति म् अ गा त्



।। व्रजभाषाके पद ।।

निवेदन : इस संकलनमें 'कल्याण', '*जन कल्याण' '**दास कल्याण' यों तीन छापके कीर्तन संकलित किये हैं और एक पद 'प्रभु*** मुकुंद' या छापको संकलित कियो है. इनमेंसे 'जन कल्याण' छाप एक श्रीकल्याणरायजीके पूर्ववर्ती पदरचनाकारकी है. 'दास कल्याण' छापके बारेमें अधिक जानकारी मिलती नहीं है.

शीतकालीन नित्यके पद

(१) खण्डिताको पद राग मालकौंस

ताहिके फिर जाओ, रैन बसे हो लाल जाके॥
सियरे हाथ जिन मोहि लगावो, पाँय परो किन ताके॥१॥
खानपान भोजन सुध बिसरी, चढ्यो रहत चित्त चाके॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधर एते पर मोय करत किन नाके॥२॥

(२) शृंगारको पद राग टोडी

भले पाँउ धारे मेरे अंगना यशोदाके छगनमगना॥
जो पग धरो मेरी अँखियनपर हों बल बल जाउँ
न्योछावर करों हार-चीर-कंगना॥१॥
कंठमाल सोहे नगनजटित मन मोहे,
पाँयन पेंजनी सोहे खेलो दोउ संगना॥
कल्याणके प्रभु गिरिधर देखे
सुख भयो गयो दुःख दूर भयो मन लगना॥२॥

(३) श्रीव्रजभक्तनके भोजनको पद राग सारंग

गोपवधू अपनी सोंझ बनाई॥

रुनकझुनक ज्यों ज्यों ढिंग आवत, नूपुरशब्द सुहाई॥१॥
कोऊ ठाड़ी श्रीमुख चितवत, आनन्द उर न समाई॥
व्यंजन मीठे खाटे खारे, जेंवत हरि न अघाई॥२॥
कोउ कहत अबके कब मिलहो, देओ संकेत बताई॥
प्रभु कल्याण व्रजजनको जीवन, गिरिधर सब सुखदाई॥३॥

(४) भोग सरायवेको पद राग धनाश्री

अचमन कीजिये कृपानिधान॥
यमुनोदक कंचन झारी भरि, लाई चन्द्रावली सुजान॥१॥
पनवारो भक्तनकों दीजे, नारद तुम्बर गान॥
जेंवत युगल उठे जो परस्पर, गावत ✻जन कल्याण॥२॥

(५) शयनदर्शनको पद राग नायकी

काजर बिन कारी तेरी अँखियाँ,
फूलेल बिन चिकुर चिकने,
अधर राते बिन पान॥
मंजन बिन जोत दशन,
आछे आभूषण बिन
कैसी नीकी लागे तू सुजान॥१॥
बिन सुगन्ध तो तन सुगन्धमय,
कोककला पढ़े बिन रतिकी खान॥
प्रभु कल्याण गिरिधरन-
लालकी तूही जीवनप्रान॥२॥

(६) शयनदर्शनको पद राग कान्हरो

तेरेरी वदनकमलपर नन्दनन्दन आली,

मुरलीनाद करत गुंजार॥
ललितत्रिभंगी तेरे रोम रोम रमे,
कर राख्यो उर हार॥१॥
जा सुखको सनकादिक इच्छत,
सो तेरे बस भये मुरार॥
*कल्याण*के प्रभु कमलापति
मिलवेको किन हु न पायो पार॥२॥

उष्णकालीन नित्यके पद

(७) खण्डिताको पद राग बिभास

बने लाल रंगभरे नीके रहे तुम रजनी आज॥
नैन तो अरुण भये बैन तुतरात,भले जु भले राजाधिराज॥१॥
कौनकी उपरैनी लाये, अपनी तो छांड आये, सँकुचत नाहिन डारी सब लाज॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधरन राज रहे, कहो केंधो कछु हमसों काज!॥२॥

(८) शृंगारको पद राग बिलावल

हों वारि डारों जगत, व्रजईस सीस अधटेढ़ी पगियन ऊपर॥
तृण तोरत बलि जाय युवतिजन, जहाँ तहाँ देखियत चटक कर॥१॥
तन चंदन और श्वेत पिछोरी, अरगजाभीजी रह्यो सुंदरवर॥
कल्याणके प्रभु गिरिधरजुकी माधुरी निरखी मदनमनोहर॥२॥

(९) शृंगारमें पनघट राग सारंग

लागो जिन काहूसों काहूंकी अँखियाँ॥

अब ही जाय मिलों गिरिधरसों जो होती तन पँखियाँ॥१॥
जात रहि यमुना जल भरिवे संग हुती सब सखियाँ॥
*कल्याण*के प्रभु बेगि दरस देहो हृदय उठी धुकधुखियाँ॥२॥

(१०) मुकुट शृंगार आवनीको पद राग पूर्वी

तरु तमाल तरे त्रिभंगी तरुन कान्हकुँवर,
ठाडे हैं साँवरे वरन॥
मोरमुकुट पीताम्बर, बनमाला बिराजत गरे,
शोभा देत व्रजजन मनहरन॥१॥
सखा अंसपर भुज दिये, कर लिये मुरली अधर,
मधुर तान सी तरन॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर,
बस किये आली, बंक विलोकन श्रीगोवर्धनधरन॥२॥

(११) फूल शृंगार आवनीको पद राग गौरी

देखोरी आवत हैं गोपाल, गोप गायन पाछे, गोपीजन मन हरत हेरत॥
फूलनकी पाग बनी, फूलनकी माल उर, फूली फूली नवलासी कर फूलनकी फेरत॥१॥
व्रजकी वीथनमें प्रवेश होत, जाके हेत जाके द्वारे ठाडे होत, वचन सुनायवेको सखान टेरत॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधारीको मुखारविंद देखवेकों, दौरि आय जियमें झेरत॥२॥

(१२) पनघटको पद राग बिलावल

हों पनिया न जैहों, मेरी मटुकी झटककर पटकी॥

अचानक आन गही हों साँवरे, मेरे संगकी सब सटकी॥१॥
काल्हि दुपहर गई हों कुंजमें, को जाने या घटकी॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधरकी माधुरी, सो मेरे नैनन अटकी॥२॥

(१३) चंदनभवनमें छाकको पद राग सारंग

आज मेरे मिल बैठे महेमान॥
चंदनभवन-मांझ सीतल व्यंजन, धरे गोपीजन आन॥१॥
धन्य भाग्य है आज हमारे, चंदन धर्यो है सान॥
परम हुल्लास भयो गोपीजन, गावत ✻जन *कल्याण*॥२॥

(१४) कुंजभवनको पद राग सारंग

लालन बैठे कुंजभवन॥
सारीमपनि उरपतिरप गति, अंग अंग सुखभरन॥१॥
सारंग राग अलापत गावत, लेत तान सुखकरन॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर, मन आनन्द, भयो सुख अति नैनन॥२॥

(१५) उसीरमहलको पद राग सारंग

चंदन चित्र सम्हारे वागे, चंदनकुंज बैठे पिय-प्यारी॥
चंदनतलप रची मनभाई चंदनकी भीजी, ओढ़े पीत सारी॥१॥
चंदनसों मानो पवन लागत, मंद मंद आवत सुखकारी॥
✻✻*दास कल्याण* चंदन लिये ठाड़ी सखी, कुंजतरे अवलोकत भारी॥२॥

(१६) उसीरमहलको पद राग सारंग

बैठे व्रजराजकुँवर उसीरसदन कुंजभवन,
सीतल मंद त्रिविध पवन लागत सुखदाई॥
सहचरी समीप आय ठाड़ी मुख निरखत है,

पहिरावत पोहोपमाल अरगजा लगाई॥१॥
इक सखी पान खवावे अधरकमल परस करत,
इक सखी दरपन ले पियको दिखाई॥
प्रभु कल्याण गिरिधर पिय यहविध ऋतु मनाय,
निरखि निरखि उर आनंद हृदयमें समाई॥२॥

(१७) ब्यारुको पद राग कान्हरो

हँस हँस ब्यारु करत गोपाल॥
खटरस विंजन करत रोहिनी, लाय धरत व्रजबाल॥१॥
बीच धरी कंचनकी थारी, लाय परोस्यो भात॥
प्रभु कल्याण बलराम-श्यामको, जिमावत यशोदा मात॥२॥

(१८) शयनसमयको पद राग नायकी

पाँयन चंदन लगाऊंगी॥
बहु भांतन बिंजना ढुराऊँ, छिरक गुलाबजलसों नैन सिराऊंगी॥१॥
अगर कपूर घसि अंग लगाऊँ, मृगमद आड़ बनाऊंगी॥
कल्याणके प्रभु गिरिधरन छबीले, लै लै लाड़ लड़्चाऊंगी॥२॥

वर्षोत्सवके पद

(१९) जन्माष्टमीकी बधाईको पद राग आसावरी

रानीजु जीवो दुल्हो तेरो, व्रजजीवन जायो॥
गोकुलको पूत हम पायो॥१॥
देखि दृगकमल जब श्यामगात सुहायो॥

ले करि निज गोद मोदसों हुलरायो॥२॥
पूरबकृत पुन्यपुंज भागि बड़ेतें पायो॥
कुखिकी बलिहारी जाउँ जस *कल्याण* जु गायो॥३॥

(२०) जन्माष्टमीकी बधाईको पद राग आसावरी

देवक उदधि देवकी सीप, वसुदेव स्वातिजल बरख्यो हो॥
उपज्यो सुवन विमल मुक्ताफल, सुनि सुनि सब जग हरख्यो हो॥१॥
निर्मोलिक नग हाथ यशोदा, नंदजूको चित्त आ करख्यो हो॥
विधि नारद शिव शेष जौहरी, तिनपे जात न परख्यो हो॥२॥
सुर नर मुनि जाको ध्यान धरत है, सो व्रजयुवतिन निरख्यो हो॥
सोई श्यामा उर हार बिराजत, *कल्याण* श्रीगिरिधर सरीख्यो हो॥३॥

(२१) जन्माष्टमीकी बधाईको पद राग सारंग

नंद बधाई बाँटत ठाड़े॥
बड़ी बयस ढोटा जायो है, अति आनंद उर बाढ़े॥१॥
काहू गैया काहू भूषण, काहू बसन अनेक॥
मनमें आन करत सुरपतिसों, गहे आपुनी टेक॥२॥
फूले फिरत गोप सब बालक, गावत परस्पर भाखत॥
गिरिधरदास** *कल्याण* युवतिजन, देवेको कछुअ न राखत॥३॥

(२२) जन्माष्टमी बधाईको पद राग सारंग

देख सखी आंगन गोरसकी बाढी कीच महरकें॥
हरद दहीं माखन मथि छिरकत, भरि सब माँट डहरकें॥१॥
ढोटा भयो नंदबाबाके, सुनि सुनि प्रीत पहरकें॥
घरघरतें गोपी सब धाई, रहि न ज्ञाति गहरकें॥२॥
जसुमतिकी इच्छा मन पूजी, लागी हुती अहरकें॥
गिरिधरदास** *कल्याण* जो व्रजमें सो सुख ना ब्रह्मा-हरकें॥३॥

(२३) जन्माष्टमी बधाईको पद राग सारंग

यशोदा फूली मात न मनमें॥
नाचत गावत देत बधाई, जोवत युवतिजनमें॥१॥
गोकुलके कुलको रखवारो, प्रकट्यो गोपगननमें॥
काल्हि फिरै बालक-बलके संग जैहें वृंदावनमें॥२॥
सूखत धाननको ज्यों पान्यो, सो पायो यापनमें॥
गिरिधरदास** *कल्याण* कहत ब्रजमहरि मगन सदनमें॥३॥

(२४) पलनाको पद राग आसावरी

रतनखचितको पालनो झुलावति री हालरिया हुलरावति॥
बदन बिलोकि बार बार बलैया लेत जनम सुफल करि लेखति,
महरि मुदित मन अति सचुपाँवति॥१॥
जगजीवन जायोजु जसोदा, धन्य कूख कही गोपवधू मिलि मंगल गावति॥
गिरिधरदास** *कल्याण* नंदराय फूले फिरत आनंदित

कछु सुधि हू न आवति॥२॥

(२५) ढाढीको पद राग धनाश्री

हों व्रज माँगनो जू, व्रज तज अनत न जाऊँ॥ ध्रुव॥
बड़डे भूपति भूतल महियाँ, दाता सूर सुजान॥
कर न पसारों सीस न नाऊँ, या ब्रजके अभिमान॥१॥
सुरपति नरपति नागलोकपति, मेरे रंक समान॥
भांति भांति मेरी आशा पूजी, ये ब्रजजन जिजमान॥२॥
मैं व्रत करि देव मनाये, अपनी घरनी संजूत॥
दियो बिधाता सब सुखदाता, गोकुलपतिके पूत॥३॥
हों अपनो मनभायो लेहों, कित बौरावत बात॥
औरनकों धन घन ज्यों बरखत, मो देखत हँस जात॥४॥
अष्टसिद्धि नवनिधि मेरे मंदिर, तुव प्रताप ब्रजईश॥
कहत *कल्याण* मुकुंद तात, करकमल धरो मम शीश॥५॥

(२६) बाललीलाको पद राग बिलावल

ब्रजकी रीति अनोखीरी माई॥
जो कोउ नंदभवनमें आवत, ताको मन हर लेत कन्हाई॥१॥
उर बघना मुख माँखन सोहे, तनकी कहा कहूँ जो निकाई॥
घुटुरुवन चलत छाँह कोप करि, किलकत हँसत खेलत जो अंगनाई॥२॥
मात यशोदा लेत बलैया, मनमें मोद बढ्यो न समाई॥
*कल्याण*के प्रभु यह छबि निरखत, पलककी ओट सही नहीं जाई॥३॥

(२७) माहात्म्यको पद राग गौरी

गोवर्धननाथ गोकुलपति गरुडागामी
गोपीजनवल्लभ जय मुकुंद गोविंद गोपाल॥
कान्ह कृष्ण केसो किसोर हरि श्यामसुंदर
दीनानाथ दामोदर रघुपति परमेस्वर
पुरुषोत्तम अपरंपार पूरन निश्चय नंदलाल॥१॥
नारायन नरहरि मुकुंद मधुसूदन माधो
मुरारि रनछोड छबिलो सुन्दर नैनविसाल॥
कहि *कल्याण* व्रजराज श्रीविट्ठल
प्रकटे हैं यहाँ केसीमथन कंसके काल॥२॥

(२८) श्रीराधाजीकी बधाईको पद राग धनाश्री

बरसाने बृखभानगोपके, आनंदकी निधि आईजु॥
धन्य धन्य कूखि रानी कीरतिकी, जिन यह कन्या जाईजु॥१॥
इन्द्रलोक भुवलोक रसातल, देखी सुनी ना गाईजु॥
सिंधुसुता गिरिसुता शचि रति, इन समान कोउ नाहींजु॥२॥
आनंद मुदित यसोदारानी, लालकी करों सगाईजु॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधरकी जोरी, बिधिना भली बनाईजु॥३॥

(२९) दानको पद राग श्यामकल्याण

अबही दान लेहू रस गोरसको, देखियत है मुख लैनको॥
जानत हों जु ऐसे और ठौर गीध रहै, सूधे व्है रहोजु कापर करत रोष नैनको॥१॥
छाँड़ि दे पट नातर कहूंगी जाय नंदजूसों, कथनियाँ

कथत तू जो ग्वाल धैनको॥
कल्याणके प्रभु यशोदा आगे जाय कहों, बहोरि उत्तर न आवे त्रिय बैनको॥२॥

(३०) सांझीको पद राग हमीर

लाड़िले गुमानी देखन दृग न अघानी॥
कुसुमकली हों बीनन आई, सघनलता अरुझानी॥१॥
सोंधे सारी कमलवदनपर, मधुप करत नकबानी॥
प्रभु कल्याण गिरिधर छबि निरखत, बालत्रिया छतियाँ सियरानी॥२॥

(३१) मुरलीको पद राग सारंग

नैनन नींद गईरी आली,
निशदिन छतियाँ लाग्यो ही रहत धरको॥
जबतें मोहन मुरली बजाई,
सुधि न रही री कछु और
महा डर घरको॥१॥
छतियाँ उसास लेत, ननदिया गारी देत,
सास तकत मेरे पाँयनको थरको॥
कैसेके जैये कैसे दरसन पैये
प्रभु कल्याण गिरिधरनको,
मेरो हाथ भयो पाथरतरको॥२॥

(३२) रासको पद राग मालव

बन्यो रासमंडल वर तामें
महामुदित मृदुल राधाप्यारी॥
बरनों कहा बानिक अंगअंगकी,

एक रूप एक वयस एक रंग एक रास,
तामें लेत उपजत अति गति न्यारी॥१॥
गावत तान तरंग निर्तत उरपतिरप
लागडाट उघटत शब्द उपजत महा री॥
यमुनापुलिन सुभग शीतल समीर मंद,
चंद थक्यो निशि सब दिशि लागत उजियारी॥२॥
मोरमुकुट माथे अंग अंग चित्र काछें,
ग्रीवा भुज मेलि दोउ निर्तत बिहारी॥
*कल्याण*के प्रभु प्रिय,
प्रेममगन व्है लटकत फिरत,
करत रसक्रीड़ा ऐसे रीझ वश भये गिरिधारी॥३॥

(३३) रासको पद राग बिहागरो

स्यामा स्याम रास मधि नायक,
व्रजयुवतीयूथ सहायक॥
एक व्है क्रम बाँह जोरी रच्यो रासमंडल,
निर्तत मधि अति सुंदर सुखदायक॥१॥
जैसी विधि कहियत ग्रंथनकी संगीतमध्य,
तातें गति अधिक लेत बीना बेन सहायक॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधर श्रीराधा
निरख निरख त्रैताप दूर
करत मनसा वाचा कायक॥२॥

(३४) श्रीगोवर्धनपूजाको पद राग सारंग

अन्नकूट कोटिक भाँतनसों भोजन करत गोपाल॥
आपही कहत तात अपनेसों गिरिमूरति देखो ततकाल॥१॥

सुरपतिसे सेवक इनहीके शिव विरञ्चि गुन गावे॥
इनतें अष्टमहासिद्धि नवनिधि परम पदारथ पावे॥२॥
हम गृह बसत गोधन बन चारत गोधन ही कुलदेव॥
इन्हें छाँड़ जो करत यज्ञविधि मानो भींतको लेव॥३॥
यह सुन आनन्दे व्रजवासी आनंद दुन्दुभि बाजे॥
घर-घर गोपी मंगल गावे गोकुल आन बिराजे॥४॥
एक नाचत एक करत कुलाहल एक देत कर तारी॥
बनिताबृन्द बाँयनो बाँटत गुंजा पुआ सुहारी॥५॥
तबही आयसु दियो मेघन जाय प्रलयके बरखो॥
यह अपमान कियो धौं कोने ताहि प्रकट व्है परखो॥६॥
सात द्योस जल शिला सहस्रन महा उपद्रव कीनो॥
नंदादिक विस्मित चितवत सब तब गिरिवर कर लीनो॥७॥
शक्र सँकुच सुरभि संग लायो तजी आपनी टेक॥
गहे चरन गोविन्द नाम कही कियो आप अभिषेक॥८॥
महरी मुदित वर बसन मँगाये बोल बोल सब ग्वालिन दीने॥
प्रभु कल्यान गिरिधर युग-युग यों भक्त अभयपद कीने॥९॥

(३५) पासा खेलको पद राग कान्हरो

रूप उजियारो दीप जगमगे, खेलत है पिय प्यारी॥
दाव पर्यो सुंदरी राधाको, रूठ्यो कुंजबिहारी॥१॥
केलि करत हँसत चहुँ दिसतें, रंग बढ़्यो अति भारी॥
कल्याणदास⁂ बल बल बानिकपर, नाहीं को समता री॥२॥

(३६) ब्याहको पद राग गौरी

राधाप्यारी दुल्हनजुको दुल्हा, देखोरी आवत है ब्रज लटकत॥

ग्वालन संग गावत ऊँचे स्वर, श्रवण सुनत मन अटकत॥१॥
प्यारो लाल देखत ही समात हीयेमें, अँखियनहू नहीं खटकत॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधरजुकी माधुरी देख स्मर सरन तकि सटकत॥२॥

(३७) ब्याहको पद राग बिहागरो

न छूटे मोहन डोरना अहो, कसि बांध्यो गिरिधरजुके पाणि॥ ध्रुव॥
प्रथम ब्याहविधि व्है रही हो, कर कंकण चारु विचार॥
हँस हँस कस कस ग्रंथि बनावत, नवल निपुण व्रजनार॥१॥
बड़े होय इत खोलिये हो, सुनो घोषके राय॥
कर जोरो 'हा-हा' करो के छुवो कुँवरीके पाँय॥२॥
यह न होय गिरिवरको धरनो, सुनो हो कुँवर गोपीनाथ॥
बहुत कहावत हो अपनपें, काँपन लागे हाथ॥३॥
सहज सिथिल करपल्लव हरि, लीनो छोर सँवार॥
किलक हँसी सखी श्यामकी, अब तुम छोरो हो सुकुमार॥४॥
तुम किन अब करो सहाय सखी हो, छाँड़ो अधिक सयान॥
छोरन देऊ कुँवरीको कंकन, के बोलो बृषभान॥५॥
कमल कमल कर बरनियो, पाणि पियाके लाल॥
अब कविकुल साँचे भये, तब भये कटीले नाल॥६॥
ज्यों ज्यों छूटे डोरना, त्यों त्यों बढ़े प्रेमकी डोर॥
देख दुहूनकी रीति सखीरी, हँसत सबै मुख मोर॥७॥
लीला ललित मुकुंदचंदकी, करों रसिक रसपान॥

यह जोरी अविचल वृंदावन, बल बल ✻✻ दास कल्यान॥८॥

(३८) मकरसंक्रांतिको गेंदको पद राग पूर्वी

गेंद बची हों खेलों अरी मैया॥
घरघरतें सब सखा टेरके, गेंद उछारी हों झेलों॥१॥
रीति बातन ब्यौरावत मैया, हों न जैहों अकेलो॥
यसुमति मन अभिलाख भयो तब, प्रभु कल्याण याँहि खेलो॥२॥

(३९) वसंतपंचमीको पद राग वसंत

आज चलो री वृंदावन विहरत,
वसंतपंचमी पंचम गावत॥
साज लेहु गडुवा भरि चंदन,
हरखि आनंद मृदंग बजावत॥१॥
कुसुमित द्रुमबेली अली छबि,
कूजत कोकिल मानों हमहि बुलावत॥
कल्याणके प्रभु गिरिधरही परस करि,
ये अँखियाँ अति ही सुख पावत॥२॥

(४०) वसंतको पद राग वसंत

प्यारे हो कान्हर, जो तुम आँखिन न भरोजु॥
ऐसे बदि खेलो खेल अबके वसंत मोसों सोंहे जु करोजु॥१॥
हों कहे देत बात भूलि जिन जाओ, औरके खिलायवेकों हार जिन हरोजु॥
कल्याणके प्रभु गिरिधर निधरक, काहू धाय जिन धरोजु॥२॥

(४१) वसंतको पद राग वसंत

प्यारी राधा कुंज कुसुम संकेले॥
गुहि गुहि कुसुम मनोहर माला, प्रीतमके उर मेले॥१॥
पियके बेन नैन अनियारे, मैन ही रीझ रिझै ले॥
गौर उरजस्थल स्याम उरस्थल, मानों जुगल गढ़ घेरे॥२॥
नंदनंदनसों अति रस बाढ्यो, मदनमोहनसों खेले॥
कहि *कल्याण* गिरिधरकी प्यारी, रस ही में रस झेले॥३॥

(४२) वसंतको पद राग वसंत

कबकी हों खेलत मोहिसों अरत हो,
सबन छांडि मेरी आँखिन भरत हो॥
रहो रहो हरि हों हु न और त्रिय,
नेकु न टारे टरत हो॥१॥
नैन मींड़ि फिर फिर मुसकात,
होंहु जानत एसी मोहिसों करत हो॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर,
रतिपति बिबस व्है न डरत हो॥२॥

(४३) वसंतको पद राग वसंत

ऋतु वसंत वृंदावन विहरत व्रजराज काज,
साजे द्रुम नवपल्लव प्रफुल्लित पोहोपन सुवास॥
कलापी कपोत कीर कोकिल कमनीय कंठ
कूजत श्रवनन सुनत होत है हिय हुलास॥१॥
तैसोई त्रिविध पवन बहत तैसोई सीतल सुगंध
मंद रंग उपजत है हो अति उलास॥
प्रभु *कल्याण* गिरिधर

उत जुवतिजूथ मध्य राधा,
केसरि छिरकत अबीर गुलाल
उड़ावत आवत है हो करै रंग रास॥२॥

(४४) वसंतको पद राग वसंत

आज गिरिराज सब सजी साजे,
नवल नवरूप धरि दरस काजे॥१॥
नवल नंदलाल सकल व्रजबाल लीने संग,
खेलि रस फागु सुख सरस लीनो॥
नवल हरिदास छबि निरखि अति हरखि मन
करखि *कल्याण* रसरंगभीनो॥२॥

(४५) वसंतको पद राग वसंत

इतही कुँवर कान्ह कमलनैन,
उतही युवती जहाँ सकल व्रजवासी॥
खेलत वर वसंत बानिक सो बरनों कहा,
छबि प्रगट भई मानों कामकी कलासी॥१॥
भरि भरि गोद अबीर उडावति
निबिड़ तिमिरमें यौं, राजति
ठौर ठौर शशिप्रभाकलासी॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधरन रसिकवर,
तरु तमाल संग लपटानी है कनकलतासी॥२॥

(४६) वसंतको पद राग वसंत

रतिपति दे दुःख कर रति पतिसों॥
तू तो मेरी प्यारी और प्यारेहूकी प्यारी,

उठि चलि गजगतिसों॥१॥
दूतीके वचन सुनिके मुसिक्यानी,
भूषणबसन सोंधो लियो बहु भांतिसों॥
कल्याणके प्रभु गिरिधरनागर,
धाई लई उर अतिसों॥२॥

(४७) धमारको पद राग सारंग

चंग मृदंग बाँसुरी बाजत,
हो हो हो हो होरी॥
मानो किलकार सेन दे बोली,
उमगि चली गृहगृहतें दोरी॥१॥
सारी सेंत पीत रंग बोरी,
भूषण-भूषित नवलकिशोरी॥
नील कंचुकी उरपर राजत,
मानों शोभा भई इकठोरी॥२॥
रंगभीनी भामिनी गारि गावें,
कहे राधा माधोकी जोरी॥
गुरुजन बरज तनक न मानत,
लोकलाज तिनुका ज्यों तोरी॥३॥
काहु कर साख जवाद कुमकुमा,
काहु कर लीने केसर घोरी॥
उमगे ग्वाल गोपिका दुहुं दिश,
मानों मघवा बरषत घन घोरी॥४॥
फगुवा दिये जीयके रीझे
लाल गोवर्धनधारी॥
देत असीस चली ब्रजवनिता,

✻✻*दास कल्याण* जाय बलिहारी॥५॥

(४८) डोलको पद राग नट

खेल फागफूल बैठे झूलत डोल,
डहडहे नागर नयनकमल॥
बहुत दिननके भये हैं श्रमित सुख
सखीसंग लीने राधा कृष्ण रसरासोज्वल॥१॥
गावत राग रागिणीसों मिल,
कंठ सरस कोकिलाहूतें अमल॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर रीझ झोटा
देत हिये हरखि गोरेगात छूटे छबिसों धवल॥२॥

(४९) डोलको पद राग नट

देखि देखि दृगन दंपतिको सुख माई,
कैसे आज झूलति डोल॥
गौर स्याम यह सहज सुभग वपु,
पहरें पीतपट नील निचोल॥१॥
वरण वरण भूषण नगजटित झगमगात,
तामें अधिक अमोल॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर
राधाप्यारीको झुलावत,
परसत पाणि री कंठ कपोल॥२॥

(५०) हिंडोराको पद राग मालव

झूलत हैं राधा सुंदरवर, सावन सरस हिंडोरे॥
चहूँ ओर रमकत बाढ़ूचो रंग, व्रजयुवती तृन तोरे॥१॥

बरन बरन पहेरे तन अंबर, प्रेमविवश दृग जोरे॥
किलकत हँसत सबै रसलंपट, कामत्रिया चित चोरे॥२॥
तिहिं अवसर बरसत रसबूंदें, चहुँदिशा घन घोरे॥
कल्याणके प्रभु गिरिधर रीझे अति, देत पीतपट छोरे॥३॥

(५१) हिंडोराको पद राग मालव

गृहगृहतें आई व्रजसुंदरी, झूलत सुरंग हिंडोरे॥
बरन बरन पहेरे तन सारी, नवल नवल रंग बोरे॥१॥
झूलत संग लाल गिरिधरके, अति छबि नवलकिशोरे॥
नेन्ही नेन्ही फूँही परत बादरतें, श्यामघटा घन घोरे॥२॥
कबहूँक रीझ भींज उर लागत, प्रीतमको चित्त चोरे॥
कल्याणके प्रभु गिरिधर रसभीजे, प्रेम उमग झकझोरे॥३॥

(५२) हिंडोराको पद राग केदारो

सो तू राखि ले री, झोटा तरल भये॥
इत नवकुंजद्वार कदंब परसि जात, उत यमुनालों गये॥१॥
आवत जात लपटात लतनसों, ताउपर द्रुमबेली छये॥
कल्याणके प्रभुगिरिधर रीझि वश भये झूलत नये नये॥२॥

(५३) हिंडोराको पद राग अडानो

झूलत अरुझी वनमाल गरे ग्रीव, गाँठ गहि जोरी॥

हँसत झुलत जो झुलावनहारी, कहो कैसे कर छोरी॥१॥
जो छोड़ो तो अधिक सयाने, तो न वदों जो झटक गहि तोरी॥
कल्याणके प्रभु गिरिधरन रसिक तुम, काहेको भ्रोंह मरोरी॥२॥

(५४) हिंडोराको पद रागमाला एवं तालमाला

(राग मल्हार ताल द्रुपद चौताल)

ए झूले श्यामा प्यारी झूलवत लाल विहारी,
रमकि झमकि झोंटा देत भारी॥
मणिजटित खंभा दोउ डांडी चार अति सुहाई,
गावत मल्हार तान छबि ही न्यारी॥१॥

(राग मारु ताल झपताल)

बरस जलधार
घन गगन गरजन करे दामिनी
दमकि मारु जो गावे॥
देखिके प्यारी जब दामिनीकी दमक,
डरपि घनश्यामके उरही आवे॥२॥

(राग सोरठ ताल तीव्रा)

मधुर सुरसों रटत पपीहरा, और दादुर झनकारे॥
सारस हंस कोकिला कूजत, गुंजत अलि सुखकारे॥३॥

(राग मालव ताल आदि)

मालव राग रसभर्यो
गावत, श्रमकण झलकत भाल॥
कबहूँक उतरि स्यामा प्यारीजू,
झूलवति मदनगोपाल॥४॥

(राग काफी ताल सूरताल)

झूलवनको आई व्रजवनिता, बोलत वचन रसाला॥

झोंटा देत सखी ललितादिक,
हँस हँस काफी सुर गावे बाला॥५॥

(राग कल्याण ताल धमार)

तैसीये रितु सावन मनभावन, तैसी भूमि हरियारी॥
कल्याणके प्रभु गिरिधर संग
क्रीडत विहरत यमुनातीर॥६॥

(५५) हिंडोराको पद राग गौड मल्हार

घनघटा वनघटा आलि चहुँ ओर घटा,
झूलत हैं दोऊ रूपरंगकी घटनमें॥
बंसीवट सुभगघटा तहाँ नाचे मोरनटा,
रोप्यो है हिंडोरो घटा लतऽनकी पऽतनमें॥१॥
खंभ द्युतिघटा और पास है दामिनीघटा,
भूषन-बसनघटा कदम्बविटपनमें॥
हावभाव-घटा भरि झोंटा देत आगे पाछे,
गौर-स्याम अंगघटा सोभाकी छटनमें॥२॥
स्वर है गम्भीरघटा झील घोर मध्यघटा,
गरजत संगीत गाजे रागकी रटनमें॥
कल्यानके प्रभु गिरिधर हास
सुखविलास घटा सजनी,
देखियत निज जमुनापुलिनमें॥३॥

(५६) हिंडोराको पद राग अडानो

झूलन आई है हिंडोरे, मनमोहन रंगबोरे॥
एकरंग सरस कसुंभी सारी, पहेरे कंचुकी सोंधे बोरे॥१॥

पान खात मुसकात जात और, बात कहत पिय प्यारी चित्त चोरे॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर रीझ वश भये, झोंटा देत हिंडोरे॥२॥

(५७) हिंडोराको पद राग ईमन

रमक रमक झूले झूलावे युवती,
राधा प्यारीको हिंडोरे॥
तैसीये कसुंभी सारी पहेरे,
तैसे ही बरन बरन
चहुँ दिशा घन घोरे॥१॥
याहीतें दुर दुर जात दामिनी,
होय संकेत तहाँ स्याम
देखत द्युति गात गोरे॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधर रीझ
वस भये डारत हैं तृन तोरे॥२॥

(५८) हिंडोराको पद राग कान्हरो

ये ब्रजघोषनारी आई हैं जु बनिठनि,
झूलन कुँवरवर रावरे॥
सुन सिंघद्वार झनकार जेहरिकी ते हरि,
बिछुवा पायल पाँयन धरत
सुढार पग धरनी चावरे॥१॥
रमकन झमकन घन दामिनी ज्यों,
प्यारी कियो पिय हावभावरे॥
*कल्याण*के प्रभु गिरिधरन रसिकवर,

प्यारीकों लई उठाय
नील उदधि मध्य संग सखी बैठि नेह नाव रे॥२॥

(५९) आश्रयको पद राग गोरी
चरणशरण व्रजराजकुंवरके॥
हम विधि अविधि कछु नहिं समुझत रहत भरोसे
श्रीमुरलीधरके॥१॥
रहत आसरें व्रजमंडलमें भुजाछांह श्रीगिरिवरधरके॥
प्रभु***मुकुंद माधो सुखदाई हाथबिकांने
श्रीराधावरके॥२॥

ऋणस्वीकार :
गोस्वामी श्रीव्रजोत्सवजी(इन्दौर-नाथद्वारा)
श्रीबचुभाई झवेरी(मुंबई).
संकलनकर्ता : अंशु गोपालभाई शाह.





श्रीगोपिकालंकार मट्टुजीमहाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदनमोहनो जयति ॥

श्रीगोपिकालंकार मट्टुजीमहाराजकृत

दीनता-आश्रयके पद

(राग बिहाग।)

मना रे तें बहु चतुराइ ठानी॥
श्रीवल्लभपद चित्त नहि लायो भइ मूलमें हानी॥१॥
क्योंहुं करी माया जोरि विषय वात लपटानी॥
दीसत शाह चोरको राजा वृथा जन्म बितानी॥२॥
केती बार तोकों समझायो मूरख एक न मानी॥
रसिकदासजन दाव चुके मति ऐसे पाये दानी॥३॥

मना रे तें बहुबिधि माया जोरी॥
श्रीवल्लभकुल शरण न आयो कृष्णचरणरति तोरी॥१॥
राजा डंडी चोरन दंडी घटत-घटत भइ थोरी॥
प्राण गये कुछ काम न आवे ले गये यमकी पोरी॥२॥
अजहुं न चेतत नौनहरामी बिरद जान अपनोरी॥३॥

मना तें जन्म धरी कहा कीनों॥
श्रीगिरिधर-सेवारस नांही श्रीवल्लभशरण न लीनों॥१॥
तुम अवघात कियो न कछु साधन मूलतत्त्व नहि चीनों॥
मानुषदेह चिन्तामनि पाइ विषयवासना भीनों॥२॥
श्रीगोवर्धन श्रीयमुनातट क्षणभरि वास न कीनों॥
रसिकदासजन अब कहा सोचत दुःख पाही मतिहीनों॥३॥

मना रे तें केउ विधि लेइ बुराई॥
ग्रहस्थ न सध्यो वैराग्य न उपज्यो झूठे खाख लगाई॥१॥
कोड़ी-कोड़ी करी माया जोरी सो तेरे काम न आई॥
क्षणहुं संग न कर्यो हरिजनको फिर-फिर चित्त भटकाई॥२॥
निःसाधन मारग आयो अबहु राखि भलाई॥
रसिकदासजनके श्रीवल्लभ राखेंगे अपनाई॥३॥

मना रे तुं अजहुँ चेति सवेरो॥
बड़ी ठोरको नाम धरावत त्यों-त्यों होत घनेरो॥१॥
परनिंदा परिवाद इर्षासुं चित्त जिन उरझेरो॥
इन बातनतें कछु न बढ़ेगो जाय गांठिको तेरो॥२॥
श्रीवल्लभविट्ठल मुख कहिये छांडी अबै अरुझेरो॥
रसिकदासजन टेरि कहत हें श्रीवल्लभचरनको चेरो॥३॥

मना रे तें बहुबिधि करी ढिठाई॥
भगवत्स्वरूप गुरु नही सेवे न हरिजनके संग वसाई॥१॥
करि सतसंग उपदेश न मान्यो अपुनी चाल चलाई॥
यहलोक परलोक बिगार्यो धूर परी चतुराई॥२॥
अवसर चूके कछु न होयगो फिर पाछें पछिताई॥
रसिकदासजनको कोउ नाँहि श्रीवल्लभचरण सहाई॥ ३ ॥

मना रे तें अपनो अर्थ न जान्यो॥
इंद्रियवश उदरहित कारण बैर सबनसों ठान्यों॥१॥
करि पाखंड चहूँ दिश भटक्यो पाप करी पैसो आँन्यो॥
हरि-गुरु-आज्ञा करी उलंघन कियो आप मन मान्यो॥२॥
बैन नासिका द्रगन हीन भयो पोहोंच्यो आय बुढ़ानों॥
रसिकदासजन सो चतुर कहावे श्रीवल्लभपद चित्त सान्यो॥३॥

मना रे तें बहुबिधि बात बिगारी॥
यहलोक परलोक न साध्यो बोझ मरी महेतारी॥१॥
मानुषतन निरमोल गमायो जीती बाजी हारी॥
बोहोर्यो दाव न पेंहों सुनी शठ सूर सब देत धीकारी॥२॥
अबहू देख विचार जिय अपने स्वारथके संसारी॥
रसिकदासके दास सोइ जिन श्रीवल्लभपद शिर धारी॥३॥

मना रे तें अपनो भलो न विचार्यो॥
भयो निर्लज पापके वर्ते मैं तोही कहि-कहि हार्यो॥१॥
रत्न पाय कोड़ीके पलटें कहूँ को कहूँ दे मार्यो॥
जैसें चंदन भील-सदनमें ले अग्नि में जार्यो॥२॥
रससागर तजि छिल्लकरस सेयो ग्रीष्म भइ पुकार्यो॥
रसिकदासजन सोइ चतुर जिन 'श्रीवल्लभ' नाम उच्चार्यो॥३॥

मना तें बहुबिधि पोल चलाई॥
व्है भक्त सब जक्त पुजायो यह है विमुखताई॥१॥
भगवद् धर्म कोड़ीके पलटे कहूंको कहूं बिकाई॥
कोटिक भांति दिखाय दीनता तोउ न पेट भराई॥२॥
कहां लगि करों प्रशंसा तेरी समझि समझि पछिताई॥
रसिकदासजन जानि कृपानिधि कछु एक धीर धराई॥३॥

मना रे तें लोक-प्रतिष्ठा चलाई॥
भलो-भलो कही जगत बखाने तामें कहा भलाई॥१॥
दंभ स्नेह करि हरिके जनसों अपनों उदर भराई॥
सूकर कूकर सब तोसौं आछे जात सुभाव अपनाई॥२॥
विषयविषते भर्यो नखशिखलों औरकी कहा चलाई॥

रसिकदासकी टेर सुनो प्रभु करुणानिधि दरसाई॥३॥

अरे मनतुं मायाको है दास॥
मैं-मेरो करि जनम गमायो बंध्यो कुटुंबके पास॥१॥
श्रीवागधीश-पद-रज नहीं सेवा कियो न व्रजको वास॥
चोरासी महाभक्त-कथारस सुनत न उठ्यो हुल्लास॥२॥
नहि बैठ्चो वैष्णवमंडली भयो कालको ग्रास॥
रसिकदासजनको ये कहनो चरण कमलकी आस॥३॥

अरे मन तोसम नहीं अभागी॥
कोटि जतन करि तोय समझायो तेरे एक न लागी॥१॥
हरितीरथ तजी वायसतीरथ न्हात भयो अनुरागी॥
जैसें अमृतमधुर छांडिके पीवत रुधिर सुहागी॥२॥
या दुविधामें जनम गमायो दिन-दिन चिन्ता जागी॥
रसिकदासजन श्रीवल्लभपद लहे सोइ बड़भागी॥ ३ ॥

अरे मन आयो काल अति नेरो॥
या दिनको तें जतन न कीनों समझायो बहुतेरो॥१॥
अब कहा रोवत मूढ़ अज्ञानी कह्यो न मान्यो मेरो॥
मात पिता भैया सब देखत यमदूतन् दियो डेरो॥२॥
सुत दारा धन धाम ठोर रहें कोऊ न पूछिवेरो॥
मानुषजन्मको लाभ न पायो भयो अज्ञान अंधेरो॥३॥
जो कछु गइ रही सो अपनी करि ले वेगी निवेरो॥
रसिकदासजन फिर नहि पैये श्रीवल्लभ पति तेरो॥४॥

अरे मन तुं निःशंक व्है नाच्यो॥

लोक-वेदकी कानि न मानी परत्रीयन संग राच्यो॥१॥
पापको पैसो भेलो कीनो जाय यमलों सोर माच्यो॥
रसिकदासजन सोइ चतुर जो श्रीवल्लभ मुख बांच्यो॥२॥

अरे मन अबहू मेरी मान॥
उदरभरन हित घरघर डोलत जैसें सूकर स्वान॥१॥
स्वर्णभार चोरके लावत करत सुईको दान॥
चढ़ि चोवारे चहुँदिस चितवत आवत कहूं विमान॥२॥
अबहुय चरणशरण ग्रही जाकों कहियत कृपानिधान॥
रसिकदासजन भये अति पावन गावत वेद-पुरान॥३॥

अरे मन हरि बिन कौन सहायक॥
समझि विचारि देखि जिय अपने सब स्वारथके लायक॥१॥
सुखमें आय करत सब सेवा दुःखमें कोउ न ग्राहक॥
जन्मजन्मके संगी प्राणपति वेद पुरानके वायक॥२॥
तिनकौं छांड़ि विपद् को माँगत तोसम नहीं भुलायक॥
मेंड पूंछ ग्रही भादों सरिता कोउ न उतर्यो पायक॥३॥
समझ मूढ़मति सीख हमारी कहत हों तोये सुभायक॥
रसिकदासके दास सब तजि भजि श्रीवल्लभपद सुखदायक॥४॥

अरे मन वृथा क्यों सोच करें॥
श्रीवल्लभसें पतिजु पायकें क्यो नहीं धीर धरे॥१॥
जिनके दर्शनमात्र कियेतें पापकी रासी जरे॥
सकल पदारथ द्वारे ठाड़े गिरिधर पक्ष करें॥२॥
कौन-कौन सि साखी बतावहुं सकल लोक उच्चरे॥
रसिकदासजन जानि आपनो कछु एक चित्त धरे॥३॥

मनको वेग पवनतें भारी॥
कबहुंक राज सिंघासन चाहत हय गजकी असवारी॥१॥
कबहुंक ज्ञान वैराग्य हु आवत जा बेंठत वनचारी॥
कबहुंक भ्रांति कुटिल सुख चाहत सोवत ऊंचि अटारी॥२॥
कबहुंक विषय-वांच्छना चाहत आलिंगन परनारी॥
कबहुंक संत महा बनि बैठो पूजावत ब्रह्मचारी॥३॥
कबहुंक चिंता शोक समुद्रमें बूड़त होय दुखारी॥
रसिकदासजनकी सुन भज ले वागधीश गिरिधारी॥४॥

मनकी बात मनमें रही॥
आय अचानक कालने घेर्यो जिभ्या अटकी गई॥१॥
कफ वायु स्वांस कंठ रोक्यो कछु अन जात कही॥
अब कहा रोवत अरे अधर्मी पहेले क्यों न चही॥२॥
लख चौरासीके दुःख पाये तब नर योनि लई॥
सो तो हरिके काम न आई पुनि-पुनि खाय अही॥३॥
मोहजालके बंध्यो फांसमें भवकी त्रास सही॥
रसिकदासजन कहां लों बरनौ यमकी मार ग्रही॥४॥

मनकी बात कौनसों कहीए॥
हरि सुमिरन छिन भर न होय तो कहो कौनपै जैये॥१॥
मिलत सबें अपने स्वारथके तहां नहीं सुख लैये॥
दुर्लभ मिलन परम परमारथ तिनसों दोष मिटैंये॥२॥
करि निरधार देख जिय अपने हरिजन संग रहैये॥
रसिकदासजन जिन करी शंका भक्तसंग कछु पैये॥३॥

मोसें अधर्मी तुमही उद्धारे॥
बह्यो जात मध्य भवकी धारा काहु न सुनी पुकारे॥१॥

बड़े-बड़े महानुभाव जे कहियत तेउ कही सब हारे॥
नहीं सामर्थ्य चली कछु उनकी गये मनोरथ मारे॥२॥
महा उदार करुणामय वल्लभ प्रकट लिये अवतारे॥
रसिकदासजन ग्रही पदपंकज तेउ ततच्चि तारे॥३॥

मोसों कोंन चाकरीचोर॥
आलस निद्रामें सब बीतत सांझ सोऊं जागुं नहीं भोर॥१॥
'कृष्ण'नाम रसना नहिं आवत विषयासक्ति मचावे सोर॥
रसिकदासजनके कोऊ नांही श्रीवल्लभचरणकमलरज जोर॥२॥

तुम दयाल मोसों न कपूत॥
जनमधरी सुकृत न कीनों फिरी-फिरी भयो विषइनकों दूत॥१॥
सुकृत कर्म किए नहीं कबहूं सदा रह्यो मन लंपट धूत॥
रसिकदासजनके श्रीवल्लभ राखे चरणकमल-संजूत॥२॥

जनम लें भूमि कीनो भार॥
हरिसेवा-रसस्वाद न चाख्यो मन लाग्यो परनार॥१॥
एक उदर भरवेके कारन किये पाखंड अपार॥
भक्त भयो सब जक्त बखान्यो बहुविघ्न भयो बिगार॥२॥
अंतकाल जब निकटही आयो मनमें पर्यो विचार॥
रसिकदासजन भवसागरमें श्रीवल्लभनाम आधार॥३॥
श्रीवल्लभ अबतो भयो तिहारो॥
जन्म-जन्मको मैं अपराधी यम लिखि-लिखिके हार्यो॥१॥
सपनेहुं सुक्रत कछू न कीनो भर्यो पापभंडारो॥
तुमसों कहा कहुं करुणानिधि सकुच होय जिय भारो॥२॥
वैश्वानर सब सुखके दाता सुनी मन धीरज धारो॥
रसिकदासजन बड़ी ठौरके कहा करे अन्य रिपु बिचारो॥३॥

'भक्त' कहाय सब जक्त ठग्यो॥
हरिमारग सपनें नहीं आयो बहोत भांति पाखंड रग्यो॥१॥
दूत प्रतिष्ठा चलत अगाउ फिरि-फिरि चारों दिसि भाग्यो॥
रसिकदासजन सोइ कहावत श्रीवल्लभचरणनन जो लाग्यो॥२॥

श्रीवल्लभ कृपाकटाक्ष निहारो॥
जीवकी कृति तनक जिन देखों अपनों बिरद संभारो॥१॥
जो बनि परे सोई विमुखता करे कहा यह जीव बिचारो॥
रसिकदासजन जैसो-तैसो आखर दास तिहारो॥२॥

हम जो करें तासों नरक डरे॥
आप करो ताकी को जाने तातें जियमें सोच परे॥१॥
'शरण' कहाय शरण नहीं जान्यों मलिन होय जग विचरे॥
भांति-भांतिके भेख धारिके ठगि-ठगि अपनों पेट भरे॥२॥
नित उठि करी जीवकी हिंसा यह तजि मेरेतें न टरे॥
आसुरावेश रहत निसवासर दया धर्म चितमें न धरे॥३॥
हमसों कोऊ सुन्यो ना देख्यो विधिहु न ताकी कथा विस्तरे॥
रसिकदासजनके श्रीवल्लभ बिरद जानी जो वरे॥४॥

प्रभु तेरी ऐसी भक्ति करी॥
बहुत प्रतिष्ठा जगत पुजायो फिरि-फिरि उदर भरी॥१॥
रसना श्रीवल्लभ नही गायो परनिंदा चित्त धरी॥
मिलिके विषय करत हरिजनसों यमलों सोर परी॥२॥
उत्तम शरण पाय मूढ़मति वित्त विषय मांझ गरी॥
जैसे गज आरूढ़ होयकें खरकी डोर पकरी॥३॥

ऐसें अपनो जनम गमायो कहत हों घरीघरी॥
रसिकदासजन अब कहा सोचत सर्वस्व खोय निवरी॥४॥

सेवक कहाय सेवा न करी॥
बहु अपराध कियो स्वामीको क्षणभर नहीं समर्यो जु हरि॥१॥
भगत बड़ो बखान्यो तातें कछु नहीं समझ परी॥
देखि प्रतिष्ठा मनमें फूल्यो भई सो बात सबें बिगरी॥२॥
तुमसों कहा कहों करुणानिधि जो कुछ जियमें होत खरी॥
रसिकदासजन जानि आपनो बूड़त देखि बांह पकरी॥३॥

अब कहा सोचत मन अज्ञानी॥
केती बार तोकों समजायो मेरी एक न मानी॥१॥
बाल किशोर विषयविष खोयो पहोंच्यो आय बुढ़ानो॥
जोजो कृत्य कीए तें अपनें सो सब यमनें जान्यो॥२॥
मायामतमें पंथ न सूझ्यो भटकत फिरत भुलानो॥
जैसे पथचर अवधि बीतेतें भोर होत अकुलानी॥
अजहुं चेति भागीके पूरे होत सबें सुखदानी॥३॥
रसिकदासजन जानि कृपानिधि अपनी बांह थमानी॥४॥

धन ही धन करत सब खोयो॥
हरिरसस्वाद तनक नहीं चाख्यो सबविधि माया मोह्यो॥१॥
देखि अटारी ऊंची गहरी परनारीन संग सोयो॥
जराव्याधिनें आनि सतायो तब कर्मनकों रोयो॥२॥
मानुषतन अमोलिक खोयो फिरी पाछें नहीं जोयो॥
रसिकदासजन सोइ बड़भागी श्रीवल्लभपद चित प्रोयो॥३॥

नित उठी 'श्रीवल्लभ-श्रीवल्लभ' कहिये॥
परम आनंद होत ताही क्षण अधरसुधारस पैये॥१॥
करि सतसंग निजदासनकों पुलकित प्रेम बढ़ैये॥
अनन्यता चरणरज वांछित साधन सबें बढ़ैये॥२॥
देह धरेको सबबिध यह फल मनको आप द्रढ़ैये॥
रसिकदासजन यह मांगत हैं इनके चरणन् रहैये॥३॥

...अधमनकी यह रजधानी॥
अनंत अविद्या बैठि सिंहासन ता ऊपर बंध वितानी॥१॥
तृष्णा छत्र धर्यो सिर ऊपर चमर चहुं दिस ढोरे अभिमानी॥
सभा दुःसंगत न्याय करत हैं धर्मकी रति न जानी॥२॥
छड़ीदार बोलत असत्य नित मद है आगेवानी॥
काम दीवान लोभ सो हाकेम क्रोध फौज की गिनती न आनी॥३॥
ठगिनी प्रजा सब बास बसत हैं परपाखंड निशान ढुरानी॥
आलस निद्रा द्वारपाल दोउ आवत नहि साधुजन ज्ञानी॥४॥
जन्मजन्मकी यहे व्यवस्था कहां लगी बरनुं कहांनी॥
रसिकदासजनके कोऊ नांही श्रीवल्लभ सब सुखदानी॥५॥

जन्म धरि जग उपहास कर्यो॥
सुत दारा धन धाम चहुं दिस दुःखको बोझ भर्यो॥१॥
नहीं हरिसेवा-स्वाद कथारस फिरि-फिरि वाद कर्यो॥
दिनदिन पाप बढ़त बहुतेरो ताते विमुख भयो॥२॥
या दुविधामें सबही खोयो ए.....॥
रसिकदासजन सुख पायो जब श्रीविट्ठलेश वर्यो॥३॥

हरिभक्ति बिन अति दुःख पाई॥
ना कछु कीनो जगजस लीनो मनुष्यदेह तें भली कमाई॥१॥
रह्यो दस मास जठर अग्निमें तहां रही अति दारुण दुःख पाई॥
बाहिर करुणा करिके निकास्यो दिनदिन माया अति लपटाई॥२॥
पांच बरस भये खेलन निकस्यो नहीं कछु ज्ञान बहुत लरकाई॥
कछुक बड़ो भयो तब बोल्यो जोबन जोर करत तरुनाई॥३॥
घरकी नारी बहुत हित जासो इतउत चित भटकाई॥
बन्यो छेल तब घरतें निकस्यो गिनत नहि शिर चढ़ी मस्ताई॥४॥
देखत नारी पराई टोकत गावन लाग्यो दोहा चोपाई॥
भयो निर्लज्ज पापके वर्ते भली बुरी कछु चित्त नहीं लाई॥५॥
बाढ़्यो ग्रहस्थ चिंता मन बाढ़ी महा पापकी करी कमाई॥
अतिही चतुर कौआकी नांइ जा विष्टामें जीभ लगाई॥६॥
कहे सबनसों मोसम नहि कोउ अपनी करत बड़ाई॥
जनम बितायो ऐसे सगरो पुनि हीं बूढ़ापो पोंहोच्यो आई॥७॥
मानत नही सीख कोऊ घरमें बोलत गारी देत लुगाई॥
दुःख पावत मनही मन रोवत जो कछु होय तो अब मरी जाई॥८॥
श्रवन सुने ना दीसे नहीं नेनन लाग्यो तन अतिही कंपाई॥
वस्त्रहीन खाटमें सोयो सुत नाती सब देखि हंसाई॥९॥
पहुंच्यो आय काल सिर ऊपर यमदूतन अति त्रास दिखाई॥
लेगए पकरी फांसि गरे डारि जहां सबनकी जुरी अथाई॥१०॥
पटक्यो जाय महानरकमें ताकी पुनी कछु खबरी न पाई॥

यह संसार अंधकूपमें पुनिपुनि इतउत गोथां खाई॥११॥
यहै विचारी देखि जिय अपने वारवार तोसों कहों समुझाई॥
लाख कोटीकी बात एक यह रसिकदास भजिले श्रीवल्लभ सुखदाई॥१२॥

अबकें बानिक आन बन्यो॥
श्रीवल्लभ प्रभु भूतल आए सुख अनंत उपज्यो॥
सतयुग त्रेता द्वापर बीते कलियुग आय लग्यो॥
रसिकदासजन अब मति चुके औसर आय ठन्यो॥३८॥

अब तुं जगमें भटक्यो बहोतेरो॥
कोटी जनमकी निंद्रा आइ भयो अज्ञान अंधेरो॥१॥
यह संसार स्वप्नके सुखमें आनंदसिंधु बसेरो॥
श्रीवल्लभपद-रजप्रताप बिन जानि सबें उरझेरो॥२॥
सकलमनोरथ मनके करि लें क्षणमें होय निवेरो॥
रसिकदासजन अब कहा देखत अब पायो पति तेरो॥३॥

अहो नाथ! मेरी कहा गति भाई॥
जीवस्वभाव छुटत नहि क्षणभरि काल सिराने पहुंच्यो आई॥१॥
मानुषदेह चिंतामणी पाइ तिहुं लोकमें बात बिगोई॥
नहि प्रमेयबल आप दिखावत तातें सर्वस्व जात हें खोई॥२॥
शरण लिएको त्रास होयगो लाज बिरद आपको जाई॥
रसिकदासजन सर्वलोकमें श्रीवल्लभप्रभु बिनु नाहिन कोई॥३॥
अहो नाथ अब सुनिये मेरी॥
भटकत भवमें इतउत चहुंदिस नही पावत कोउ शेरी॥१॥
कलियुग अपनो अस्त्र चलावत शिरपर आय अविद्या घेरी॥

कोऊ सुर न सहायक न हरिजन नितप्रति जीव स्वभाव बढ़ेरी॥२॥
इंद्री अश्व चढि मन चर दल लूटत भगवद्भाव सब जात रहेरी॥
काया कातर अति अकुलावत दसोंदिस आये भय भटभेरी॥३॥
कोऊ कदाचित चित नहीं मानें हासीं होयगी सबन गहेरी॥
रसिकदासजन श्रीवल्लभ प्रभु महावीर जगराम कहेरी॥४॥

जे जन अष्टछाप गुण गावत॥
चित्त निरोध होत ताही क्षण हरिलीला दरसावत॥१॥
सूरज सद्रश हृदय प्रकाशित परमानन्द बढ़ावत॥
छीतस्वामी गोविंद युगलरस तन पुलकित उर आवत॥२॥
कुंभनदास चत्रभुजदास गिरिधरके गुण गावत॥
तरुणकिशोर रसिक नंदनंदन पूरणभाव जनावत॥३॥
नंददास कृष्णदास पद गावे आनन्द उर न समावत॥
रसिकदासजन कहां लो बरनों प्रभु के पद मन भावत॥४॥

आये मेरे प्यारे हरिके दास॥
ताकी सरवर नहि त्रिभुवनमें सुन्यो सब इतिहास॥१॥
व्रजरसनाके भावना भाविक सदा मन प्रसन्न हुलास॥
मेघ गंभीर गरजत वचनामृत बरखत सुखकी रास॥२॥
कोटि जन्म अघ हरत करत सुधि मेंटत सब विध त्रास॥
नाम लेत मन आनंद उपजत भजनानंद विकास॥३॥
तिनको संग तनक जो होई हरि बसे या पास॥
वागधीस पदकमल याही शिर निर्भय करत विलास॥४॥
ताकी महीमा को कवि बरनें सरस्वती और व्यास॥

तीर्थनको अति तीरथ कहीयत पदरज पीत सुवास॥५॥
लक्ष्मी करत अपेक्षा जिनकी निशदिन करत निवास॥
भक्ति मुक्ति संग लागी डोलें करत अनन्य उपास॥६॥
कोटि समुद्र करुणा नैंननमें सब गुण तेज प्रकाश॥
रसिकदासजनकों अब दीजें चरणकमल पद आस॥७॥

हों वारी इन वल्लभीयन पर॥
मेरे तनको करो बिछोना शिश धरों इनके चरनन तर॥१॥
भाव भरी निरखों अखियन मंडल मध्य बिराजै श्रीगिरिधर॥
ये तो मेरे प्राण जीवन धन दान दियो जिन श्रीवल्लभवर॥२॥
मारग पुष्टि प्रकाश करनकों प्रगट श्रीविठ्ठल द्विज तन धर॥
रसिकदास आश इनकी कर वल्लभीयनकी चरण रज अनुसर॥३॥

मिले कब श्रीवल्लभके प्यारे॥
जिनके हावभाव प्रीतरस तिहुँ लोकते न्यारे॥१॥
कृपासमुद्र भरे अंग-अंगमें उच्छलित रसकी धारे॥
माला तिलक बिराजत अद्‌भुत करुणामय अनुहारे॥२॥
कोटि जन्मके तम दुःख भाजत हृदय करत उजियारे॥
पुलकित प्रेम कंठ भरी आवत सुख उपजावत भारे॥३॥
जापै कृपा करें श्रीगिरिधर सो इनके अनुसारे॥
रसिकदासजन को विधि पैयत दोउ नेंननके तारे॥४॥

चोरासी महा भक्तनके गुणगण गाय सदा मन मेरे॥
या करी श्रीव्रजभक्तिरस आनंद पूरण होय छिनमें रे॥१॥
जीवन गिरिधरप्रेमसों पुलकित रस अति मगन भये रे॥

रसिकदासजन परम परमारथ पुष्टिमार्गको यही पन रे॥२॥

हम नित इन चरननकी धूर॥
श्रीवल्लभके भक्त कहावत पुष्टिभक्तिके सूर॥१॥
जातें सकल विघ्न टरी जाइ पावत सुख भरपूर॥
रसिकदासजन रससागरमें विलसत आनंद शूर॥२॥

मिलें कब वे मनके अनुरागी॥
श्रीवल्लभ वचनामृत पीवत ज्यों चकोर ल्हे लागी॥१॥
जिनके नाम-संबंध-मात्रतें जाय अविद्या भागी॥
आनंद रोम-रोम भरी आवत सुख उपजावत सागी॥२॥
जाके पीछें डोलत गिरिधर प्रेमपुंज रसपागी॥
रसिकदास ताकों संग क्षणभरि सोई सदा बड़भागी॥३॥

मधुकर चलो तहां उड़ि जाय॥
श्रीवल्लभके दास कमलगण भजनानंद रस पाय॥१॥
ग्रीषम ताप तहां नहिं व्यापत सुखसों अंग लपटाय॥
महापुष्टिमार्तण्ड प्रकाशित फुल रहें डहडाय॥२॥
लीलाप्रेम सर्वदा उछलित गई मर्यादा बहाय॥
रसिकदासजन पैयत कृपापंख उपाय॥३॥

आए मेरे श्रीवल्लभ नाम उपासी॥
माला तिलक गोपीजन मुद्रा कोटिक चंद्रप्रकाशी॥१॥
भगवतकथा श्रवणपुट व्यापत पूरण प्रेमनिवासी॥
दरसन भये लहे सबही सुख ततक्षण आनंदरासी॥२॥
पुष्टिभक्तिको दान करत नित विषयन लोक उदासी॥

रसिकदासजन सो बड़भागी इनको संग सुवासी॥३॥

रहो मन श्रीगोवर्धनकी छांय॥
भोजन शिला श्रीमुख निज बैठक श्रीवल्लभगुण गाय॥१॥
शाक बेर टेंटी को मेवा प्रेमसहित ही खाय॥
गोविंद-कुंड एरावत-कुंड को पुनि-पुनि जल अचवाय॥२॥
नितप्रति करत प्रणाम दंडवत आनंद सिंधु बढ़ाय॥
रसिकदासजन वागधीश प्रभु राखेंगे अपनाय॥३॥

हों हरिदासवर्यपें वारी॥
कृपा झरत ना झरत निरंतर पवन चलत सुखकारी॥१॥
बनके परम मुकुटमनी भक्तजन सदा रहत हितकारी॥
नंदनंदन क्रीडत निश-वासर संग शोभित वृषभान दुलारी॥२॥
नित श्रीवल्लभ विट्ठल राजत कोटी कला प्रगटे अवतारी॥
भजनानंद देत निज दासन पूरणकाम त्रय ताप निवारी॥३॥
जे जन क्षणभरी रहेत तरहटी जाकी कथाको कहैं विस्तारी॥
ज्ञान वैराग्य ताकी रज चाहत संग डोलत हैं मुक्ति बिचारी॥४॥
पूरण भाग्य पुलिंदनीनको भयो बिमलकथा शुकव्यास विचारी॥
रसिकदासजन यह मागत हे जन्म-जन्म इनको अनुचारी॥५॥

यह तुमसों मागों दंडोती॥
श्रीगिरिराज तरहटी वसिवो नित निरखों श्रीवल्लभ गोती॥१॥
जिन मुख अमल विमल छोंकरतर हरिदासनको संग उद्योती॥
रसिकदासजनकी ये प्रतिज्ञा मेरे मन ये हीरामोती॥२॥

यह तुमसों चाहों शिर नाय॥

जन्म ही जन्म तरहटी वसिवो ब्रजरज बिसर न जाय॥१॥
हरिसेवा-रस पान करों नित श्रीभागवत रसना मुख गाय॥
रसिकदासजनकी प्रतिज्ञा श्रीवल्लभकुलको शिर नाय॥२॥

सर्वोत्तमजप नित करी रहिये॥
हेके निःशंक त्रैलोकहि विचरत काल-कर्मतें नाहिं डरिये॥१॥
लाख कोटि जप और कीतेई इनकी सरवर ना करिये॥
करी विश्वास चात्रककी नाँइ चाँचि स्वांति जल नित भरिये॥२॥
अधरसुधारस यातें पैये नहीं विषम चित धरिये॥
रसिकदासजन जीवनमूरी सकल मनोरथ सरिये॥३॥

करो श्रीसर्वोत्तम रस पान॥
जाकी महिमा कहां लगि बरनो श्रीमुख करत बखान॥१॥
अति ही करुणा आप करि दियो पुष्टिजीवन्को दान॥
अर्द्ध निमेखको विलंब न करिये रेंन-दिवस अरु आठों जाम॥२॥
एक-एक अक्षर है अधरामृत गुप्तरीति गुणगान॥
रसिकदास जो या रंगमें रंग्यो सोइ भक्तिनिधान॥३॥

पायी यह देह कछु काम न आई॥
..क.. सब जगसों सुनि ही बुढापो पोहच्यो आई॥१॥
कियो आलिंगन परनारीनसों सिरपर पडी पन्हाई॥
दृढ करी पक्ष कर्यो दुष्टनको हरिभक्तन दुःखदाई॥२॥
जन्म धरी त्रय बात जो सीख्यो चोरी जार लराई॥
पाप-पुंजकी माया जोरी सो सब यम सुनी पाई॥३॥

प्राण पाहुनों चलिवे लाग्यो रोकत नाँहि रुकाई॥
धिक् मूढ़मति! नाहि कियो कछु ह्वै गइ लोक हंसाई॥४॥
धन्य धन्य धन्य सोई नर तिहुं पर करत सराई॥
रसिकदासजन सोई कहायो श्रीवल्लभकी पदरज पाई॥५॥

लजायो हरिभक्तनको वेश॥
मलि-मलि धोये पहेरे कपडा और मुँडाये केश॥१॥
जो कोउ मायामति आवत तिनसों अति उपदेश॥
बडी बडी तू बात बनावत नहि धरमको लेश॥२॥
बडे... ... ठगि-ठगि खायो देश॥
बढ्यो लोभ ... ... राज सुदेश॥३॥
जब कोउ साधुजन निकट आवे तासों राखत द्वेष॥
मनमें कहे यह मोसम नांही बढ्यो पापको पेस॥४॥
ऐसें अपनो जन्म बितायो कह्यो न हरि हमेस॥
रसिकदासजनकी सब राखो श्रीवल्लभ मधुरेश॥५॥

रसना 'श्रीवल्ल'भमुख गायो
करत प्रशंसा ऐसो को कवि तिहुं लोक यश छायो॥१॥
परसत नहिं संसार-वासना निःशंक निशान बजायो॥
रहसि कुंजकेली क्रीडारस रोम-रोम लपटायो॥२॥
किए तुच्छ अन्य रस छिल्लर परमानंद निधि पायो॥
रसिकदासजन धन्य सोई नर इनको दास कहायो॥३॥

रसना श्रीवल्लभके गुण गाय॥
साधन फलित होय ताही क्षण सहज हिये हरि आय॥१॥
कीरति फेली रही तिहुँ पुरमें सुरनर मुनी सरसाय॥

नंदनंदनको प्यारो सोई व्रजभक्तनको भाय॥२॥
जाकी कानि करत ब्रह्मादि नभमें निशान बजाय॥
रसिकदासजन जोई एसो ताकों शीश नवाय॥३॥

कह न पाओं आवे मनको लाज॥
श्रीवल्लभ कृपानिधि ठाकुर जानि शिरोमनि राज॥१॥
मैं मतिमंद महाखल कहियत चलत सोई बैकाज॥
निशदिन घेरे रहत अविद्या ज्यों पंछीशिर बाज़॥२॥
यह संसार समुद्र महाभय कागद जैसो जिहाज॥
रसिकदासजन यह मांगत हैं राखो अपने समाज॥३॥

मानुष देह किहीं काज धरी?॥
श्रीवल्लभके शरन न आयो भूमि भार भरी॥१॥
फिर्यो उदरके कारण कछु ना गरज सरी॥
मातो बेल बनजारेके घर क्षण भर कल न परी॥२॥
लक्ष-चोरासी डोलत-डोलत पाइ नहीं डगरी॥
मारग पाय कुमारग धायो सुरपुर हांसि करी॥३॥
जीवत प्रेत अंत नरकमें यमकी मार परी॥
रसिकदासजनको डर केसो गावत खरी-खरी॥४॥

करी तें मनसा देहकी घात॥
सांचे पथपे कबहु न आयो विषय वसत दिन रात॥१॥
मलिन गलिनमें सूकर-कूकरकी कहियत कहा कछु बात॥
रूखी भूमि बरखा नहि आवत ज्यां तरुवरके पात॥२॥
जो-जो कर्म किये लोकन हित ते सब भए विख्यात॥
अब यम-दूतन घेरि लियो है एक न पूछी बात॥३॥
अबहु वेगि यत्न करि थाक्यो फिरि पाछें पछिताता॥

रसिकदासजन सबविधि पूरे श्रीवल्लभ सुखदात॥४॥

चित्त श्रीवल्लभ चरनन धारो॥
सबही काज सरेंगे ततक्षण मनमें धीरज धारो॥१॥
सब संताप जाय ताही क्षण पाप रहे नहि भारो॥
रसिकदास जन टेरी कहत हे श्रीवल्लभ नाम पुकारो॥२॥

गायो न गोपाल चित्त लाइकें निवार लाज पायो न प्रसाद साधु मंडलीमें जाईकें॥
धायो न धमक बृन्दाविपुनकी कुंजनमें रह्यो न शरण श्रीविट्ठलेशरायकें॥१॥
श्रीनाथजी न देख्यो छक्यो ना छबीली छबि सिंघपोरि पर्यो नाहि शीश हु नवायके॥
रसिक कहें वारं-वार लाज हु न आवे तोहि कमायो कहा मूरख मानुष जन्म पायके॥२॥

मोहि बल हे दोउ ओरको॥
एक बल मोहि हरि-भक्तन्को दुजो नंदकिशोरको॥१॥
मनकर्मवचनकी एजु कहत हों नाहिं आसरो ओरको॥
रसिकमन अभिलाख यही हे श्रीवल्लभ सिर-मोरको॥२॥

अरे मन श्रीवल्लभ-विट्ठल गाय॥
सबही काज करेंगे ततक्षण स्थिर ब्रजबास बसाय॥१॥
उधरे भाग्य घोर कलिजनके आनंदरूप दिखाय॥
रसिकदासके संग मिलि सब संदेह मिटाय॥



।। स्वतन्त्रलेखाः ।।

।। प्रतिष्ठानिर्णयः ।।

श्रीमदिष्टदेवः सत्यः

अथ प्रतिमादौ प्रतिष्ठा जन्या. न यजमानादृष्टं पूज्यत्वे प्रयोजकं, भोगादिना तन्नाशेऽपि पूज्यत्वात्, तत्सत्त्वेऽपि चाण्डालादिस्पर्शेन अपूज्यत्वाद्, अन्यधर्मं प्रति अन्यधर्मस्य अनुपयोगात्. नच प्रतिष्ठाध्वंसः तथा. ततएव उपजीव्य-प्रतिष्ठाप्रयोजकत्व-भङ्गापत्तेश्च. तस्मात् प्रतिष्ठा जन्या अस्पृश्यस्पर्शादिना नाश्या प्रतिमानिष्ठा शक्तिः अभ्युपेयते चेद्, न, प्रतिष्ठाविधिना प्रतिमादौ देवतासन्निधिः अहंकार-ममकाररूपः क्रियते, स्वसादृश्यदर्शित-चित्रादाविव. ज्ञानस्य नाशेऽपि संस्कारस्य सत्त्वात्. अस्पृश्यस्पर्शादिना च तन्नाशः. अचेतनदेवतापक्षे च यथार्थप्रतिष्ठित-प्रत्यभिज्ञानस्य अस्पृश्यस्पर्शादि-विरहसहकृतस्य तथात्वम्. ''प्रतिष्ठितं पूजयेद्'' इति विधिबलात् प्रतिसन्धानस्य आवश्यकत्वाद् इति प्राञ्चः.

नव्यास्तु प्रतिष्ठाविधिनैव तव आधेयशक्तिवद् अपूर्वान्तरं जन्यते. तद् अदृष्टवद् आत्मसंयोगाश्रयस्य पूज्यत्वम्. अस्पृश्यस्पर्शेन तन्नाशे च अपूज्यत्वम् इति आहुः.

वयन्तु ब्रूमः. ''प्रतिष्ठितं पूजयेद्'' इति विधिवाक्येन प्रतिष्ठायाः कारणत्वं न बोध्यते किन्तु भूतार्थे 'क्ता'नुशासनाद् अतीतप्रतिष्ठे पूज्यत्वं बोध्यते.तथाचप्रतिष्ठाध्वंसःप्रतिष्ठाकालीन-यावदस्पृश्यस्पर्शादिप्रतियोगिका-ऽनादिसंसर्गाभावसहितः पूज्यत्वप्रयोजकः. सच प्रागभावात्यन्ताभावश्च क्वचित् कामिनीचरणाभिघात-दोहदादिभिः अशोकपुष्पोत्कर्षदर्शनादपि न आधेयशक्तिः, समयवविशेषावच्छिन्न-चरणदोहदादिसंयोगध्वंसस्यैव कार-

णत्वात्. चरणाभिघाताद्याकृष्टभागान्तरजनित-वृक्षादेव वा तदुत्पत्तिः. कालान्तरे पुष्पाद्युत्कर्षाद् वृक्षावयवोपचयौ अवश्यंभावेन वृक्षभेदावश्यकत्वात्.

नापि ताम्र-कांस्यादौ अम्लभस्मसंयोगादिजन्य-शुद्धिरूपा आधेयशक्तिः, तत्संयोगध्वंसस्य संयोगसमानकालीनाऽस्पृश्यस्पर्शेन आदिप्रतियोगिकयावदनादिसंसर्गाभावसहितस्य शुद्धिपदार्थत्वात्. भस्मादिसंयोगजनित-कांस्याद्युपभोगकर्तृनिष्ठ-संस्कारएव शुद्धिः इति अन्ये. अभिमन्त्रितपयःपल्लवादावपि समयविशेषावच्छिन्नाभिमन्त्रणध्वंसएव व्यथापनायकः, तन्मन्त्रदेवतासन्निधिरेव वा.

लिखितं बालकृष्णेन. (अप्रकाशितः)



उद्धरणतालिका

अंग-बंग-कलिंगेषु		४८
अंशो नाना व्यपदेशाद्	ब्र.सू.२।३।४३	५५
अंसे सुनाभायुधम् आपतन्तम्	भाग.पुरा.३।२।२४	२८४
अकामः सर्वकामो वा	भाग.पुरा.२।३।१०	४४
अक्षरादपि च उत्तमः	भग.गीता.१५।१८	१८१
अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्	त.दी.नि.२।१८२	१९६
अग्नि/ज्योतिष्टोमेन		८९
अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः	मैत्राय.उप.६।३६	८९
अङ्कितः शङ्खचक्राभ्याम्		२२८
अतो मद्वयुनं लोकम्	भाग.पुरा.३।४।३१	३२३
अथ ऊषसि उपवृत्तायाम्	भाग.पुरा.१०।७०।१	११२
अथ ते तदनुज्ञाता	भाग.पुरा.३।४।१	२८३, २९१
अथ ते भगवल्लीला	भाग.पुरा.३।५।२२	२९६, २९९
अथ यो अन्यां देवताम्	बृह.उप.१।४।१०	२५१, २५२
अथ शब्दानुशासनम्	पातं.महाभा.१।१।१	२०४
अद्यापि कीर्तयामि अङ्ग	भाग.पुरा.३।६।३६	३१२ , ३१३
अद्वैतश्रुतयस्तु जाति-देश-कालाभेदेन	ब्र.सू.शां.भा.भा.२।३।४३	५५
अधर्मं धर्मम् इति या	भग.गीता.१८।३२	१९८
अधिष्ठानं तथा कर्ता	भग.गीता.१८।३४	१९९
अधीतवान् द्वापरादौ	भाग.पुरा.२।१।८	३१३
अधुना ह्यधिकारास्तु सर्वएव	त.दी.नि.१।१९	४५
अनन्तः च अस्मि नागानाम्	भग.गीता.१०।२९	९५
अनन्यचेताः सततं यो	भग.गीता.८।१४	२६
अनादिनिधना नित्या	महाभा.१२।२३२।२५	२००
अनृतापिधानाः	छान्दो.उप.८।३।१	१२८
अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि	त.दी.नि.प्र.२।२३२	५९
अन्नमयं हि सौम्य!	छान्दो.उप.६।६।५	१९७
अन्ने प्रलीयते मर्त्यः	भाग.पुरा.११।२४।२२	१३९, १४०
अन्येषां/इतरेषां च अनुपलब्धेः	ब्र.सू.२।१।२	१३८

अपश्यताम् आत्मतत्त्वम्	भाग.पुरा.२।१।२	२५३
अपि चेत् सुदुराचारः	भग.गीता.९।३०	३१, ४२
अपि दीपावलोकं मे	भाग.पुरा.११।११।४०	३३
अपि वा कर्तृसामान्यात्	जै.पू.मी.सू.१।३।२	१५६
अपिवा तम् आदेशम्	छान्दो.उप.६।१।२-३	१२२
अभेदश्च अस्मदादीनाम्	द्रष्ट.महाभा.ता.नि.१।५५	१८०
अम्बरीष नवं वस्त्रं फलम्	पद्मपुरा.	३१
अम्बरीषशुकप्रोक्तं नित्यं	द्रष्ट.पद्मपुरा.६।१९५।३६	२३५
अरुणोदयकाले च दशमी यदि	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४०
अरुणोदयकालेतु दशमी यदि	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
अरुणोदयवेलायां दशमी	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
अरुणोदयवेलायां विद्धा	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४०
अरुणोदयात् पूर्वम् अर्धरात्रात्	कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४१
अर्धरात्रात् परा यत्र एकादशी	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४१
अवजानन्ति मां मूढाः	भग.गीता.९।११	९८
अवश्या यजन्याः पृष्वा	तैत्ति.संहि.साय.भा.७।४।१३	९२
अवैष्णवानाम् यच्च अन्नं	पद्मपुरा.६।२५३।११२-११३	२२३
अव्याहतानि कृष्णस्य	पद्मपुरा.६।७८।१३	६९
अशरीरं शरीरेषु	कठोप.१।२।२२	६४
अशेषसंक्लेशशमम्	भाग.पुरा.३।७।१४	३३४
अश्रद्दधानः पापात्मा	द्रष्ट.ब्रह्मा.पुरा.२।१३।१३५	५०
अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य	पाणि.सू.६।३।९९	३५
अष्टवर्षाधिको मर्त्यो हि	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३७

अष्टादशपुराणानाम्	महाभा.१८।५।४७	३१५, ३१६
अष्टादशपुराणानि कृत्वा	स्कन्दपुरा.७।१।२।९४	३१६
अष्टोत्तरशतं कुर्यात् चतुःपञ्चाशदेव	हेमाद्रि/विष्णुरहस्य	३५०
असत्यम् अप्रतिष्ठं ते	भग.गीता.१६।८	१२८, १३२
असद् वा इदम् अग्रे	तैत्ति.उप.२।७	१७९, ३२७
अस्तौद् विसर्गाभिमुख: तमीड्यम्	भाग.पुरा.३।८।३३	२६४
अस्थूलादिवाक्यैः	बृह.उप.३।८।८	१३६
अहं भक्तपराधीनः	भाग.पुरा.९।४।६३	१८
अहं मनु: अभवं सूर्य: च	ऋक्.संहि.४।२६।१	२४८
अहं सर्वस्य (कृत्स्नस्य) जगत:	भग.गीता.७।६	१२९, १३६
अहं सर्वस्य प्रभवो	भग.गीता१०।८	५६, ६९
अहंकारविमूढात्मा कर्ता	भग.गीता.३।२७	१३६
अहमेव आसम्	भाग.पुरा.२।९।३२	२१३
अहरहः सक्ध्याम् उपासीत		२२८
अहो अमीषां किम् अकारि	भाग.पुरा.५।१९।२१	४८
अह्नां विधान्याम् एकाष्टकायाम्	बोधा.श्रौ.सू.१४।१३	११६
आक्रेः तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिष्	पाणि.सू.३।२।१३४	७०
आततायिनम् आयान्तम्	वसि.स्मृ.३।१८	२३८
आत्मलाभाद् न परं विद्यते	आप.धर्मसू.१।८।२२।२	२५१
आत्मा वा इदम्	ऐत.उप.१।१	१३५
आत्मारामाः च मुनयो	भाग.पुरा.१।७।१०	४५
आत्मेच्छानुगतौ आत्मा	भाग.पुरा.३।५।२३	३२९
आत्मैव तद् इदम्	भाग.पुरा.११।२८।६	२१२
आदित्योदयवेलायाः आरभ्य	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४०
आद्यस्तु तत्साधने	भ.हं.	९३

आध्यात्मिकं देवतारूपम्	सुब्रो.१०।५५।२२	४९
आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्	तैत्ति.उप.२।४	५३
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	तैत्ति.उप.२।९	६५
आनन्दमयो अभ्यासाद्	ब्र.सू.१।१।११	६५
आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि	तैत्ति.उप.३।६	३५, ६४, १२९
आनन्दो अन्तःकरण	प्रेमा.टी.३	३५
आब्रह्मभुवनाद् लोकाः	भग.गीता.८।१६	६१, २३६
आभाकासितपक्षेषु		३४७
आलोड्य सर्वशास्त्राणि	लिंगपुरा.२।७।११-१२	४७
आविर्भावदिने न येन	महासुभा.संग्रह ५३८९-१	९४
आवृत्तिः असकृदुपदेशाद्	ब्र.सू.४।१।१	१२२
आशृण्वतो माम्	भाग.पुरा.३।४।१०	३२१
आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया	स्कन्दपुरा.२।२।२९।३३	३४९
आह च तन्मात्रम्	ब्र.सू.३।२।१६	६५
इति उद्धवाद् उपाकर्ण्य	भाग.पुरा.३।४।२३	२९१
इति ते ज्ञानम् आख्यातम्	भग.गीता.१८।६३	२५०
इति ते वर्णितः क्षत्तः	भाग.पुरा.३।१२।१	२६४
इति सह विदुरेण	भाग.पुरा.३।४।२७	२९०, २९१
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप: ईयते	बृह.उप.२।५।१९	१२८
इषेत्वा	तैत्ति.संहि.१।१।१	२०५
ईक्षतेः न अशब्दम्	ब्र.सू.१।१।४	१३४, १३५
ईशवाक्यं तु तस्यापि दुर्बोधं	त.दी.नि.२।६०	३१४
उदयात् प्राक् चतस्रस्तु	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
उदयात् प्राक् त्रिघटिकाव्यापिनी	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
उदयाद् उदयात् प्रोक्ता		२३२
उद्धृता असि वराहेण	स्कन्दपुरा.७।४।६।१०	९६
उपवासद्वयं कर्तुं न	भवि.पुरा.	३४७

उपवासे निषिद्धेतु भक्ष्यं	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४२
उपवासो यदा नित्यः	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
उपावृतस्य पापेभ्यो यस्तु	द्रष्ट.अग्निपुरा.१७५।५-६/भवि.पुरा.१।१०३।२०,१।६४।४	३३७
उपोष्य द्वादशीं पुण्यां	नार.पुरा.	३४७
उपोष्या एकादशी नित्यं	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव	सिद्धा.मुक्ता.१९	१७
ऊर्ध्वं हि तिलकं शस्तं	पद्मपुरा.	२३१
ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु सर्वेषां न	पद्मपुरा.६।२२५।१७	२३०
ऊर्ध्वपुण्ड्रम् ऋजुं सौम्यं	पद्मपुरा.६।२२५।२३	२३०
ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य मध्येतु	पद्मपुरा. ६।२२५।२-३	२३०
ऊर्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः	स्कन्दपुरा.	२३१
ऋक्षान्ते पारणं कुर्यात्		३४६
ऋचां मूर्धानं यजुषाम्	सांख्याय.आर.१४।१	१५५
ऋषिम् आद्यं न बध्नाति	भाग.पुरा.३।९।३५	२७२
एकं ब्रह्मास्त्रम् आदाय न	खंड.खं.खा.१।२	२३६
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्	त.दी.नि.१।४	२१३
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा	भग.गीता.९।१५	२५१, २५२
एकधा दशधा चैव	ब्र.बि.उप.१२,त्रिपु.उप.५।१२	१२०
एकमेव अद्वयं ब्रह्म	अध्यात्मोप.६३	१९५
एका मूर्तिः यावता	त.दी.नि.प्र १।२४	१६०
एकादशी कलां प्राप्ता	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४२
एकादशी द्वादशी च	विष्णुध.उत्त.पुरा.	३४४
एकादशी भवेत् पूर्णा परतो	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४२

एकादशी यदा पूर्णा	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४१
एकादशी यदा लुप्ता	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४२
एकादशी सदा उपोष्या	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
एकादशीम् उपवसेद् न	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
एकादशीम् उपोष्यैव		३४५, ३४७
एकादश्यां न भुञ्जीत	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
एकादश्योः द्वयोः यस्तु		३३८
एतत्सर्वं निबन्धविरोधात्	निर्णयसिन्धुः	५४
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति	त.दी.नि.३।१।१०	३१९
एतन्नानावताराणाम्	भाग.पुरा.१।३।५	३०७
एताः परम्	भाग.पुरा.१०।४४।५८	१०
एतान्यपि तु कर्माणि	भग.गीता.१८।६	१५२
एते च अंशकलाः	भाग.पुरा.१।३।२८	६२
एतेन योगः प्रत्युक्तः	ब्र.सू.२।१।३	१३८
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः	भग.गीता.९।२१	१५१
एवं धर्मैः मनुष्याणाम्	भाग.पुरा.११।१९।२४	१००
एवं नृणां क्रियायोगाः	भाग.पुरा.१।५।३४	४१
एवं विमृश्य सुधियो	भाग.पुरा.६।३।२६-२७	४२
एवं वृन्दावनं	भाग.पुरा.१०।१२।९	६६
एवञ्च बहुलग्रहणं योगविभागेन	पाणि.सू.सि.कौ.३।१।१३	३८
एवम् एतत् पुरा पृष्टः	भाग.पुरा.३।१।१	३१३, ३१९
एष उ एव तं साधु कर्म कारयति	कौषी.उप.३।८	५३, २५७
एषः सम्प्रसादः अस्मात्	छान्दो.उप.८।३।४	५५
एषो ह्येव आनन्दयाति	तैत्ति.उप.२।७	६६

ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्	छान्दो.उप.६।८।७	५३, १२२, १९५, २१३, २४८
कः तृप्नुयात्	भाग.पुरा.३।५।११	३०१
कच्चित् कुरूणां परम	भाग.पुरा.३।१।२७	२८२
कच्चित् पुराणौ पुरुषौ	भाग.पुरा.३।१।२६	२८२, २८७
कतमः/कथन्नु भगवः स आदेशः	छान्दो.उप.६।१।३	१३२
कथम् असतः सद् जायेत	छान्दो.उप.६।२।२	१३४, ३२७
कदाचित् सर्वम् आत्मैव	त.दी.नि.१।३७	३२७
कमलनयन वासुदेव विष्णो	विष्णुपुरा.३।७।३३	२१८
करोति कर्माणि	भाग.पुरा.३।५।५	२९७
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्	भग.गीता.४।१७	१६१
कलाकाष्ठादिगत्यैव दृश्यते	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
कलार्धेनापि विद्धा स्याद्	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३९
कलिं सभाजयन्ति आर्याः	भाग.पुरा.११।५।३६	४०
कलेः दोषनिधेः राजन्	भाग.पुरा.१२।३।५१	४०
कस्मै येन पुरा	भाग.पुरा.१२।१३।१९	३१९,३२०
कामकामाः गतागतं लभन्ते	भग.गीता.९।२१	१५१
कामाच्च न अनुमानापेक्षा	ब्र.सू.१।१।१७	१३४
कामात्मानः स्वर्गपराः	भग.गीता.२।४३	१५१
कायवाग्विनियोगाभावेऽपि	त.दी.नि.प्र.२।२१८	४७
कालं कर्म स्वभावं च	भाग.पुरा.२।५।२१	१८३
कालसञ्ज्ञां तदा देवीम्	भाग.पुरा.३।६।२	२५६
कालिन्दीति समाख्याता	भाग.पुरा.१०।५५।२२	४९
किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः	भग.गीता.९।३३	२२७
किञ्चित् चकार वदनं	भाग.पुरा.३।३३।२०	२७३
किम् अलभ्यं भगवति	भाग.पुरा.१०।३६।२	४४, ७७
किम् आसनं ते गरुडासनाय	गरु.पुरा.३।७।३६	३७, ११०

किरातहूणान्ध्र	भाग.पुरा.२।४।१८	३१,९२ ,९९
कुगतिप्रादयः	पाणि.सू.२।२।१८	८२
कुशलं शूरगेहे	भाग.पुरा.३।१।२६	२८७
कूप्याभ्यः स्वाहा	तैत्ति.संहि.७।४।१२	८३
कृत्यल्युटो बहुलम्	पाणि.सू.३।३।११३	३८
कृत्याश्च	पाणि.सू.३।३।१७१	२
कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्	द्र.पाणि.सू.भा.३।१।६७	१४९
कृषिः 'भू'वाचकः	गो.पू.ता.उप.१	६, ३८, १८१
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति	पाण्डवगीता३६	४६
कृष्णद्युमणिनिम्लोचे	भाग.पुरा.३।२।७	२८३
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्	भाग.पुरा.१।३।२८	६, १८१
कृष्णेति मंगलं नाम	ब्रह्मवै.पुरा.४।१११।३८-३९	४६
केवलं च प्रकर्तव्यं मद्दिनं	नृसिंहपुरा.	२३२, ३५१
केवलानुभवानन्दस्वरूपः	भाग.पुरा.१०।३।१३	६५
केवलेन हि भावेन	भाग.पुरा.११।१२।८	१६, ८२, २८५
को नु, राजन्!	भाग.पुरा.११।२।२	५६
कौन्तेय प्रतिजानीहि न	भग.गीता.९।३१	१८
क्रियाविहीनं यदि	द्रष्ट. स्कन्दपुरा.२।५।३।६-१०	२२८
क्रीडन् विधत्ते	भाग.पुरा.३।५।७	२९७
क्रीडाभाण्डम् इदं विश्वम्	ब्रह्मवै.पुरा.२।१८।७२	२४
क्षेत्रं पत्नी-शरीरयोः	अम.को.३।३।१८०	८५
गदायुद्धे तुल्यवयोबलौ	महाभा.	२८०
गुणातीतात् सृष्टिः	त.दी.नि.३।३।६	२७४
गुणान् (एतान्) अतीत्य	भग.गीता.१४।२०	६४
गुणेभ्यो न अन्यं कर्तारम्	भग.गीता.श्रीधरी१४।१९	६४
गृहस्थ एतां पदवीम्	भाग.पुरा.७।१४।१	२५७
गृहेषु आविशतां वापि/चापि	भाग.पुरा.४।३०।१९	४१
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो	द्रष्ट. गोपीचन्दनोप.२-१३	२२९
गोपीभिः स्तोभितो अनृत्यद्	भाग.पुरा.१०।११।७	२२

गोमतीतीरसम्भूतां		२२८
चतुर्विधा: भजन्ते मां	भग.गीता७।१६	४४
चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्	त.दी.नि.प्र.१।७	११३
चन्द्रमा मनसो जात:	ऋक्.संहि.१०।९०।१३	१८८
चरमः सद्विशेषाणाम्	भाग.पुरा.३।११।१	२६४
चित्-सम्वित्-प्रतिपज्-ज्ञप्ति-चेतनाः	अम.को.१।५।१	१९१
चेतः तत्प्रवणं सेवा	सिद्धा.मुक्ता.२	१०३
चैद्ये च सात्त्वतपते: चरणं प्रविष्टे	भाग.परा.१०।७५।८	१८०
जन्मान्तरसहस्रेषु	भृगु.संहि.३०।१२८	९४
जयति जननिवासः	भाग.पुरा.१०।८७।४८	२०, २८०
जाह्नवीतीरसम्भूतां	नारदपुरा.२।४३।१२६	२२८
ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो	भाग.पुरा.३।३२।३२	१६४
ज्ञानिनामपि चेतांसि	मार्क.पुरा.८१।४२	२४७
ज्ञानी तु आत्मैव मे मतः	भग.गीता.७।१८	२४९, २५०
ज्ञाने प्रयासम् उदपास्य	भाग.पुरा.१०।१४=प्र ३ ।३	४४
ज्येष्ठ्यां ज्येष्ठर्क्षयुक्तायां	ब्रह्मपुरा.६०।२२	३४९
ज्योतींषि विष्णुः भुवनानि	विष्णुपुरा.२।१२।३८	२१३
तं तु औपनिषदम्	बृह.उप.३।९।२६	१५९, ३२५
तं भजन् निर्गुणो भवेद्	भाग.पुरा.१०।८८।५	१४१
तं यथा यथा उपासते	मुद्.उप.३	७, ९७, २९६
तज्जन्म तानि कर्माणि तद्	भाग.पुरा.४।३१।९	७६
ततः पतिः च पत्नी	बृह.उप.१।४।३	३२७
ततस्तु भगवान् कृष्णो	भाग.पुरा.१०।८।२७	७१
ततो यान्ति अधमां गतिम्	भग.गीता.१६।२०	२२
तत् त्वम् असि	छान्दो.उप.६।८।७	१२२, २४६
तत् सत्यम्	छान्दो.उप.६।८।७	१, २२, १२३
तत् साधुवर्य आदिश वर्त्म शं नः	भाग.पुरा.३।५।४	२९७
तत्त्वम् अतः परस्य	भाग.पुरा.३।८।३	३, १५, ३१८

तत्र उत्तमं पवित्रन्तु षष्ठ्या	रामार्चनचन्द्रिका	३५०
तत्र शुक्ला परायुता	प्रतापमार्तण्ड	३५१
तत्संस्थस्य अमृतत्वोपपदेशाद्	शां.भ.सू.१।१।३	२०
तत्साधुवर्य आदिश वर्त्म	भाग.पुरा.३।५।४	३०३
तथा न ते माधव तावकाः	भाग.पुरा.१०।२।३३	७१
तथा लोकाः अकल्पयन्	ऋक्.संहि.१०।९०।१४	२५५
तथा वामनजयक्त्युत्सवकरणे	त.दी.नि.प्र.२।२४५	३४७
तदनन्यत्वम्	ब्र.सू.२।१।१४	१३२
तदन्ते प्रलयः तावान्	भाग.पुरा.१२।४।३-४	१३९
तद् अस्य कौषारव	भाग.पुरा.३।५।१५	२९५
तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म	भाग.पुरा.३।११।४१	१७९, २६५
तद् एजति तन्न एजेति	ईश.उप.५	४
तद् ऐक्षत बहु स्यां	छान्दो.उप.६।२।३	१३५
तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो	भाग.पुरा.१०।२९।१३	७१
तद्विप्रास	ऋक्.संहि.१।२२।२१	१२
तद्विष्णोः	ऋक्.संहि.१।२२।२०	१२
तन्निमित्तोपवासस्य निषेधो	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३७
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्	ब्र.सू.१।१।६	१९
तपस्ये मासि राकायां यदा	ब्रह्मवै.पुरा.	३४८
तपस्विभ्योऽधिको योगी	भग.गीता.६।४६	२४९
तमः आसीत् तमसा गूढम्	ऋक्.संहि.१०।१२९।३	१७९
तमु स्तोतारः पूर्व्यम्	ऋक्.संहि.१।१५६।३	११, ९८
तमेव विदित्वा	श्वेता.उप.३।८,६।१५	१६३, २५०, २५१
तम् एवं विद्वान्	तैत्ति.आर.३।१२।७	९०, १६४
तम् एवं विद्वान् अमृत इह	ऋक्.संहि.१०।९०।८	२५६
तरति शोकम् आत्मविद्	छान्दो.उप.७।१।३	२५१
तर्ह्येव तन्नाभिसरः	भाग.पुरा.३।८।३२	२६४
तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः	तैत्ति.आर.२।१५	५९

तस्माद् आहिताग्निः	तैत्ति.ब्राह्म.१।१।४।२	१५७
तस्माद् भारत	भाग.पुरा.२।१।५	२५३, ३०६
ताः न अविदन् मयि	भाग.पुरा.११।१२।१२	१
ताः मन्मनस्काः मत्प्राणाः	भाग.पुरा.१०।४३।४	१८
तान् अहं द्विषतः क्रूरान्	भग.गीता.१६।१९	२२
तान् शोच्यशोच्यान्	भाग.पुरा.३।५।१४	३०१
तावत् कर्माणि	भाग.पुरा.११।२०।९	२२८
तावत् प्रसन्नो भगवान्	भाग.पुरा.३।२१।८	२७३
तावदेव न भोक्तव्यं	द्रष्ट.निर्णयामृतद्वादशीनिर्णय	३४४
तावद् रागादयः स्तेनाः	भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।३६	४१
तिथिनक्षत्रयोः योगे योगः	नार.पुरा.	३४५
तिथिनक्षत्रसंयोगे उपवासो	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४जयन्तिनिर्णय	३४४
तिथ्यन्ते च उत्सवान्ते	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४७
तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेषु	या.वै.को.६।३।१३	४९
तीर्थादावपि या मुक्तिः	त.दी.नि.१।४७	५०
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं	भाग.पुरा.१।१८।१३, ४।३०।३४	९२
तुलसीकाष्ठघटितैः मणिभिः	द्रष्ट. तन्त्रसंग्रह ४।१०।१०-११	२२९
तृतीया एकादशी षष्ठी	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ चतुर्दशीनिर्णय	३५१
तृतीयैकादशी षष्ठी पौर्णमासी	नार.पुरा.	२३२
तृप्तएव एनम् इन्द्रः	बोधा.श्रौ.सू.१७।४८	५४
ते तृप्ताः तर्पयन्ति	याज्ञ.स्मृ.१।४७	५३
ते न अधीतश्रुतिगणाः	भाग.पुरा.११।१२।७	१६
ते प्राप्नुवन्ति मामेव	भग.गीता.१२।४	१८०
ते मे न दण्डम् अर्हन्ति	भाग.पुरा.६।३।२६	२१८
ते मे युक्ततमाः मताः	भग.गीता.१२।२	१८

ते/या ते धामानि उश्मसि	शुक्लयजु.६।३	२०
तेजीयसां न दोषाय	भाग.पुरा.१०।३०।३०	२८५
तेभ्यो विराजम् उद्धृत्य	भाग.पुरा.३।७।२१	२६४
तेषां नित्याभियुक्तानां	भग.गीता.९।२२	७७
तौ इमौ वै भगवतो	भाग.पुरा.४।१।५९	६२
त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः	महाना.उप.१०।५	२५७, ३०२
त्रयोविंशति वैष्णवम्		३१४
त्रय्या च उपनिषद्भिः	भाग.पुरा.१०।८।४५	६५
त्रिषष्टिः चतुःषष्टिः वा	पाणि.शिक्षा३	१९९
त्रैगुण्यविषया: वेदाः	भग.गीता.२।४५	१५१, १५२
त्वञ्च रुद्र महाबाहो	वारा.पुरा.७०।३६	११४
त्वञ्च रुद्र महाबाहो	पद्मपुरा.६।७१।१०८	५७
त्वञ्च रुद्र..एषा उत्तरोत्तरा	महाभा.ता.नि.१।४९-५८	११४
त्वत्पादुके (हि) अविरतं	भाग.पुरा.१०।७२।४	८६
त्वया उपभुक्त	भाग.पुरा.११।६।४६	३३
त्वयि अम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि	भाग.पुरा.१०।२।३०	२
त्वयि उद्धव आश्रयति	भाग.पुरा.११।१९।७	१३१
त्वाम् आराध्य यथा/तथा	पद्मपुरा. ६।७१।१०६	५७, ११४
दक्षिणाभिमुखं देवं दोलारूढं	गरु.पुरा.	३४८
दण्डाकारं ललाटे स्यात्		२२७
दर्शयन् तद्विदां लोके	भाग.पुरा.१०।११।९	७०
दश वै पशोः प्राणाः	तैत्ति.संहि.६।३।७।५	७२
दशमीशेषसंयुक्तां यः करोति	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४०
दशमीशेषसंयुक्ताम् उपोष्या	विष्णुरहस्य	३४०
दशमीशेषसंयुक्तो यदि		३३९
दारान् सुतान्	भाग.पुरा.११।३।२८	३३
दुर्लभे सद्गुरूणान्तु स्यात्	राघवभट्टकृत तत्त्वसागर	९८
दूताः शृणुत/शृण्वन्तु	द्रष्ट. स्कन्दपुरा.४।१।७।१०८	२२९

देवता वा प्रयोजयेद् अतिथिवद्	जै.पू.मी.सू.९।१।६	५३
देवर्षिः मे प्रियतमो	भाग.पुरा.१०।१०।२५	७३
देवर्षिभूतात्मनृणां/ऽनृणां	भाग.पुरा.११।५।४१	२२८
देवाः त्रिः एकादशाः त्रिः	द्रष्ट.शु.य.सं.२०।११	२५५
देवाः यज्ञम् अतन्वत	ऋक्.संहि.१०।९०।६	२५५
देवाः वै सत्रम् आसते	तैत्ति.संहि.२।३।३।१	५३
देवान् देवयजो यान्ति	भग.गीता.७।२३	९२
देवो असुरो मनुष्यो वा	भाग.पुरा.७।७।५०	५६
देहं मनोमात्रम् इमम् गृहीत्वा	भाग.पुरा.११।२३।५०	१४१
देहाद्याकारः समुद्भवः	भग.गीता.श्रीधरी१४।२०	६४
द्वादशी न प्रभोक्तव्या	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
द्वादशी श्रवणर्क्षं चेत्	मत्स्यपुरा.	३४४
द्वादशी श्रवणस्पृष्टा	हेमाद्रि	३४४
द्वादशी श्रवणोपेता कृत्स्ना	मत्स्यपुरा.	३४५
द्वादश्यां शुक्लपक्षेतु नभस्ये	मत्स्यपुरा.	३४३, ३४७
द्वादश्याः ते विधिः	भवि.पुरा.४।७६।१	३४६
द्वादश्याः प्रथमः पादो		३४२
द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया	पद्मपुरा.६।७१।१०६	३९
द्वारवत्यां शुभे रम्ये	पद्मपुरा.६।२२५।३१	२२८, २३०
द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया	त.दी.नि.प्र.३।५।९१	४९
द्विपरार्धे तु अतिक्रान्ते	भाग.पुरा.१२।४।५-६	१४०
द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन्	भग.गीता.१६।६	१७
द्व्यचश्छन्दसि	पाणि.सू.४।३।१५०	२०४
धनं सर्वात्मना त्याज्यं	पञ्चश्लो.१-२	३१
धन्वन्निव प्रपा असि	ऋक्.संहि.१०।४।१	१५३, १५७
धर्मः प्रोज्झित	भाग.पुरा.१।१।२	२२६
धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या	भाग.पुरा.११।१४।२२	४३, ९०
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां	भाग.पुरा.१।२।८	४३, ९०
धर्मेण पापम् अपनुदति	महाना.उप.२२	५८

धारयन्ति न ये मालां	पद्मपुरा.४।२२।१४	२२७
न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं	भग.गीता.१४।१९	६४
न अप्सु मूत्र-पुरीषं कुर्यात्	तैत्ति.आर.१।२६।१३	१५७
न अलं द्विजत्वम्	भाग.पुरा.७।७।५१	१८
न असोमयाजी सन्नयेद्	तैत्ति.संहि.२।५।५।१	२५२
न अहं वेदैः	भग.गीता११।५३	१९
न आवेदयत् सकरुणः	भाग.पुरा.१।१३।१३	३२४
न इतरो, अनुपपत्तेः	ब्र.सू.१।१।१५	१३५, १३६
न उद्धवो अण्वपि मद्न्यूनम्	भाग.पुरा.३।४।३१	३२२
न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति	भाग.पुरा.३।२५।३४	४५, १७६
न एषां वयं नच वयः	भाग.पुरा.६।३।२७	८
न करोति हि यो मूढः	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३६
न कर्हिचित् मत्पराः	भाग.पुरा.३।२५।३८	८
न तथा अस्य भवेत् मोहो	भाग.पुरा.३।३१।३५	८६
न तथा मे प्रियतमः	भाग.पुरा.११।१४।१५	२४९
न तथाहि अघवान्	भाग.पुरा.६।१।१६	३१, ९२
न प्रमाणम् अनाप्तोक्तिः	न्यायकुसु.३।१६	१३६
न मे भक्तः प्रणश्यति	भग.गीता. ९।३१	७७, ८०, २८४
न वै जनो जातु	भाग.पुरा.१।५।१९	२८
न शूद्राय मतिं दद्याद्	मनुस्मृ.४।८०	१६५
न स पुनरावर्तते	छान्दो.उप.८।१५	२६८
न सत्यं तेषु विद्यते	भग.गीता.१६।७	१३२
नच अन्तो न बहिः यस्य	भाग.पुरा.१०।९।१३	६५
नच द्वित्वमपि	न्या.सि.मु.	५६
नच यत्पराः तद् औपचारिकं	ब्र.सू.शां.भा.भा.२।३।४३	५५
नमस्पुरसोर्गत्योः	पाणि.सू.८।३।४०	८२
नरो दोलागतं दृष्ट्वा	ब्रह्मपुरा.६०।१८	३४८
नवै जनो जातु कथञ्चन	भाग.पुरा.१।५।१९	४७

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि	भाग.पुरा.११।७।७	२६९
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने	भाग.पुरा.१०।३।२५	६६
नहि खलु कलुषच्छविः	नृसिंहपुरा.९।५	३१
नाऽसोमयाजी सन्नयेद्	तैत्ति.संहि.२।५।५।१	२५१
नारायणायुधैः नित्यं	स्कन्दपुरा.२।५।३।३०,२६	२२८
नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे	भग.गीता.१०।१९	२६४
निघ्नतां ... मिथः	भाग.पुरा.१।१५।२२	२८३
नित्यं भक्तिसमायुक्तैः	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३८
नित्यं भागवतं यस्तु	स्कन्दपुरा.२।५।१६।३१-५०	२३५
नित्यदा सर्वभूतानां	भाग.पुरा.१२।४।३५-३६	१३९
नित्योपवासी यो मर्त्यः	कात्या.स्मृ.	३३८
निधनम् उपगतेषु	भाग.पुरा.३।४।२८	२९१
निरञ्जनः परमं साम्यम्	मुण्ड.उप.३।१।३	५६
निरन्तरालं यः कुर्याद्	पद्मपुरा.६।२२५।२५	२३१
निर्गुणा मुक्तिः अस्माद्	त.दी.नि.१।१४	६१
निर्दोषं हि समं ब्रह्म	भग.गीता.५।१९	३४
निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः आत्मतन्त्रो	त.दी.नि.१।४४	६५
निवेद्य केशवे/विष्णवे मालां	द्रष्ट. स्कन्दपुरा.७।४।२३।१७९	२२९
नृदेहम् आद्यम्	भाग.पुरा.११।२०।१७	३०४
नैकः प्रपद्येत अध्वानम्	मनुस्मृ.४।७	२३४
नैव अन्यतः परिभवो अस्य	भाग.पुरा.११।१।४	२८४
नैव ईशितुं प्रभुः भूम्नः	भाग.पुरा.३।११।३८	२६५
नैष्कर्म्यमपि अच्युतभाववर्जितम्	भाग.पुरा.१।५।१२	४३, ८२, २२१
पञ्चचत्वारिंशत्स्पर्शः संगः		३४०
पञ्चविंशाधिकशतम्	भाग.पुरा.११।६।२५	२७८
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो	भग.गीता.९।२६	५४
परन्तप	भग.गीता.११।५४	१९

परमं साम्यम् उपैति इति	न्या.सि.मु.	५५
परमापदम् आपन्नो हर्षे	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४	९१, ३३६,
	एकादशीनिर्णय	३४३
परमेष्ठिनो वा एषः यज्ञो अग्रे	तैत्ति.संहि.१।६।९।२	५२
परार्ध्याग्रप्राग्रहर	अम.को.३।१।५८	१८३, २४३
परावरेषाम्	भाग.पुरा.३।५।१०	३०१, ३०२
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये	भाग.पुरा.२।१।९	४५
पर्जन्यः शतवर्षाणि	भाग.पुरा.१२।४।७	१४०
पवित्रारोपणं विष्णोः	विष्णुरहस्य / रामार्चनचन्द्रिका	३५०
पश्यन्ति ते मे	भाग.पुरा.३।२५।३५	१७६
पादोदकं पिबेत् नित्यं	गरु.पुरा.	३३
पारणान्तं व्रतं ज्ञेयं	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४	३४५
	जयन्तिनिर्णय	
पितृशेषन्तु यो दद्याद्	स्कन्दपुरा.	५४
पुनाति भुवनत्रयम्	भाग.पुरा.१०।४४।६३	१९
पुराणन्यायमीमांसा-	याज्ञ.स्मृ.१।३	१७२
धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः		
पुरुषएव इदं सर्वं यद्	ऋक्.संहि.१०।९०।२	५३,
		१३६,१९५,
		२१३
पुरुषेण आत्मभूतेन वीर्यम्	भाग.पुरा.३।५।२६	३०७
पुष्टिः अत्र द्विरूपा	त.दी.नि.३।६।६४-६५	१६
पूर्णप्रेमास्पदी राधा	कृष्णोप.	३६
पूर्णमेव अवशिष्यते	बृह.उप.१।१।१	६६
पूर्वकालैक	पाणि.सू.२।१।४८	४८
पूर्वम् अन्यथाकरणेऽपि	त.दी.नि.प्र.२।२४५	३४१
प्रकाशनस्थेयाख्ययोः च	पाणि.सू.१।३।२३	२३६
प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः	भग.गीता.९।१२	९८
प्रकृतेः क्रियमाणानि	भग.गीता.३।२७	१३७
प्रजापतिः वै यज्ञः	कौषी.ब्राह्म.१३।१	२५५

प्रजायेय	तैत्ति.उप.२।६	१२८
प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः	भाग.पुरा.७।९।११	१२१
प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थो	द्रष्ट.पाणि.व्या.परि.६१	३६
प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः	भग.गीता.१६।१८	२२
प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये	ऋक्.संहि.खि.सू.७।२	६८
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	भग.गीता.१६।७	२२, २८
प्रश्नत्रये अथ सम्पन्ने	त.दी.नि.३।१।७१	२९८
प्रसंगम् अजरं पाशम्	भाग.पुरा.३।२५।२०	९२
प्रायश्चित्तं पातकादीनाम्	त.दी.नि.प्र.२।३७	५९
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि	भाग.पुरा.६।१।१८	५०
प्रीयते अमलया भक्त्या	भाग.पुरा.७।७।५२	१८
प्रेमसेवातः	त.दी.नि.२।९२	३६
फलम् अतः उपपत्तेः	ब्र.सू.३।२।३८	५३
फलवत्सन्निधौ अफलं तद् अंगम्	जै.पू.मी.सू. ४।४।७	१९
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या	भाग.पुरा.१०।१७।४८	६२
बहु स्यां प्रजायेय	तैत्ति.उप.२।६	२८७
बहुलं छन्दसि	पाणि.सू	९५
बहूनां जन्मनाम् अन्ते	भग.गीता.७।१९	१४३
बहूनि सन्ति नामानि	भाग.पुरा.१०।८।१५	६५
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा	तैत्ति.उप.२।५	१८०
ब्रह्म मां परमं प्रापुः	भाग.पुरा.११।१२।१३	२५०
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति	मुण्ड.उप.३।२।९	५५
ब्रह्मघ्नो वा अथ गोघ्नो	पद्मपुरा.	२२९
ब्रह्मविद् आप्नोति परम्	तैत्ति.उप.२।१	६८, ३००
ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वम् एति	छान्दो.उप.२।२३।१	२०
ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानो	लिंगपुरा.२।३।१०४	१७१
'भक्ति'शब्दस्य प्रत्ययार्थः	त.दी.नि.प्र.२।९२	३६
भक्तिं लब्धवतः साधोः	भाग.पुरा.११।२६।३०	१८, १००
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा	भाग.पुरा.११।१४।२१	३१
भक्तिजनिकां संहिताम्	सुबो.१।१।१	३१६

भक्तिमार्गीयभक्तकृत	भ.हं.	१७
भक्तियोगः पुरैव उक्तः	भाग.पुरा.११।१९।१९-२४	९३
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैः	भाग.पुरा.३।२९।७	८४
भक्तिवत् च स्वतन्त्रं शास्त्रं	सुबो.१।१।का.१	३१७
भक्तौ च न	भ.हं.	४६
भक्त्या तु अनन्यया शक्यः	भग.गीता.११।५४	२१९
भक्त्या तुतोष भगवान्	भाग.पुरा.७।९।९	३०४
भक्त्या माम् अभिजानाति	भग.गीता१८।५५	१८, ५६
भक्त्यातु अनन्यया शक्यः	भग.गीता.११।५४	१८, ५८
भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति	महाभा.ता.नि.१।११६	११६, १७६, २५८, ३०४
भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त	भाग.पुरा.५।६।१७	९५
भगवान् एक आस	भाग.पुरा.३।५।२३	२६४, ३०८, ३२५, ३२६
भजति मां सर्वभावेन	भग.गीता.१५।१९	११
भद्रं कर्णेभि:	ऋक्.संहि.१।८९।८	१६९
भवद्विधाः भागवताः	भाग.पुरा.१।१३।१०	५०
भवापवर्गो भ्रमतो यदा	भाग.पुरा.१०।४८।५३-५४	९९
भार्या पत्युः मतेनैव	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३७
भार्यादिः अनुकूलः चेत्	त.दी.नि.२।२३१	७९
भावे	पाणि.सू.३।३।१८	३६,३८
भिद्यते हृदयग्रन्थिः	मुण्डकोप.२।२।८	३१३
भिन्नैव काचित् सा सृष्टिः	वाराहपुरा.	२१
'भू'=सत्तायाम्	पाणि.सूधा.पा.भ्वादि.१।१	१९४
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग:	भाग.पुरा.२।१०।३	२६०
भूयिष्ठान् ते नम उक्तिं विधेम	ईशा.उप.१८	६८
भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं	न्या.सि.मु	५५

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानम्	भाग.पुरा.११।११।३५	३१
मत्कर्म कुर्वतां पुंसां		४१
मत्कर्मपरमो भव मदर्थमपि	भग.गीता.१२।१०	८९
मत्तः परतरं न अन्यद्	भग.गीता.७।७	२१३
मत्स्य-कच्छप-मण्डूकाः	बृह.यो.याज्ञ.स्मृ.परि.१।९१	५०
मद्भक्तपूजा अभ्यधिका	भाग.पुरा.११।१९।२१	९२
मद्भक्ताः यान्ति मामपि	भग.गीता.७।२३	१६, २२०
मद्यपानाद्, मुनिश्रेष्ठ!	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३७
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः	भग.गीता.१४।१८	१६३
मन्त्रपूतं जलं पिबेद्	ब्रह्मवै.पुरा.४।७८।६१	२७७
मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्	भाग.पुरा.११।२५।२४	९८
मन्मना भव	भग.गीता.९।३४,१८।६५	२६, ५६
मन्मना भव मद्भक्तो	भग.गीता.१८।६५	८९, २५०
मन्ये धनाभिजनरूपतपः	भाग.पुरा.७।९।९	९०
ममाग्ने वर्चो विहवेषु अस्तु	बोधा.श्रौ.सू.१०।५५	३९
मयड्वैतयोः भाषायाम्	पाणि.सू.४।३।१४३	२०४
मयि आवेश्य मनो ये माम्	भग.गीता.१२।२	१८, १४३
मय्यजे	भाग.पुरा.११।२४।२७	१४०
मर्त्यलोकं जिहासता	भाग.पुरा.३।४।२६	२९१
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः	भाग.पुरा.१०।३।२७	७२
मल्लिंग-मद्भक्तजन	भाग.पुरा.११।११।३४	५, ७
महतां मधुद्विट्सेवा	भाग.पुरा.५।१४।४४	४५
महद्विचलनं नृणाम्	भाग.पुरा.१०।८।३	९९
महर्षयः लेभिरे तपसा	महाभा.१२।२१०।१९	२००
महस्ते विष्णो सुमतिं	ऋक्.संहि.१।१५६।३	९८
महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु	नारदपञ्चरात्र	२२२
मह्यम्	भाग.पुरा.३।५।१६	३०१, ३०२
मां च यो अव्यभिचारेण	भग.गीता.१४।२६	१३०

मां चैव अन्त:शरीरस्थम्	भग.गीता.१७।६	२३७
मात्स्यं कौर्मं तथा लैंगं	पद्मपुरा.६।२३६।१७-२१	१६२
मानाधीना मेयसिद्धिः		२४५
मामेव ये प्रपद्यन्ते	भग.गीता.७।१४	१२०, १६३, २५०
माया इति असुराः	मुद्गलोप.३	१२८
मायां तु प्रकृतिं विद्याद्	श्वेता.उप.४।१०	१२८
मासि ज्येष्ठे च सम्प्राप्ते नक्षत्रे	ब्रह्मपुरा.६२।३	३४९
मासि भाद्रपदे शुक्ला	भवि.पुरा.४।७५।२	३४४
मिथ्याचारः स उच्यते	भग.गीता.३।६	२८१
मिथ्यादृष्टि: नास्तिकता	अम.को.१।५।४	१२८
मुकुन्दाशनशेषन्तु यो	द्रष्ट.स्कन्दपुरा.७।४।४३।५	३३
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्	ब्र.सू.१।३।२	२६८
मूलप्रकृतिः अविकृतिः	सां.का.३	१४०
मृत्तिका इत्येव	छान्दो.उप.६।१।४	१३२
मोक्षदशायाम् अज्ञाननिवृत्तौ	न्या.सि.मु.	५५
य एवं वेद इति उपनिषद्	तैत्ति.उप.२।१०	३००
य: तर्केण अनुसन्धत्ते	मनुस्मृ.१२।१०६	१७३
यः कश्चिद् वैष्णवो	गरु.पुरा.१।२२७।१९	३१
यः ते आशिषः आशास्ते	भाग.पुरा.७।१०।४	८६
यः पश्यति तृतीयायां	ब्रह्मपुरा.६०।२१	३४८
यः पृथिव्यां तिष्ठन्	बृह.उप.३।७।३	१२५
यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं	स्कन्दपुरा.७।४।४३।७	५४
यः सर्वज्ञः	मुण्डकोप.१।१।९	६७
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः	द्रष्ट.मुण्डकोप.१।१।९	११२, २६८
यच्चापि सर्वभूतानां बीजम्	भग.गीता.१०।३९	३११
यज्ञाः तीर्थानि च	महाभा. द्रष्ट. त.दी.नि.२।२४८	२८१
यज्ञो दानं तपश्चर्या	पद्मपुरा.६।२२५।१०	२३१
यज्ञो वै विष्णुः	तैत्ति.संहि.१।७।४।४	१७५

यतो अप्राप्य न्यवर्तन्त	भाग.पुरा.३।६।४०	२६५
यत् करोषि यद् अश्नासि	भग.गीता.९।२७	८८
यत् कर्मभिः यत् तपसा	भाग.पुरा.११।२०।३२	१८, ४४
यत् पुरुषं व्यदधुः	ऋक्.संहि.१०।९०।११	२५५
यत्पादपंकज	भाग.पुरा.१०।३०।३५	९९
यत्र मित्रासुतो मुनिः	भाग.पुरा.३।४।३६	२९१
यथा एकेन मृत्पिण्डेन	छान्दो.उप.६।१।४	१३२
यथा कालो रूपम् अक्षरस्य	त.दी.नि.प्र.२।११०	१७७
यथा जलौकसां/समस्तलोकानां	बृह.नार.पुरा.४।४	४४
यथा भैषज्यरोचनम्	भाग.पुरा.११।२१।२३	१५४
यथा ससर्ज अग्रे	भाग.पुरा.३।५।५-६	२९७
यथा सारथि रथी	त.दी.नि.प्र.२।१२१	६९
यदा एनम् एतेन विवेकहेतिना	भाग.पुरा.१२।४।३४	१४०
यदा न प्राप्यते ऋक्षं	नार.पुरा.	३४६, ३५०
यदा यस्य/यम् अनुगृह्णाति	भाग.पुरा. ४।२९।४६	१९
यदि इच्छसि भवक्षयम्		३१७
यदि इच्छेद् विपुलान्	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३८
यदि इच्छेद् विष्णुसायुज्यं	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३७
यदुपतिः द्विरदराजविहारो	भाग.पुरा.१०।३२।२५	६७
यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति	भग.गीता.८।११	६
यद् अव्यक्तं न विदितं	महाभा.१२।३०६।१०१	२३४
यद् अस्ति यद् न अस्ति	विष्णुपुरा.२।१२।३८	१२१
यद् न दुःखेन सम्भिन्नं नच		३८
यद् यद् धिया	भाग.पुरा.३।९।११	३२४
यद्यद् आचरति श्रेष्ठः	भग.गीता.३।२१	५७
यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं	भग.गीता.१०।४१	६९
यद्यपि देवता विग्रहवती	शास्त्रदीपिका९।१।६	५३
यन्मर्त्यलीलौपयिकम्	भाग.पुरा.३।२।१२	२८४

यमनियमविधूतकल्मषाणाम्	विष्णुपुरा.३।७।२६	२१८
यमादिभिः योगपथैः	भाग.पुरा.१।६।३६	४३
यमेव एषो वृणुते	मुण्डकोप.३।२।३	५८
यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं	भग.गीता.१८।३१	१९८
यशःस्वान् उद्धरेत् कृष्णो		९७
यसु प्रयत्ने	पाणि.धा.पा.दिवा.१२३५	७६
यस्मात् क्षरम् अतीतो	भग.गीता.१५।१८	९८
यस्मिन् विदिते सर्वमिदं	छान्दो.उप.६।४।१	११५
यस्य आज्ञया जगत् सर्वं	नार.पुरा.१।३३।८	८
यस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत	स्कन्दपुरा.२३।।	२३१
यस्य देवे परा भक्तिः	श्वेता.उप.६।२३	२२२
यस्य साक्षाद् भगवति	भाग.पुरा.७।१५।२६	२२२
यस्य स्मृत्या	नार.पुरा.१।१७।१०८	५२
यस्यां वै श्रूयमाणायाम्	भाग.पुरा.१।७।७	२२६
याः काश्चित् तिथयः	विष्णुपुरा.	३४६
यानि ईश्वर: कीर्तय तानि	भाग.पुरा.३।५।१६	२९५, २९९, ३००, ३०३
यानि कानि च पापानि	द्रष्ट.नार.पुरा.१।२३।८	३३७
यान् आस्थाय नरो	भाग.पुरा.११।२।३५	४२
यान्ति मद्याजिनोऽपि मां	भग.गीता.९।२५	९२
याम् इमां पुष्पितां वाचं	भग.गीता.२।४२	१५१
यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति		२२८
यावत् कीर्तिः मनुष्याणां		१७२
ये तु इह आसक्तमनसः	भाग.पुरा.३।३२।१६	९१
ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान्	भाग.पुरा.९।४।६५	७०
ये निरुद्धाः तएव अत्र मोदम्	नि.ल.११	३०२
ये भजन्तितु मां भक्त्या	भग.गीता.९।२९	१८, २६, ८३
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान्	भग.गीता.४।११	२५, ७०, ८६
येऽपि अन्यदेवताभक्ताः	भग.गीता.९।२३	९२
येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं	भग.गीता.१२।३	६, ५९

येन प्रजानाम्	भाग.पुरा.३।५।९	२९५
येन स्यात् सृष्टिः एषा उत्तरोत्तरा	पद्मपुरा.६।७१।१०७	१५३
यैः तत्त्वभेदैः...येन प्रजानाम्	भाग.पुरा.३।५।८	२९५, २९७, ३००
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	श्वेता.उप.६।१८	३११
यो मद्भक्तः स मे प्रियः	भग.गीता.१२।१४	१८, २५०
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम्	भाग.पुरा.३।२९।२२	७
यो माम् एवम् असम्मूढः	भग.गीता१५।१९	९९
यो मे भक्त्या प्रयच्छति	भग.गीता.९।२६	२७९
यो लोकत्रयम् आविश्य	भग.गीता.१५।१७	२६३
योगिनामपि	भग.गीता.६।४६-४७	२४९
योगो दानं तपो होमः	ब्रह्मपुरा.	२३१
रटन्ति इह पुराणानि	द्रष्ट.नार.पुरा.२।२४।२३-२४/पद्मपुरा.६।२३४।११	३३७
रतिः देवादिविषया भावः		८३
रथी युयोज अविधुरां वधूमिव	शिशुपालवध१२।८	१८७
रसं हि एव अयं लब्ध्वा	तैत्ति.उप.२।७	१००
रहूगण एतत् तपसा न	भाग.पुरा.५।१२।१२	५८
राजन् त्वया अनुपृष्टानाम्	भाग.पुरा.१।१५।२२	२८३
राजन्! पतिः गुरुः	भाग.पुरा.५।६।१८	७१
राजवत् कुत्रचित् कृष्णः	त.दी.नि.२।३२२	२७३
राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्		२१२
रूपम् आरोग्यम् अर्थान्		४४
रोचनार्था फलश्रुतिः	भाग.पुरा.११।३।४६	१५४
लयः प्राकृतिको हि एषः	भाग.पुरा.१२।४।२२	१४०
लववेधेऽपि विप्रेन्द्र!	नार.पुरा.२।२।३८	३३९
लोकवत्तु लीला कैवल्यम्	ब्र.सू.२।१।३३	९८
लोकान् साधु अनुगृह्णता	भाग.पुरा.३।५।१८	३०३, ३०४
लौकिकानां वैदिकानां च	पातं.महाभा.१।१।१	२०४

वरणेच अस्ति प्रकारद्वयं	भ.हं.	१७
वर्णाश्रमवतां धर्मः एषः	भाग.पुरा.११।१८।४७	९०
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण	गरु.पुरा.१।२२९।७	७६, ९०
वशे/वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या	भाग.पुरा.९।४।६६	१९
वषट्कारो वै गायत्रियै	तैत्ति.संहि.३।५।७।१	२११
वसति मनसि यस्य सो	विष्णुपुरा.३।७।३४	७२
वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान्	भाग.पुरा.१०।१।२३	६३
वसुदेवस्य देवक्याम्	भाग.पुरा.३।२।२५	२८९
वह्निनैवतु संयुक्तं चक्रमादाय		२२७
वाचं जुहाव मनसि	भाग.पुरा.१।१५।४१	१४१
वाचम् अग्नौ सवक्तव्याम्	भाग.पुरा.७।१२।२६	१४०
वाचारम्भणं विकारः	छान्दो.उप.६।१।४	१२८
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः	भाग.पुरा.३।१।४५	२८२, २८९
विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म	बृह.उप.३।९।२८	३५, ६४, ६६
विदितोऽसि भवान् साक्षात्	भाग.पुरा.१०।३।१३	६३
विदुरोऽपि उद्धवात् श्रुत्वा	भाग.पुरा.३।४।३३	२९१
विद्धि मायामनोमयम्	भाग.पुरा.११।७।७	१३१
विद्याञ्च अविद्याञ्च	ईशा.उप.१।११	१३०
विधिहीनं भावदुष्टं	बृह.यो.या.स्मृ.परि.१।१०९	५०
विप्राद् द्विषड्गुणयुतात्	भाग.पुरा.७।९।१०	३१, ९०
विभूतेः विस्तरो मया	भग.गीता.१०।४०	२६४
विरक्तो विपरीतादिभावनारहितः	त.दी.नि.२।३२८	३२३
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था	भाग.पुरा.३।५।२२	२९६
विष्णोः निवेदितान्नेन		३२, ५४
वीणावादनतत्त्वज्ञः	याज्ञ.स्मृ.३।११५-११६	१७१
वृक्षमूलम् उपाविशद्	भाग.पुरा.३।४।३	२८५, २९१
वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव	भ.हं.	८६
वृन्दावनं गोवर्धनं	भाग.पुरा.१०।११।३६	६६
वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम्	शु.य.सं.३१।१८	२५५

वेदगर्भो अथ यथा अस्राक्षीद्	भाग.पुरा.३।१२।१	२६४
वेदवादरताः पार्थ!	भग.गीता.२।४२	१५१, १५३
वेदाक्षराणि यावन्ति	ना.उ.ता.उप.३	२००
वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः	भग.गीता.१५।१५	२०५
वेदो नारायणः साक्षात्	भाग.पुरा.६।१।४०	२०
वेशन्तीभ्यः स्वाहा	तैत्ति.संहि.७।४।१३	८९
वैकारिकाद् मनो जज्ञे	भाग.पुरा.२।५।३०	१८९
वैकुण्ठः कल्पितो येन	भाग.पुरा.८।५।५	१८९
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	ब्र.सू.२।२।२९	१३३
वैशाखस्य तृतीयायां	भवि.पुरा.१०१।१९	३४८
वैष्णवानां ब्राह्मणानाम्	स्कन्दपुरा.	२३०
वैष्णवे तुलसीमाला	पुरश्चरणचन्द्रिका	२३०
व्यज्य इदं ... कञ्जनाभः	भाग.पुरा.३।९।४४	३०९
व्रजपुरवनितानां वर्धयन्	भाग.पुरा.१०।८७।४८	२६९
शङ्ख-चक्रं मृदा यस्तु		२२७
शङ्खचक्राङ्कितततनुः	द्रष्ट. स्कन्दपुरा.४।१।२१।६४	२२९
शङ्खादिचिह्नरहितः		२२७, २२८
शतायुः वै पुरुषः	श.प.ब्रा.१२।७।२।१३	२७९
शयन-बोधिनीमध्ये या	द्रष्ट.ब्रह्मवै.पुरा.४।२६।३९	३४२
शापाद् वर्षशतं यमः	भाग.पुरा.१।१३।१५	२७७
शुक्लपक्षचतुर्दश्यां मासि	गोविन्दार्णव	२३२, ३५१
शुक्ला चतुर्दशी ग्राह्या	प्रतापमार्तण्ड	२३२
शुक्ला चतुर्दशी ग्राह्या	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ चतुर्दशीनिर्णय	३५१
शुभिके शिरे आरोह	बोधा.श्रौ.सू.१७।४२	३९
शूद्रात् शूद्रयां समुत्पन्नः	मनुस्मृ.	२७८
शृण्वतां स्वकथा	भाग.पुरा.१।२।१७	३०५
शृण्वन् गृणन् संस्मरयन् च	भाग.पुरा.१०।२।३७	४०
शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा	ब्रह्माण्डपुरा.	२४१
श्रद्धाविधिसमायुक्तं	बृह.यो.याज्ञ.स्मृ.परि.१।११४	५०

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः	भाग.पुरा. ७।५।२३-२४	९३
श्रवणर्क्षसमायुक्ता द्वादशी	मार्क.पुरा.	३४५
श्रवणादिनवकमपि	भ.हं.	८५
श्रवणेन सिते यत्र द्वादशी	यमसंहि.	३४७
श्रावणस्य सिते पक्षे कर्कटस्थे	हेमाद्रि/विष्णुरहस्य	३४९
श्रिया पुष्ट्या गिरा	भाग.पुरा.१०।३९।५५	११७
श्रुतं द्वैपायनमुखाद्	भाग.पुरा.६।१४।९	११२
श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे	हारि.स्मृ.१।२५	१६१
श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे	वाधू.स्मृ.१९५	२६, ५९, ७६
श्रेयःस्रुतिं/श्रेयःसृतिं	भाग.पुरा.१०।१४=प्र.३।४	४३, ९०
श्रेयांसि बहुविघ्नानि	गरु.पुरा.२।२१।९	६८
षोढा विहितो पुरुषः	तैत्ति.संहि.५।६।९।१	१४८, १५५
स आत्मा	छान्दो.उप.६।८।७	१२२
स आत्मानं स्वयम् अकुरुत	तैत्ति.उप.२।७	१२८
स इमान् लोकान् असृजत	ऐत.उप.१।२	१३५
स ईक्षाञ्चक्रे	प्रश्नोप.६।३	१३५
स एषः जीवः	भाग.पुरा.११।१२।१७	१९९
स ऐक्षत लोकानुसृजा	ऐत.उप.१।१	१३५
स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो	स्कन्दपुरा.	२
स जहाति मतिं लोके वेदे	भाग.पुरा.४।२९।४६	२०
स जातो अत्यरिच्यतः	ऋक्.संहि.१०।९०।५	२५५
स ज्ञानक्रियोभययुतः	त.दी.नि.प्र.२।२२०	४७
स तपो अतप्यत	प्रश्नोप.१।४	१३६
स त्वं त्रिलोकस्थितये	भाग.पुरा.१०।३।२०	३०३
स प्राणम् असृजत	प्रश्नोप.६।४	१३५
स भूतं स च भव्यम्	महाना.उप.२४।१	१२८, १९५, २१३
स यथा सैन्धवघनः	बृह.उप.४।५।१३	६४, ६७
स विश्वजन्मस्थिति	भाग.पुरा.३।५।१६	२९५, ३००
स वै निवृत्तिधर्मेण	भाग.पुरा.३।७।१२	३१०, ३३३

स वै नैव रेमे	बृह.उप.१।४।३	२१, ११७
स वै सर्वम् इदं जगत्	महाना.उप.२३।१	१९५, २१३, २४८
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः	मनुस्मृ.२।१०३	२२७
स ह एतावान् आस	बृह.उप.१।४।३	४
संसारसागरोत्तारम् इच्छन्	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३३८
संसारावेशदुष्टानाम्	नि.ल.१२	३२
संस्पृश्य एकादशीं राजन्	नार.पुरा.	३४६
संहृत्य स्वकुलम्	भाग.पुरा.३।४।२९	२८४
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति	रामा.६।१८।३३	७०, ८०
सक्क्यासयोगाद् यतयः	महाना.उप.१०।६	२५७
सक्ताः कर्मणि अविद्वांसो	भग.गीता.३।२५	२६
सतां प्रसंगात् मम वीर्यसंविदः	भाग.पुरा. ३।२५।२५	९२
सत्त्वं न चेद् धातः	भाग.पुरा.१०।२।३५	१९८
सत्त्वं रजस्तम: इति प्रकृतेः	भग.गीता.१४।५	१२६
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं	भग.गीता.१४।२७	१९७, १९८
सत्यं शौचं दया क्षान्तिः	भाग.पुरा.१।१६।२६	१२४
सत्यश्च अनृतश्च सत्यम् अभवद्	तैत्ति.उप.२।६	१२७, १२८
सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीत्	छान्दो.उप.६।२।१	१२२, १३५, १७९
सप्तमीसमर्थाद् 'इव'अर्थे वति	पाणि.सू.५।२।११६	१४९
समात्मा सर्वजीवेषु निजाचाराद्	द्रष्ट.कालमाधव	९१
समासेनैव	भग.गीता.१८।५०	२५०
समो मशकेन समो नागेन	बृह.उप.१।३।२२	१२१, २८७
सम्पूर्णा एकादशी यत्र	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४१, ३४२
सम्पूर्णा एकादशी यत्र	पद्मपुरा.४।१५।३७-३८	३४२

सम्प्रकृते रजसि	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४३
सर्गः अस्य अथ	भाग.पुरा.१२।७।९	१६७
सर्गः कारणसम्भूतिः	ह.ली.३।१	२५४, २६२, २९३
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	छान्दो.उप.३।१४।१	४, २४८
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो	भाग.पुरा.११।२०।३३	१८
सर्वगुह्यतमं भूयः	भग.गीता.१८।६४	२५०
सर्वजनसिद्धत्वाद्	न्या.सि.मु.	५६
सर्वत्र विभाषा गोः	पाणि.सू. ६।१।१२२	२०४
सर्वद्वारेषु देहे अस्मिन्	भग.गीता.१४।११	१९८
सर्वधर्मान् परित्यज्य	भग.गीता.१८।६६	४२, २५०
सर्वमनुष्याः विष्णुना		५४
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं	भाग.पुरा.१।३।४२	३११
सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः	बृह.उप.४।४।२२	५३
सर्वातिरिक्तरूपेण नरः	त.दी.नि.३।४।३३	६३
सर्वाभ्यः स्वाहा	तैत्ति.संहि.७।४।१२	८३
सर्वेण गांगेन जलेन	द्रष्ट.शिवपुरा.५।२३।२१	४९
ससर्ज अग्रे	भाग.पुरा.३।१२।२	२९५
सहबलः स्रगवतंसविलासः	भाग.पुरा.१०।३२।१२	६६
सहि तत्त्वतो ज्ञातः		२४७
सा इयं भगवतो माया	भाग.पुरा.३।७।९	३०८, ३२५, ३२९
सा एषा आनन्दस्य	तैत्ति.उप.२।८	६०
सा परानुरक्तिः ईश्वरे	शा.भ.सू.१।१।२	१७
सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः	सुबो.१०।१।२४।का.१	३१८
साधु पृष्टम्	भाग.पुरा.३।५।१८	३०५
साधुभिः भाषितव्यं न		२०४
सान्तरालम् ऋजुं सौम्यं	नारदपञ्चरात्र	२३०
सामान्येन विशेषेण	त.दी.नि.३।३।२२	२८८

सायम् आद्यन्तयोः अहनोः	देव.स्मृ.	३३८
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य	भाग.पुरा.३।२९।१३-१४	९६
सुखाय कर्माणि करोति लोकः	भाग.पुरा.३।५।२	२९४, २९६, २९८, ३०२
सुखिनि सुखनिधानं दुःखितानां	संगीतभाष्य रागरागिणीस्वरूपाणि	१७१
सूतके च नरः स्नात्वा	द्रष्ट.कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	३४३
सृष्ट्वा अग्रे महदादीनि	भाग.पुरा.३।७।२१	२६४
सेवनात् कृष्णदेवस्य	त.दी.नि.३।३।२४	२९२
सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय	तैत्ति.उप.२।६	२१, १३५, १९२
सो अहं नृणाम्	भाग.पुरा.३।१।४२	२८२
सो अहं वः श्रावयिष्यामि	भाग.पुरा.१।३।४५	३१३
सौम्य! अनुशोचे तम्	भाग.पुरा.३।१।४१	२८२
स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः	जै.पू.मी.सू.१।२।७	१३३
स्त्री स्यात् काचित्	अम.को.३।५।७	१८७
स्नेहाद् रागविनाशः	भ.व.४-५	१००
स्पर्शादिचतुरो वेधाः सुप्रसिद्धाः		३४१
स्मर्तव्यः सततं विष्णुः	पद्मपुरा.६।७१।१००	४६
स्मृते सकलकल्याणभाजनं	विष्णुपुरा.५।१७।१७	४६
स्मृतेश्च	ब्र.सू.४।३।१२	१५६
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य	भाग.पुरा.११।५।४२	४१
स्वपुरुषम् अभिवीक्ष्य पाशहस्तं	नृसिंहपुरा.९।१	२२०
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः	त.दी.नि.२।६१	१६५
स्वयम् आत्मानम् आत्मना	भाग.पुरा.६।७।१०	३१४
स्वयम्भूः एषः भगवान्	देवीपुरा.१०७।१	२०, २००
स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः	भाग.पुरा.११।१९।४२	१४८
स्वस्ति मे अस्तु वनस्पते	एकाग्निकाण्ड १।१४।७	६८
हरिम् ईजे समाधिना	भाग.पुरा.३।४।३२	२९१
हरिरेव जगद्	मध्वकृतद्वा.स्तो.३।१	१२८

ग्रन्थसंकेतसूची

अग्निपुरा	अग्निपुराणम्
अध्यात्मोप.	अध्यात्मोपनिषद्
अम.को.	अमरकोश
आदि.पुरा.	आदित्यपुराणम्
आपस्त.धर्मसू.	आपस्तम्बधर्मसूत्र
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषद्
ऋक्.संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऋक्सं.खि.सू.	ऋग्वेदसंहिताखिलसूत्रम्
एकाग्निकाण्ड	एकाग्निकाण्डम्
ऐत.उप.	ऐतेरियोपनिषद्
कठोप.	कठोपनिषद्
कात्या.स्मृ.	कात्यायनस्मृति
कालमाधव प्र.४ एकादशीनिर्णय	कालमाधव प्रकरण ४
कृष्णोप.	कृष्णोपनिषद्
कौषी.उप.	कौषीतकिउपनिषद्
कौषी.ब्राह्म.	कौषीतकिब्राह्मणम्
खंड.खं.खा.	खंडनखंडखाद्य
गरुडपुरा.	गरुडपुराणम्
गो.पू.ता.उप.	गोपालतापिन्युपनिषत्
गोपीचन्दनोप.	गोपीचन्दनोपनिषद्
गोविन्दार्णव	गोविन्दार्णवः
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
जै.पू.मी.सू.	जैमिनीपूर्वमीमांसासूत्रम्
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः
तैत्ति.आर.	तैत्तिरीयआरण्यकम्
तैत्ति.उप.	तैत्तरीयोपनिषद्
तैत्ति.ब्राह्म.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तैत्ति.संहि.	तैत्तिरीयसंहिता
तैत्ति.संहि.साय.भा.	तैत्तिरीयसंहितासायनभाष्यम्

त्रिपु.उप.	त्रिपुरोपनिषद्
देवीपुरा.	देवीपुराणम्
ना.उ.ता.उप.	नारदोत्तरतापनीयोपनिषद्
नार.पुरा.	नारदपुराणम्
पद्मपुरा.	पद्मपुराणम्
नि.ल.	निरोधलक्षणम्
निरो.लक्ष.	
नृसिंहपुरा.	नृसिंहपुराणम्
न्या.सि.मु	न्यायसिद्धांतमुक्तावली
न्यायकुसु.	न्यायकुसुमांजली:
पञ्चश्लो.	पञ्चश्लोकी
पाणि.सू	पाणिनिसूत्रम्
पाणि.सू.धा.पा.भ्वादि.	पाणिनिसूत्रधातुपाठ: भ्वादि गण:
पाणि.धा.पा.दिवा.	पाणिनिसूत्रधातुपाठ: दिवादि गण:
पाणि.शिक्षा	पाणिनीयशिक्षा
पाणि.सू.सि.कौ.	पाणिनिसूत्रसिद्धांतकौमुदी
पातं.महाभा.	पातंजलमहाभाष्यम्
प्रश्नोप.	प्रश्नोपनिषद्
प्रेमा.टी.	प्रेमामृतं टीका
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृह.नार.पुरा.	बृहद्नारदीयपुराणम्
बृह.यो.या.स्मृ.	बृहद्योगीयाज्ञवल्क्यस्मृति:
बोधा.श्रौ.सू.	बोधायनश्रौतसूत्रम्
ब्र.बि.उप.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.शां.भा.भा.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यभामती
ब्रह्मपुरा.	ब्रह्मपुराणम्
ब्रह्मवै.पुरा.	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
ब्रह्मा/ब्रह्माण्ड.पुरा.	ब्रह्माण्डपुराणम्

भ.व.	भक्तिवर्धिनी
भ.हं.	भक्तिहंसः
भग.गीता.	भगवद्गीता
भवि.पुरा.	भविष्यपुराणम्
भाग.पुरा.	भागवतपुराणम्
भृगु.संहि.	भृगुसंहिता
मत्स्यपुरा.	मत्स्यपुराणम्
मध्वकृतद्वा.स्तो.	मध्वकृतद्वादशस्तोत्राणि
मनुस्मृ.	मनुस्मृतिः
महाना.उप.	महानरायणोपनिषद्
महाभा.ता.नि.	महाभारततात्पर्यनिर्णयः
महासुभा.संग्रह	महासुभाषितसंग्रहः
मार्क.पुरा.	मार्कण्डयपुराणम्
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
मुद्.उप.	मुद्गलोपनिषद्
मैत्राय.उप.	मैत्रायणी उपनिषद्
यमसंहि.	यमसंहिता
याज्ञ.स्मृ.	याज्ञवल्क्यस्मृतिः
रामा.	रामायणम्
लिंगपुरा.	लिंगपुराणम्
वसि.स्मृ.	वशिष्ठस्मृतिः
वाधू.स्मृ.	वाधूलसमृतिः
वायुपुरा.	वायुपुराणम्
वारा.पुरा.	वराहपुराणम्
विष्णुध.उत्त.पुरा.	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
विष्णुरहस्य	विष्णुरहस्यम्
या.वै.को.	यादावाचार्यकृत वैजयंती कोश
श.प.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
शा.भ.सू.	शांडिल्यभक्तिसूत्रम्

शिवपुरा.	शिवपुराणम्
शुक्लयजु.	शुक्लयजुर्वेदसंहिता
श्वेता.उप.	श्वेताश्वेतरोपनिषद्
सां.का.	सांख्यकारिका
सांख्याय.आर.	सांख्यायन आरण्यक
सिद्धा.मुक्ता.	सिद्धांतमुक्तावली
सुबो.का.	सुबोधिनीकारिका
स्क.पुरा.	स्कन्दपुराणम्
ह.ली.	हरिलीला अमृतम्
हारि.स्मृ.	हारितस्मृतिः
हेमाद्रि	हेमाद्रि



हौं व्रज माँगनों जु व्रज तज अनत न जाऊँ।
बड़ड़े भूपति भूतल महियाँ दाता सूर सुजान।
कर न पसारौं सीस न नाऊँ या व्रजके अभिमान।।
सुरपति नरपति नागलोकपति मेरे रंक समान।
भाँति-भाँति मेरी आशा पूरी या व्रजके जिजमान।।
मैं व्रत करि कुलदेव मनाये अपनी घरनी संयूत।
दियो है बिधाता सब सुखदाता गोकुलपतिके पूत।।
हों अपनों मन भायो लेहौं कित बौरावत बात।
ओरन्कौं धन घन ज्यों बरसत मोहि देखि हँसी जात।।
अष्टसिद्धि नवनिधि मेरे मंदिर तुव प्रताप व्रजईश।
कहेत 'कल्याण' मुकुंद तात करकमल धरो मम शीश।।